गोभिलगृह्यसूत्रम् ।

गोभिलाचार्य्येणप्रणीतम्

सामवेदस्य कौथुमिशाखाया
गृह्यकर्मप्रतिपादकम् ।
श्रीपं०सत्यव्रतसामश्रमिणोव्याख्ययाऽलङ्कृतम् ।
क्षत्रियकुमारेण श्रीमद्-उदयनारायण वर्मणा
नागरीभाषयाऽनुवादितम् ।

तच्च

मधुरापुरस्थ शास्त्रप्रकाश कार्य्यालये
(डा० बिदूपुर, मुज़फ़्फ़रपुर)
नाम्निस्थाने प्रकाशितम् ।
संवत् १९६३ सन् १९०६ ई० ।

THE

GRIHAYA SUTRAS OF GOBHIL

With

SANSKRIT COMMENTARY OF
PANDIT SATYAVARTA SAMASHRAMI

Translated into Nagari and published—by
Kshatriyakumar—Udaya Narain singh, shastra
Publishing office Madhurapur, Bidhupur,
Mozaffarpur.

Printed at Brahma Press Etawah.

मूल्य २॥)

स्वत्वमायत्तीकृतम् ।

"यद्भद्र तन्न आसुव" ।

॥ वेद ॥

वेद से बढ़कर दुनियां भर में कोई प्राचीन एवं प्रामाणिक अलौकिक ग्रन्थ नहीं है, मनुष्यों के हितार्थ इस से बढ़कर किसी भी भाषा वा धर्म-सम्प्रदाय में ग्रन्थ नहीं। इस विषय में एक सुप्रसिद्ध विदेशी-विधर्मी-जार्मन विद्वान् * भट्ट मैक्समूलर साहब यों लिखते हैं कि वैदिक संहिता का भाव, भाषा, तात्पर्य रचना प्रणाली और व्याकरण घटित वैलक्षण्य की विवेचना कर देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा में—संसार के विभिन्न जाति और देश की किसी भाषा में वैदिक संहिता की बराबर कोई पुस्तक नहीं यह अति पुरातन संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' संहिता है। यही मनुष्य जाति के हितार्थ प्रथम पुस्तक, मानवीय सभ्यता का एक मात्र प्रथम निदर्शन मनुष्य जाति का प्राचीनतम इतिहास और धर्म विश्वास का प्रथम पथ प्रदर्शक है—अत एव यह मनुष्य मात्र ही को आदरणीय है। मनुष्य जाति के जिस समय का इतिहास कहीं नहीं पाया जाता, जिस समय की चिन्ता, धर्म, विश्वास, सभ्यता, उपासना, पद्धति, देवोत्थापन, सामाजिक रीति नीति, आशा भरोसा और हृदय का भाव काल के अनन्त स्रोत के गर्भ में विलीन हुए हैं, जिस समय के इतिहास के उद्धार के लिये अन्य-उपाय विद्यमान नहीं, इसी स्मरणातीत समय का इतिहास सुप्रणालीबद्धरूप ऋक् संहिता में सोने के अक्षरों में लिपिबद्ध हैं। इसी निमित्त सभ्य जगत के सर्वत्र पण्डित मण्डली में ऋग्वेद संहिता का इतना सम्मान और आदर है।

---

* The Veda has a two-fold interest : it belongs to the history of the world, and to the history of India. In the history of the world, the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill. It carries us back to times of which we have no records any where, and gives us the very words of a generation of men, of whom otherwise we could form but the vaguest estimate by means of conjectures and inferences. As long as man continues to take an interest in the history of his race, and as long as we collect in libraries and museums the relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, belong for ever to the Rig Veda, the most ancient of books in the library of mankind, which is more ancient than the Zendavesta and Homer (910-850 B. C.)

Prof. Max. muller's History of Ancient Sanskrit Literature P.63.

वेद के अङ्ग ।

हमारे जिस वेद की प्रशंसा उक्त जर्मनदेश आदि के पण्डितगण निष्पक्ष होकर करते, आज हम उस आलौकिक वेदज्ञान से शून्य हो रहे हैं । इस वेद के अति गम्भीर अर्थ को समझने के लिये 'शिक्षा' आदि (वेदाङ्ग) वेद के छः अङ्ग प्रवृत्त हुये हैं । इस शिक्षा प्रभृति को अथर्ववेदीय 'माण्डूकोपनिषद् में अपरा विद्या' कहा है जैसे "ब्रह्मवादीगण कहते हैं कि विद्या दो प्रकार की है एक परा, दूसरी अपरा । इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ये सब अपरा विद्या हैं । और जिस के द्वारा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो उसी का नाम 'परा विद्या' है ।

धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का साधन है । साधन स्वरूप धर्मज्ञान का कारण कहकर षडङ्ग सहित कर्मकाण्ड (वेद का कर्मबोधक भाग) अपरा विद्या है । जो कि ब्रह्मज्ञान परमपुरुषार्थ है इसीकारण उपनिषद् को 'पराविद्या' कहते ।

वर्ण, स्वर, प्रभृति उच्चारण प्रकार जिस में कहे गये हैं, वही शास्त्र "शिक्षा" है । तैत्तिरीय शाखाध्यायीगण उपनिषद् के आरम्भ ही में कहते हैं कि "शिक्षा का व्याख्यान करेंगे" । वर्ण—अकारादि । शिक्षा ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है । शिक्षा ज्ञान विना-वेद मन्त्रों का उच्चारण,हम लोग ठीक २ नहीं कर सकते । अब कल्प नामक दूसरे अङ्ग का वर्णन करेगें ।

कल्पसूत्र ।

आपस्तम्ब, वौधायन, आश्वलायन आदि सूत्रों का नाम "कल्पसूत्र" है । याग प्रयोग-इसी "कल्प" ग्रन्थ में कल्पित अर्थात् समर्थित हुए हैं इसी लिये इस का नाम "कल्प" है । इस पर यह शङ्का हो सकती है कि आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्र संहितानुसार कल्प सूत्र रचे,हैं या ब्राह्मण भागानुसार ? यदि कहो कि मन्त्र संहितानुसार, तो यह उत्तर असङ्गत है ; क्योंकि उन ने सब से पहिले "दर्शपौर्णमास याग" की व्याख्या आरम्भ कियी है । यदि मन्त्रकाण्ड अनुसार प्रवृत्ति होती, तो ऋग्वेद के सब से प्रथम मन्त्र "अग्नि मीले" इत्यादि जिस यज्ञ में, पहिले आवश्यकीय होता है, उसी यज्ञ की प्रथम व्याख्या करते । ऋग्वेद का "अग्नि मीले" इत्यादि मन्त्र दर्शपूर्णमास इष्टि में कहीं नहीं प्रयुक्त होता । यदि यह कहो कि ब्राह्मण भागानुसार कल्पसूत्र रचे गये हैं, तो यह भी कहना अनुचित है । "दीक्षणीया इष्टि में अग्नि विष्णू देवताक (अग्नि, विष्णु देवता के उद्देश से जो दान किया जायेगा) एकादश कपाल, (११ मट्टी के पात्रों में जिस का संस्कार किया है ।

पुरोडाश (यज्ञपिष्टक) निर्व्वाप करे (अर्थात् उस पुरोडाश द्वारा यज्ञ करे) इस प्रकार ब्राह्मण भाग में सब से पहिले दीक्षणीयेष्टि का वर्णन है। (यदि ब्राह्मण भागानुसार आश्वलायन कल्पसूत्र होता, तो दीक्षणीया इष्टि पहिले लिखना उचित था) यहां इन सब युक्तियों के उत्तर में यह कहा जाता है कि ब्रह्म यज्ञादि (अध्ययन वा अध्यापन) जप (मन्त्र जप) के अनुसार मन्त्रकाण्ड प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठान प्रणाली से नहीं। (जो याग पहिले करना पड़ता, उन के मन्त्र पहिले लिपिबद्ध हैं, ऐसा नहीं। जो सब से पहिले शिष्य को पढ़ाना पड़ता अर्थात् पढ़ने की प्रथा है एवं कितने मन्त्रों का जप करने से याज्ञिक लोग जिस प्रणाली का अवलम्बन करते, तदनुसार मन्त्रों का आगे पीछे पाठ करना होता है) ब्रह्मयज्ञ का भी विधान देखा जाता है जैसे—एक भी ऋक्, साम, या यजुर्वेद का, जो पाठ करना पड़ता वही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ या वेदाध्ययन में (ऋक्संहिता पढ़ने से) सबसेपहिले"अग्निमीले" इत्यादि पढ़ने का नियम है। वाचस्तोम में सब ऋक्, सब यजु; और सब, साम, उच्चारण करे, ऐसा विधि है। [यहां सम्प्रदाय सिद्ध अर्थात् गुरु परम्परा चलित क्रम अनुसार पाठ करना पड़ता] "आश्विन ग्रह" पर्यन्त जाने पर भी यदि सूर्योदय न हो, सब दाशतरी मन्त्र पाठ करे, ऐसा विधान है। और प्रतिग्रहकारी प्रभृति उपवासी को तीनवार वेदाध्ययन (प्रायश्चित्त) करनेका विधान दिखलाते हैं। [यहां भी सम्प्रदाय सिद्ध क्रम आदरणीय है] इन सब मन्त्रकाण्डों का विनियोग अर्थात् जहां जिन कई मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उस स्थान (यज्ञादि) में अध्यापक [वेदपाठक] सम्प्रदाय प्रचलित क्रम—[पूर्वापरभाव] को सादर ग्रहण करना पड़ता। किसीएकमन्त्र को किसी एक कार्य में विनियुक्त करने में (मीमांसादर्शन प्रतिपादित) श्रुति, लिङ्, वाक्य, प्रकरण, प्रभृति प्रमाणानुसार आश्वलायनादि आचार्य्यों ने मन्त्रों का विनियोग किया है। (श्रुति, लिङ्ग, प्रभृति का विशेष विवरण मीमांसादर्शन में देखो) यदि ऐसा हुआ, तो मन्त्रकाण्ड का क्रम न होने पर भी कोई विरोध नहीं। "इषेत्वा" इत्यादि मन्त्र सब जिस प्रकार अवलम्बन कर यागादि कर्म करना होता, उसी क्रमानुयायी भाव से विधि बद्ध किया गया है। आश्वलायन, गोभिल आदि ने इसी नियमानुसार कल्पसूत्र निर्माण किया है। उसी नियम से आम्नात हुआ है अतएव जपादि में वही नियम ग्राह्य है।

यद्यपि ब्राह्मणभाग में दीक्षणीया इष्टि सब से पहिले कही गयी है, तथापि दीक्षणीया इष्टि सब से पहिले दर्शपूर्णमास इष्टि की विकृति है इसी कारण दर्शपूर्णमास की अपेक्षा करती है। (दर्श पूर्णमास को पहिले न कहने से दीक्षणीया इष्टि का कहना पूरा नहीं होता, क्योंकि दर्श पूर्णमास इष्टि की प्रक्रिया दीक्षणीया इष्टि में अतिदिष्ट हुयी है।) पस, आश्वलायनादि को पहिले दर्शपूर्णमास याग की व्याख्या करना उचित हुआ। इस से यह ज्ञात हुआ कि कल्पसूत्र मन्त्र विनियोग द्वारा यज्ञानुष्ठान का उपदेश देकर उपकार करता है। यदि इस पर कोई ऐसी आपत्ति दे कि "प्रवोराज" इत्यादि सामधेनी ऋक् (एक जातीय ऋक्) मन्त्रों का विनियोग आश्वलायन कर सकते हैं क्योंकि उन को वे आम्नात (पठित) हैं। किन्तु "नम प्रवक्त्र" इत्यादि ऋचाओं का विनियोग क्योंकर करेंगे? क्योंकि उनने उन मन्त्रों को पढ़ा ही नहीं। जिस प्रकार जो मन्त्र आम्नात हुए तदनुसार ही विनियोग करना उचित है जो आम्नात हुए नहीं, उनका विनियोग कैसे होगा ? आश्वलायन ने निज वेद शाखा में उसे न पाकर भी विनियोग क्योंकि या ? इस का उत्तर यह कहा जा सकता है कि इस में कोई दोष नहीं, क्योंकि शाखान्तर में जो मन्त्र आम्नात हुए हैं, उन सब का भी ब्राह्मणान्तर में विनियोग सिद्ध है, यहां भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस कारण जिस शाखा में जो गुण (आदिकर्म) उपदिष्ट क्यों नहो, कर्मके निर्वाह के लिये वे सब ही मन्त्र एकत्र किये जा सकते। (एकत्र विहित कर्म अन्यत्र विहित गुण अपेक्षा करता, इस लिये शाखान्तर गत मन्त्र अन्यत्र विनियुक्त हो सकते हैं।) मीमांसा शास्त्र से जो अवगत, हैं उन का कथन् है कि सब ही शाखाओं में यह कर्म प्रतिपादित हुआ है। इसी लिये वेद ज्ञान के लिये जिस प्रकार "शिक्षा" पढ़ना अत्यावश्यक है, उसीप्रकार कल्पशास्त्र भी वेदार्थ विचार में परमावश्यक है। कल्प सूत्र में मन्त्र विनियोग द्वारा यागों के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। इस शास्त्र को न जानने से यागादि विषय में जो सब सन्देह होता उन का निरास करना नहीं बन सकता। इसी प्रकार व्याकरण आदि ४ अङ्गों के भी भिन्न २ प्रयोजन हैं जिन के ज्ञान बिना वेद ज्ञान होना असम्भव है।

यह "कल्पसूत्र" दो भागों में विभक्त है, एक "श्रौतसूत्र" दूसरा "गृह्यसूत्र' जिसमें साक्षात् श्रुति विहित अग्निष्टोम आदि अनुष्ठित होते, उस अग्नि को श्रौताग्नि कहते एवं उस अग्नि के सम्बन्ध में जो सब अनुष्ठेय कार्य हैं, उन सबको, और ये कार्य सब प्रणालिवद्ध जिस ग्रन्थ में उपदिष्ट

हुए हैं उसे भी "श्रौत" कहते हैं। इसी प्रकार जिस अग्नि को अवलम्बन कर विवाहादि गृह्य कार्यों का अनुष्ठान किया जावे, उस अग्नि को, उन सब सम्पूर्ण कार्यों को, एवं उन सब कार्यों के प्रणाली विधायक ग्रन्थ को "गृह्य" कहते हैं। यद्यपि "श्रौतसूत्र" प्रत्येक वेद के एक से अधिक हैं किन्तु अमुक शाखा का अमुक श्रौतसूत्र ग्राह्य है ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, अतएव सायनाचार्य्य कहते हैं कि "सर्वशाखा प्रत्येकमेकं कर्म" * ।

अर्थात्—सकल शाखाबोधित कार्य्यानुष्ठान एक ही है। मीमांसा-चार्य-जैमिनि ने भी ऐसी ही व्यवस्था कियी है (मीमांसा अ० ९ पा० २) और अधिकरण मालादि में भी यह बात कही गयी है। परन्तु गृह्यसूत्र आदि शाखा भेद से विभिन्न हैं, सुतरां जिस वेद की जितनी शाखा हैं, उस वेद के गृह्यसूत्र भी उतने ही मानने पड़ते। सामवेदीय श्रौतसूत्र प्रणेता लाट्यायन एवं तदीय कौथुमी शाखा के गृह्य—ग्रन्थ प्रणेता आचार्य का नाम गोभिल है। इन्हीं गोभिल प्रणीत सूत्र आदि की व्यवस्थानुसार उक्त शाखा ध्यायी ब्राह्मणों के विवाहादि सब कार्य्य हुआ करते। एवं इसी सूत्र की प्रमाणता से महामहोपाध्याय भवदेव भट्ट ने विवाह आदि पद्धति का प्रचार वङ्गदेश में किया है। अन्यान्य देशों में भी और २ पद्धतिया हैं। इन्हीं गोभिलाचार्य्य के गृह्यसूत्र, संध्यासूत्र, स्नानसूत्र, और श्राद्धसूत्र, ये चार ग्रन्थ हैं। यदि ग्राहकों की रुचि हुयी, तो इन ग्रन्थों को भी हम सानुवाद प्रकाशित करेंगे॥

यद्यपि इस गो० गृ० सू० पर नारायणोपाध्याय कृत वृत्ति पायी जाती है परन्तु इस में लेखक की अनवधानता से इतनी अशुद्धिया हैं, जिन को सम्भार कर छपवाना एवं नूतन टीका करनी, दोनों में समान परिश्रम है। इस लिये इस से उपेक्षा कियी गयी। इस गृ० सू० पर दूसरी संस्कृत टीका पं० चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार जी की है। यह टीका अन्यान्य शाखानुयायी गृ० सू० के मत के साथ एकता सम्पादन पूर्वक रची गयी है जिस कारण यह टीका अति बृहत हुयी है। हमारी समझ में जिस शाखा के जो गृह्यसूत्र हों उन २ की टीका तद् २ शाखा के अनुकूल ही होनी चाहिये क्योंकि, अपनी २ शाखा-नुसार ही अपने २ गृह्यसूत्रादि में स्व २ शाखानुसार कर्त्तव्य लिखे गये हैं।

ऐसी संस्कृत टीका—इस गृह्यसूत्र पर पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने कियी है, हमने इसी संस्कृत टीका के अनुयायी भाषानुवाद किया है।

* तदीय ऋग्भाष्यभूमिका द्रष्टव्य ।

इस गोभिलगृह्यसूत्र में ४ प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में दश २ खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एकाधिक सूत्र हैं। यों इस में ४ प्रपाठक, ३९ खण्ड एवं १००९ सूत्र हैं। और इस में सात मुख्य २ प्रकरण हैं। १ सर्वकर्मसाधारण विधि, २ ब्रह्मयज्ञ, ३ दर्शपौर्णमास, ४ विवाहादि संस्कार, ५ गृहिकर्त्तव्य ६ काम्यकर्म और ७ अर्हणीय प्रकरण हैं।

वेदों की शाखा।

चरणव्यूह नामक—महर्षि शौनक प्रणीत यजुर्वेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ में अनेक प्रकार की वैदिक शाखाओं का उल्लेख देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'चरणव्यूह ग्रन्थ बनने के बहुत काल पूर्व ही से विभिन्न वेदों की नाना प्रकार की शाखायें विद्यमान थीं। 'चरणव्यूह' बनने के पूर्व जो सब वैदिक 'चरण' और 'शाखा' विलुप्त, या शाखान्तर के साथ मिल गयी थीं, उन सब की नामावली उस में नहीं पायी जाती, वरण उस की रचना समय में जो २ शाखायें विद्यमान थीं, उन की नामावली निःसंशय उस में सन्निविष्ट है। ऋग्वेदीय शाकल, वास्कल, शांख्यायन, माण्डुकायन, एवं आश्वलायन,—इन पांच, शाखाओं का नाममात्र उल्लेख है। परन्तु ऋग्वेद के ऐतरेयी, कौषितकी पैङ्गी, शैशिरीय, प्रभृति प्राचीन शाखाओं का कोई भी उल्लेख नहीं है। ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में भी शाकल, शांख्यायन, आश्वलायन, माण्डुकायन, और वास्कल शाखा प्रवर्त्तक आचार्यों का उल्लेख है। जैसे—

"ऋचां समूह ऋग्वेदस्त मभ्यस्य प्रयत्नतः।
पठितः शाकलेनादौ, चतुर्भिस्तदनन्तरम्।
शांख्याश्वलायनौ चैव, माण्डुको वास्कलस्तथा।
बहूचां ऋषयः सर्वे, पञ्चैते एक वेदिनः" ॥—(शौनकीय प्रातिशाख्ये)

एक वेदीय विभिन्न शाखा में कोई विशेष पार्थक्य था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु किसी स्थान में किसी शब्द वा मन्त्र का व्यतिक्रम, और परिवर्त्तन, किसी स्थान में दो चार मन्त्र नूतन संयोजन, किसी स्थान में मन्त्रों का परस्पर स्थान विपर्य्यय, किसी स्थान में मन्त्रों का उच्चारण घटित प्रभेद भिन्न २ शाखाओं में दीख पड़ते हैं। वेदाध्यापक प्रति आचार्यों के शिष्य परम्परा से, एक ही 'संहिता' (वेद) का शाखा भेद घटित यत्सामान्य अकिञ्चित् कर परिवर्त्तन के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं दीखता, तात्पर्यतः सब शाखाओं की संहिता—एक सी हैं।

सामवेद की शाखा ॥

सामवेदीय शाखा प्रवर्त्तक आचार्य्यों की नामावली विष्णु पुराण में (अ० ३ । अंश ६) इस प्रकार दी है कि जैमिनि, सुमन्तु और सुकर्म्मा, उत्तरोत्तर सामवेदसंहितां अध्यन और अध्यापन करते थे । जैमिनि के पौत्र सुकर्म्मा का हिरण्य नाभ और पौष्पिञ्जि नामक दो शिष्य थे, उन में से कोशल देश वासी हिरण्यनाभ के १५ शिष्य प्राच्यसामग नाम से प्रसिद्ध थे । उन में से कृति नामक ऋषि के २४ शिष्य द्वारा सामवेद की बहुत सी शाखायें हुईं । सुकर्म्मा का अन्यतर शिष्य पौष्पिञ्जि के लोकाक्षि, कुथुमि, कुसीदि और लाङ्गलि नाम से ४ प्रधान शिष्य थे * विष्णु पुराण के मत से सामवेद के १००० शाखायें थीं । निरुक्त के भाष्य कार दुर्गाचार्य के मत से भी सामवेद सहस्र शाखाओं में विभक्त था ।

इस प्रकार चरण व्यूह आदि के लेखानुसार ४ वेदों की ११३१ या ११३७ शाखायें हैं। और चरण व्यूह में राणायनीय, शाठ्य, सुग्र्य, कालाय, महाकालाय, शार्द्दूल, लाङ्गुलायन और कौथुम; साम वेद की इन सात प्रधान शाखाओं का उल्लेख है । आसुरायन, वातायन, प्राञ्जलि, द्वैतभृत, प्राचीनयोग्य, और नैगेय, ये पांच कौथुम शाखा के अन्तर्भुक्त उपशाखा मात्र हैं । कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा कर्णाट में और राणायनीय शाखा, महाराष्ट्र देश में प्रचलित हैं । वङ्ग देश में कौथुम शाखा को छोड़ सामवेद की अन्य शाखा के ब्राह्मण नहीं मिलते ।

"सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः ।
क्रमेण येन मैत्रेय बिभेद शृणु तन्मम ॥ १ ॥
सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूत्, सुकर्म्मास्याप्यभूत्सुत: ॥
अधीतवन्ता वेकैकां, संहितां तौ महामुनी ॥ २ ॥
सहस्रं संहिताभेदं, सुकर्म्मा तत्सुतस्ततः ।
चकार तं च तच्छिष्यो, जगृहाते महामती ॥ ३ ॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः, पौष्यञ्जिश्च द्विजोत्तम ।
उदीच्य सामगाः शिष्यास्तेभ्यःपञ्चदशस्मृताः ॥ ४ ॥
लोकाक्षिः कुथुमिश्चैव कुसीदीलाङ्गलिस्तथा ।

---

* महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार यजुर्वेद की १०१ शाखा, सामवेद की १०००, ऋगवेद की २१ और अथर्ववद की ६ शाखा हैं ॥ ** एक शतमध्वर्यु शाखाः सहस्र वर्त्मा सामवेदः । एकविंशतिर्वह्वृच्यं नवधाऽथर्वणोवेदः । महाभाष्ये० ॥

पौष्यञ्जिशिष्यास्तद्भेदैः संहिता बहुली कृताः ॥ ५ ॥
हिरण्यनाभःशिष्यश्च, चतुर्विंशति संहिताः ।
प्रोवाच कृति नामासौ शिष्येभ्यः सु महामतिः ॥ ६ ॥
तैश्चापि सामवेदोऽसौ शाखाभि र्बहुली कृतः ॥ ७ —॥" विष्णुपुराण ३ । ६।

क्या व्यासजी से वेदों की शाखायें प्रवृत्त हुयीं ?

बहुत से लोग कहते हैं कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन (महर्षि व्यास) वेदों के विभाग कर्त्ता, मन्त्र द्रष्टा और शाखा प्रवर्त्तक थे। पुराणों में भी इसी प्रकार (विष्णुपुराण तथा भागवत पु०) लिखा है परन्तु यह बात ठीक नहीं है। महर्षि व्यास वेद के अद्वितीय वेत्ता थे, इन्हों ने इधर उधर से विकीर्ण वेद मन्त्रों का और भी उत्तम रीति से एकत्र कर, जिस वेद के जो मन्त्र थे उन्हें, यथा स्थान रक्ख भिन्न २ संहितानुसार अनेक शिष्यों को उपदेश दिया और उन के पूर्व की जो शाखायें थीं, जो काल वशतः लुप्त हो गयीं थीं, उन्हें भी जहां तहां से लेकर बड़े उद्योग से प्रकाशित किया और अपने चार शिष्यों को पढ़ाया इन के समय में वेद की चरम उन्नति थी और ये ही, उस समय वेद के अद्वितीय उन्नायक थे, अपने बुद्धि तप, और अध्यवसाय से यथा साध्य इनने वेद की सब शाखाओं का पता लगा कर ठीक किया। इस बात को लेकर "वेद व्यास" जी से वेद प्रवृत्त हुए कहलाया। "शाखाप्रणयनं चैव द्वापरे समभूदिदम्" अर्थात् शाखाओं की रचना द्वापर में हो चुकी, यह लिखा है है, इसका अभिप्राय यह है कि द्वापर पर्यन्त वेदों की शाखा बढ़ती रही। क्योंकि द्वापर के पहिले त्रेता युग में भी शाखायें थीं, जैसा कि वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काण्ड में लिखा है कि "आचार्यो स्तैत्तिरीयाणाम्" पुनः "एतेकठाः कलापाश्च" किन्तु पुराणों में इस के विरुद्ध कठ, कलाप आदि शाखा व्यास ही के शिष्योंमें प्रवृत्त हुईं लिखा है। इस का तात्पर्य पहिलेही लिखा गया।

सामवेद के आचार्य्यगण ।

सामवेद के सम्प्रदाय प्रवर्त्तक आचार्य्यों की नामावली * इस प्रकार लिखी है—ब्रह्मा ने बृहस्पति को उपदेश किया, उन ने नारद को, पुनः उन से विष्वक्सेन, उन ने पराशर के पुत्र व्यास को, व्यास ने जैमिनि को, उन ने

* अथास्य सामविधानस्य सम्प्रदायप्रवर्त्तकानाचार्य्याननुक्रमेण संकीर्त्तयति । सोऽयं प्राजापत्यो विधिः । तमिमं प्रजापतिर्बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिर्नारदाय । नारदो विष्वक्सेनाय । विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय । व्यासः पाराशर्यो जैमिनये । जैमिनिः पौष्पिण्डाय, पौष्पिण्डः पाराशर्य्यायणाय । पाराशर्यायणो वादरायणाय । वादरायणस्ताण्डिशाट्यानिभ्यां । ताण्डि—शाट्यायनिनौ बहुभ्यः ॥ सामवेदीय सामविधान ब्राह्मणे ।

पौष्पिपराड को, उन ने पराशर्य्यायण को उनने वादरायण को उनने ताण्डिऔर शाटयानको, इन दोनोंने बहुत शिष्यों को पढ़ाया" सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या * प्रसिद्ध भाष्यकार पं० कुमारिल भट्ट अपने तन्त्र वार्तिक नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लिखते हैं:-१ ताराड्य (प्रौढ़, महा या पञ्चविंश), २ षड्विंश ३ उपनिषद् (छान्दोग) ४ संहितोपनिषद् (जैमिनीय या तलवकार), ५ सामविधान, ६ देवताध्याय, ७ आर्षय और ८ वंश ब्राह्मण । इन में से षड्विंश ब्राह्मण जो ताराड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट मात्र है-इस के छठे का नाम अद्भुत ब्राह्मण है, दशाध्यायी छान्दोग के शेष ८ अध्याय छान्दोग उपनिषद् है, तलवकार ब्राह्मण का शेष अध्याय केन या तलवकार उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वोक्त ८ ब्राह्मणों में से शेषोक्त ४ ब्राह्मण साम-वेदीय -अनुक्रमणी भिन्न कुछ नहीं है ।

उपलब्ध सामवेदीय ग्रन्थों की सूची ।

१—सामवेदमन्त्रसंहिता । २—सामसूची । ३—आरण्यसंहिता । ४—लाट्यायनश्रौतसूत्र । ५—अष्टविकृति । ६—विकृतिवल्ली । ७—अक्षर—तन्त्र । ८—साम्प्रातिशाख्य । ९—सामगायनरुद्री । १०—ताराड्यमहाब्राह्मणं । ११—आर्षेय ब्राह्मण । १२—सामविधानब्राह्मण । १३—दैवतब्राह्मण । १४—देवताध्याय ब्राह्मण । १५—मन्त्रब्राह्मण । १६—वंशब्राह्मण । १७—षड्विंशब्राह्मण । १८-गृह्यसंग्रह । १९-गोभिलगृह्यसूत्र । २०-यज्ञपरिभाषा । २१-निदानसूत्र । २२-उपग्रन्थसूत्र । २३-सामप्रकाश । २४-शान्तिपाठ । २५-स्वराङ्कुश । २६-नारदीय शिक्षा । २७-सामपद संहिता । २८-सन्ध्यासूत्र । २९-स्नानसूत्र । *३०-श्राद्धसूत्र

यजमान और पुरोहित, या ऋत्विग्गण ।

यजमान उसे कहते हैं जो स्वयं अपने घर यज्ञानुष्ठान करते और ऋत्विक् उस को कहते हैं जो निर्दिष्ट समय में अपने या दूसरे के मङ्गल कार्य के निमित्त यज्ञ कार्य्य सम्पादन करे, 'पुरोहित' वा 'पुरोधा' भी इसी का नामान्तर है । काल क्रम से यज्ञीय आडम्बर की वृद्धि के साथ २ ऋत्विक् लोगोंकी क्षमता और संख्या भी बढ़कर, सनातन आर्य्यसमाज या वैदिक समाज में शीर्ष स्थानीय स्वतन्त्र एक श्रेणी में परिणत हुयी । पहिले सनातन

** ब्राह्मणानि हि यान्यष्टौ सरहस्यान्यधीयते । छन्दोगास्तेषु सर्वेषु न कश्चिन्नियतः स्वरः ॥३॥
(कुमारिल भट्टप्रणीततन्त्रवार्त्तिके १ । ३)

* यद्यपि सामवेद की १००० शाखाओं के भिन्न २ अनेक ग्रन्थ हैं परन्तु अद्यावधि येही ग्रन्थ मिले हैं ॥

आर्यसमाज में यजमान स्वयं ही काष्ठ घिसकर अग्नि उत्पन्न कर प्रज्वलित अग्नि में अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये पवित्र आज्याहुति प्रदान करते । ऋत्विक् नियोग व्ययसाध्य व्यापार होने से केवल, धनी लोग ही पुरोहित द्वारा यज्ञ कराते। अर्थात् धनी लोगोंही में ऋत्विग् गण आबद्ध थे * । पीछेकाल क्रमसे उस के सम्पादन का भार मन्त्रज्ञ ऋत्विक् (पुरोहित) लोगों के हाथ समर्पित हो, उन का प्रभाव और माहात्म्य सविशेष बढ़ चला। होता (बह्वृच) पुरोहितों के लिये 'ऋग्वेदसंहिता' निर्दिष्ट हुयी । 'उद्गाता' (छन्दोग) और अध्वर्य्यु पुरोहितों के लिये यथाक्रम साम और यजुर्वेद संहितायें नियत हुयीं। इन भिन्न २ श्रेणी पुरोहितों के यथार्थ कर्त्तव्य ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखे गये बह्वृच पुरोहितों के लिये ऋग्वेदीय एतरेय और कौषित की ब्राह्मण, उद्गाताओं के लिये ताण्डय ब्राह्मण; और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेदीय के लिये गोपथ ब्राह्मण नियत हुए । ब्राह्मण ग्रन्थोंकी रचना पश्चात् अपने२ वेदों की शाखानुसार कल्प वा श्रौत और गृह्यसूत्र बनने लगे। और श्रौत ग्रन्थानुसार बड़े २ यज्ञ एवं गृह्यसूत्रानुसार स्मार्त्त कर्म होने लगे । जब वेदोंका पढ़ना पढ़ाना कम हुआ और वैदिककर्म में बाधायें होने लगीं, राजा लोग वेदविद्या से मूर्ख होने लगे, उस समय से पुरोहितों में परस्पर ईर्षा द्वेष की नेव पड़ी और लगे एक दूसरे के विरुद्ध निन्दा लिखने यहां तक कि जो होता (ऋग्वेदी) अध्वर्यु (यजुर्वेदी) उद्गाता (सामवेदी) और ब्रह्मा (अथर्ववेदी वा चतुर्वेदवेत्ता) एकसाथ एक यज्ञ में परस्पर आनन्द के साथ अपना २ कर्त्तव्य पालन कर, यज्ञ कार्य सम्पादन करते वे स्वतन्त्र २ ग्रन्थ बना, उस में अपनी २ प्रशंसा और अन्यवेदी की निन्दा लिखने लगे, जिस का परिणाम यह हुआ के राजा तथा प्रजा एवं मनुष्यमात्र में साम्प्रदायिक * निदारुण विद्वेष फैलकर भारतवर्ष का सर्वनाश हुआ । इस के उदाहरण में हम "अथर्वपरिशिष्ट" नामक ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं ॥

पुरोहितों में साम्प्रदायिक निदारुणविद्वेष !!!

"अथर्वपरिशिष्ट" ग्रन्थ के ११२ में अध्याय में लिखा है कि ऋग्वेदी 'बह्वृच' पुरोहित यजमान का राज्य, और यजुर्वेदीय अध्वर्यु (ऋत्विक्) यजमान के पुत्र कलत्रादि का विनाश करते हैं; सामवेदी छन्दोग जिस यजमान के पुरोहित होते उन का धन नष्ट हो जाता । अज्ञानता, या प्रमाद

* महर्षि आपस्तम्व ने 'यज्ञ परिभाषा' नामक ग्रन्थ में यों लिखा है कि:—स (यज्ञः) त्रिभिर्वेदैर्विधीयते ॥१॥ ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदैः ॥२॥ ऋग्वेदेन होता करोति ॥१६॥ सामवेदेनोद्गाता ॥१७ यजुर्वेदेनाध्वर्युः ॥११ सर्वैर्ब्रह्मा १६।

से जो 'बह्वृच' ब्राह्मण को पौरोहित्य कर्म में वरण (मुकर्रर) करते, निःसन्देह उन के देश, राज्य, नगर, और मन्त्री विनष्ट हो जाते हैं। जो राजा, अध्वर्यु ब्राह्मण को अपना पुरोहित नियत करता, वह, धन, और यान (रथ) आदि से विहीन हो अस्त्राघात से शत्रु के हाथ शीघ्र ही मारा जाता। पङ्गु व्यक्ति, जिस प्रकार गन्तव्य मार्ग में चलने से असमर्थ होता, अण्डे से सद्योजात पक्षी जिस प्रकार आकाश गामी प्रौढ़वयस्क विहङ्गम की नाईं आकाश मार्ग में परिचरण करने में असमर्थ होता; सामवेदी छन्दोग पुरोहित द्वारा राजा भी उसीप्रकार उन्नति लाभ करनेमें असमर्थ होता है। और अथर्व वेदी * जलद और 'मौद्ग' शाखाध्यायी ब्राह्मण जिस राजा के पुरोहित होते, १० या १२ महीने में वह राजा, राज्यच्युत हो जाता है। अथर्ववेदी ब्रह्मा पुरोहित ही पुरोहितों में सब से श्रेष्ठ हैं, वे भयानक कार्य उत्पादन और उस की शान्ति कर सकते, यज्ञ को अनेक विघ्न एवं विपद् से बचा सकते हैं।

अङ्गिरा ही, यज्ञके एकमात्र नियामक अधिपति हैं। ब्रह्मवेदज्ञ अथर्ववेदी ब्राह्मण दिव्य, आन्तरीक्ष, और भौम, इन नाना विधि यज्ञोत्पात के उपशमन विधान करते हैं। अध्वर्य्यु, छन्दोग, क्या बह्वृच कोई भी यज्ञ कालीन अनेक प्रकार के उत्पात प्रशमन नहीं कर सकते इत्यादि। साम्प्रादायिक निदारुण विद्वेष द्वारा परिचालित हो, क्रोधान्ध ग्रन्थकारों ने अपर वेदी और स्ववेदीय भिन्न २ शाखाध्यायी पुरोहितों के प्रति नितान्त अवैध यह कटूक्ति वर्षण पुरः सर अपनी प्रधानता जतलाने के लिये काण्डाकाण्ड विहीनता का परिचय दिया है।

* बह्वृचो हन्ति वैराष्ट्रं अध्वर्य्यु र्नाशयेत् सुतान्।
छन्दोगो नाशयेत् धनं, तस्मादथर्व्वणो गुरुः॥
अज्ञानाद् वा प्रमादाद् वा, यस्य स्याद् बह्वृचो गुरुः।
देशराष्ट्र—पुरामात्य, नाशस्तस्य न संशयः॥
यदि वाध्वर्यवं राजा, नियुनक्ति पुरोहितम्।
शस्त्रेण बध्यते क्षिप्रं परिक्षीणार्थ वाहनः॥
यथैव पङ्गुरध्वानं, अपक्षी चाण्डजो नभः।
एवं छन्दोगगुरुणा, राजा वृद्धिं न गच्छति॥
पुरोधा जलदो यस्य, मौद्गो वा स्यात् कथञ्चन।

* और भी 'शौनक' पैपलाद आदि शाखायें हैं॥

अब्दाद् दशेभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥
अथर्व्वा सृजते घोरं, अद्भुतं शमयेत्तथा ।
अथर्व्वा रक्षते यज्ञं, यज्ञस्य पतिरङ्गिराः ॥
दिव्यान्तरीक्षभौमानामुत्पातानामनेकधा ।
शमयिता ब्रह्मवेदज्ञः, तस्माद्दक्षिणतो भृगुः ॥
ब्रह्मा शमयेन्नाध्वर्य्यु नै छन्दोगो न बह्वृचः ।
रक्षांसि रक्षति ब्रह्मा, ब्रह्मा तस्मादथर्ववित् ॥-(अथर्व्वपरिशिष्टः)

॥ संस्कार ॥

आर्यऋषिगण ने दिव्य दृष्टि से देखा था कि उच्छृङ्खल मनुष्यजाति नियम-रहित होने से उत्तरोत्तर अवनति ही की ओर अग्रसर होगी, कभी मङ्गल मय साधुमार्ग पर पैर न रक्खेगी, प्रत्युत अनुराग प्रणोदित हो निरन्तर असत् कर्म्म का अनुष्ठान करेगी । सुतरां ऐसी अवस्था में समाज का शरीर अक्षत नहीं रह सकता और मानव-हृदय में धर्मभाव भी प्रस्फुटित नहीं हो सकता । इस कारण प्रत्येक जीव एवं समस्त समाज का ऐहिक और पारलौकिकहित साधन उद्देश्य से महर्षियों ने विशेष नियम व्यवस्था विधिबद्ध कियी हैं । मकान-मजबूत करनेसे पहिले उसकी नेव मजबूत देनी पड़ती है, इसकारण मानवशिशु भूमिष्ठ होनेके पहिले ही ऋषि ने सावधान किया है कि-

"निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितोविधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारःस्यान्नेतरस्य कदाचन ॥,, (मनुः।१।)

अतएव गर्भाधान आदि संस्कार सब यथा समय सम्पादन करना आर्यमात्र को कर्त्तव्य है । संस्कार-का अर्थ शोधन करना, दोषों को हटाकर गुणों को मिलाना । अर्थात् संस्कार द्वारा कहीं तो वस्तुगत दोष विनष्ट होते और कहीं वस्तुमें गुण विशेष संयोजित होते । जैसे आईना स्वभावतः स्वच्छ और प्रतिविम्बग्राही होता है, किन्तु उनमें दोष विशेष से मालिन्य उपस्थित हो जाता एवं जिस समय तक उस का मैलापन दूर नहीं होता, उतने समय तक उस की प्रतिविम्बग्राहिता, या स्वच्छता कुछ भी प्रकाश नहीं पाती, इस कारण उस में संस्कार का प्रयोजन पड़ता है । घर्षण आदि क्रिया द्वारा वह आगन्तुक मालिन्य, दूर होने पर पुनः दर्पण का दर्पणत्व प्रकाश पाता है ।

यही प्रथमोक्त संस्कार का फल है। इसीप्रकार किसी स्थिल में वस्तु का किसी प्रकार दोष दूर नहीं होता किन्तु उस में एकप्रकार गुण या उत्कर्ष मात्र उत्पादन करता है। उसी प्रकार जीव, या जैव अन्तः करण भी स्वभाव से स्वच्छ है किन्तु कामादि संसर्ग फल से उस में मालिन्य, या अज्ञान उपस्थित होता, मालिन्य उपस्थित होने से उस में पुनः विवेक ज्ञान प्रकाश नहीं पाता, विवेक के अप्रकाश से जीव का अधः पतन अवश्यम्भावी, और अधः पतित जीवों को सर्व्वत्र ही अशान्ति होती, यह स्थिर सिद्धान्त है। सब अनर्थो का मूल स्वरूप उस मालिन्य को दूर कर स्व २ तेज उद्दीपित करना ही संस्कारों का प्रधान प्रयोजन है। शास्त्र कारों ने भी इस विषय में सुन्दररूप से समझाया है:—

चित्रं कर्म्मानेकैरङ्गै रुन्मील्यते यथाशनैः।
ब्राह्मरायमपितद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

जिस प्रकार कवि, चित्रकर और रचना की कुशलता से क्रमशः अङ्ग प्रत्यङ्ग द्वारा प्रकाशित, या सम्पूर्ण होती, ब्राह्मण्यतेज भी उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कार कार्य्य के वार २ अनुष्ठान से पूर्णत्व लाभ करता है। उल्लिखित संस्कार किसी के मत से १६, किसी के मत से १७, किसी के मत से इस्से भी न्यून या अधिक हैं जैसे—१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूड़ाकरण, ९ कर्णवेद, १० उपनयन, ११ वेदारम्भ, (ब्रह्मचर्य्य) १२ समावर्त्तन, १३ विवाह, १४ गृहाश्रम, १५ वानप्रस्थ, १६ सन्यास और १७ अन्त्येष्टि ॥

१ गर्भाधान।

पूर्व ही कहा गया है कि "मनुष्यों के तेज" का संवर्द्धन ही सब संस्कारों द्वारा साधारण और असाधारण का मुख्य उद्देश्य है। घर सुदृढ़ रखने के लिये उस की चेष्टा आरम्भ ही से करनी पड़ती है। सर्वलोक हितैषिणी जननीकल्पा यह श्रुति, उस निगूढ उच्चतम उद्देश्य सिद्धि के अभिप्राय से कहती है कि पितृ, मातृ शरीर में जो दोष रहता, वह सन्तान शरीर में संक्रामित होता है। यह बात विज्ञानशास्त्र भी मुक्तकण्ठ से कहता है। प्राणी मात्र में ऐसे अनेक दृष्टान्त भी मिलते हैं, अधिक क्या पिता माता की मनोवृत्ति पर्यन्त भी सन्तान में संक्रामित हुआ करती है। मनु कहते हैं कि गर्भाधान, आदि संस्कार द्वारा द्विजाति शिशु के बीजदोष (पिता माता के असत) संकल्पादि रूप बीज या उपादान गत दोष एवं गार्भिक (माता के शारीर जरायुसंक्रान्त, दोष सब दूर होते हैं)

"गर्भैर्होमैर्जातकर्मचौरमौञ्जीनिबन्धनैः।
गार्भिकं वैजिकञ्चैव द्विजानामपमृज्यते"॥ मनुः।२।२७॥

तात्पर्य यह है कि सन्तान पिता माता के संस्कार को पाता है, सुतरां माता में किसी प्रकार अवैध कुत्सित भाव उपस्थित हो तो वह सन्तान के हृदय में भी अवश्य जम जाता है। महाभारत में लिखा है कि-एक समय वीरवर अर्जुनने सुभद्रा को एक युद्ध वृत्तान्त सुनाया था, कथा का आधा अंश वाकी ही था कि सुभद्रा सो गयीं। उस समय सुभद्रा का गर्भस्थ अभिमन्यु भी पिता का कहा हुआ युद्ध वृत्तान्त के अर्द्धांश मात्र से अवगत हुआ। और माता के सो जाने के कारण अवशिष्ट अर्द्धांश नहीं जान सका। शास्त्रानुसार देखा जाता है कि उक्तप्रकार संस्कारों से संस्कृत द्विजातिगण धर्म व्रत के यथार्थ अधिकारी एवं अध्यात्म शास्त्र ग्रहण में भी पूरे अधिकारी होते हैं।

२ पुंसवन ॥

प्रत्येक कार्यों का कुछ न कुछ उद्देश्य रहता ही है, सुतरां पुंसवन संस्कार का भी एक उद्देश्य रहना आवश्यक है, सो क्या है? गर्भरक्षा। तात्पर्य यह है कि साधारणतः तीसरे मास से चौथे मास पर्यन्त गर्भ गिर जाने का एक प्रधान समय है, इस प्रबल विपत पात से गर्भिणी को उद्धार करना ही इस संस्कार का प्रधान प्रयोजन है। द्वितीय कार्य, पुत्र सन्तानोत्पादन अर्थात् कुक्षिस्थ भ्रूण से लड़का होगा या लड़की? सो तीसरे मास तक स्थिर नहीं होता, कारण यह है कि तीसरे मास के पहिले गर्भस्थ सन्तान का 'स्त्री', या 'पुं', चिन्ह कुछ भी नहीं उत्पन्न होता (आयुर्वेद के अनुसार) सुतरां उस समय में पुत्रसन्तानोत्पादनार्थ पुंसवन क्रिया सम्पादन करना विशेष आनन्द कर होता, इस में सन्देह नहीं। पति, संस्कार आदि कार्य सब सम्पादन कर, जिस समय गर्भवती पत्नी को उद्देश्य कर कहता है कि "मित्रावरुणौ" ये दो देव पुरुष हैं- अश्विनी कुमार भी पुरुष, एवं 'वरुणदेव भी' पुरुष हैं (इन के अनुग्रहसे) तुम्हारे उदर में भी पुरुष सन्तान प्रादुर्भूत हुआ है" इत्यादि। ऐसे समय गर्भिणी रमणी जो समधिक आनन्द से उत्फुल्ल और शान्ति शालिनी होती, यह निश्चित है। और उस समय शरीर की दुर्वलता, मूर्च्छा, अरुचि, * प्रभृति दोषों से अवसन्न प्रायःदेह में कुछ उत्साह और आनन्द न होने से गर्भ विशेष शेष का उपाय नहीं। * अत एव पुंसवन संस्कार भी तत्त्वान्वेषियों के पक्ष

---

* पुंसवन काल में यव, और उड़ीद के साथ बड़ का दो फल लेकर गर्भिणी को सूंघाना होता है। आयुर्वेद में लिखा है कि स्त्रीं के अङ्गों के दोष के दूर करने की यह एक उत्तम औषधि है॥

में उपेक्षणीय नहीं। प्रत्यक्ष फल के अतिरिक्त अदृष्ट फल भी है।

३ सीमन्तोन्नयन।

तीसरे मास से चौथे मास तक जिस प्रकार गर्भच्युति का समय है, उसी प्रकार छठे मास से ८ मास पर्य्यन्त गर्भभ्रंश का दूसरा एक समय है। गर्भिणी का चित्त जितना ही खिन्न होगा एवं शरीर भी जितना ही दुर्वल, या आलस्य ग्रस्त होगा, गर्भ-भ्रंश की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। उसी अवसाद और दैहिक दुर्वलता दूर करने के लिये यह सीमन्तोन्नयन संस्कार है।

सीमन्त-का अर्थ "केशवीथी" (सर, मांग) उन्नयन-उठाना अर्थात् स्त्री के वालों को विधिपूर्वक सम्भारना। स्वामी स्वयं एक वृन्तगत दो उदुम्बर की शलाका और स्वस्तिका आदि और भी कई एक माङ्गलिक द्रव्य एकत्रित कर, सूत्र द्वारा गर्भिणी के जूरे को बांधे। अनन्तर स्वामी कुश, गुच्छ और सरकाष्ठिका प्रभृति द्वारा गर्भिणी के जूरे को उत्तोलन करने में जिन मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उन सब मन्त्रों का भाव भी अति मधुर और गम्भीरता से स्त्री को समझावे॥

४ जातकर्म्म।

यह चतुर्थ संस्कार है। बालक के भूमिष्ठ होने के पीछे एवं नाभि काटने के पूर्व यह कार्य्य सम्पन्न करना पड़ता एवं उसी समय मन्त्रोच्चारण पूर्वक, सद्योजात शिशु का घृत, मधु, को मिला कर सोने की शलाका से जिह्वा में "ओ३म्" ऐसा लिखना पड़ता। इस से शिशु कटे के वल वीर्य्य, और तेज की वृद्धि होती है। यह धर्म्म शास्त्र की वात हुयी, अब सुनिये वैद्यक और विज्ञान शास्त्र की वातः-

यौगिक प्रक्रियानुसार जाना जाता है कि विभिन्न गुण सम्पन्न दो या इससे अधिक पदार्थ मिलने पर एक अभिनव गुणान्तर उत्पादन करता, जिस प्रकार श्वेत चूना, और पीत हरिद्रा मिलने पर एक नूतन लाल रंग की सृष्टि करता इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण हैं। अतएव कथित संस्कार समय परस्पर संमिश्रित घृत, मधु, सुवर्ण आदि वस्तु भी जो उसी प्रकार एक अभिनव दूसरा गुण उत्पादन करेगा इस में आपत्ति या अनुपपत्ति कुछ नहीं। यह वस्तु-शक्ति जो सद्योजात शिशु का विशेष उपकार साधन करती यह भी आश्चर्य का विषय नहीं, वरं पदार्थतत्त्व विचारानुसार वह नवजात सन्तान के शरीर में बल और पुष्टिकर, वायु और पित्तहर एक परम रसायन कहकर

ग्रहण करता है। हमारे वैद्यक शास्त्र में उक्त घृत आदि के गुण यों लिखा है कि—

१ गव्यघृत—आंख का विशेष उपकारक, शीतल और वात, पीत, कफ का दूर करने वाला शुक्र और अग्निवर्द्धक, बल और आयुष्कर एवं बुद्धि और स्मृति के पुष्टि कारक।

[विशेषेण चक्षुर्हितत्वं शीतलत्वं वातपित्तकफनाशित्वं शुक्राग्निस्वादुपाकमेधालावण्यकान्त्योजस्तेजोवृद्धिवयःस्थिरबलायुर्हितकारित्वं, रसायनत्वं रोचनत्वं बुद्धिस्मृतिपुष्टिवपुः स्थैर्य्यकारित्वं श्रमोपशमनत्वं बहुगुणत्वञ्च। (एतेगव्यघृतगुणाः) इति भावप्रकाशः]।

२ मधु—शीतल, अनुग्र, जिह्वा का रुचिवर्द्धक तीनों दोष का नाशक एवं स्वाश, काशादि निवर्त्तक है। *

सुवर्ण—मधुर, कषाय, हृद्य, स्वरूप, बल कारक, नेत्रोपकारी, शरीर तेज और बल बर्द्धक एवं आयुः मेधा और वाक्य शुद्धिकर, क्षय, उन्माद आदि कठिन २ रोग सब भी इस्से प्रशमित होते हैं। * *

यव—कषाय, मधुर, बल बर्द्धक, रुक्ष, गुरु, शीतल, एवं मूत्र, मेद, और दोष निवारक है। इसी प्रकार अन्यान्य चूडाकरण आदि संस्कार के अनेक प्रयोजन हैं जिन को हम विस्तार भय से यहां नहीं लिखते।

विवाहसमयमीमांसा॥

प्रथम हम इस अंश में इसी गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातोदारान्
कुर्वीतासगोत्रान्। १–४। मातुरसपिण्डा॥ ५॥ प्र० ३ खं० ४

अर्थात्—ब्रह्मचारी वेद को आद्योपान्त पढ़ कर उपनयन की दक्षिणा गुरुदेव को देकर उन की आज्ञा से अपना विवाह ऐसी कन्या से करे, जो अपने गोत्र की न हो और माता की सपिण्डा न हो। पुनः

अनग्निकातु श्रेष्ठा॥ ६॥ प्र० ३ खं० ४

तत्र 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत्, यावच्च नग्ना वलङ्कापि विचरिन्तु शक्नुयात्, सा नग्निका तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्तयौवना सैव "श्रेष्ठा" प्रशस्याः कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्वमुपपद्यते तदैव च 'सोमोऽददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते; नान्यथेत्येव दार

---

* शीतलत्वं मृदुत्वं स्वादुत्वं त्रिदोष व्रणनाशित्वं रुक्षत्वं चक्षुष्यं स्वासकाशनाशित्वं (एतेमधुगुणाः)

* सुवर्णं तिक्तमधुरं कषायं गुरुलेखनं हृद्यं रसायनं वल्यं। चक्षुष्यं कान्तिदं शुचि॥ आयुर्मेधावलस्थैर्य्यवाक्विशद्धिप्रदं नृणां, क्षयोन्मादगदार्त्तानां शमनं परमुच्यते॥ इति राजवल्लभः॥

कर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएव मनुरपि "देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः (९, ९५)"—इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौवनापि नोद्वाह्येति फलितम् ।

भा०ः—जो कन्या उलङ्ग भाव से खेल करने में लज्जित न होवे, उसे नग्निका कहते इस के विरुद्ध अर्थात् जिस कन्या का ऋतु प्रकाश पागया है, ऐसी प्राप्त यौवना कन्या को 'अनग्निका' कहते । अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये श्रेष्ठा है; ऐसी कन्या समयानुसार न मिल सके तो जिस की यौवन अवस्था आरम्भ हो गई हो वह भी विवाहने योग्य है । यदि इस पर कोई नीचे लिखे वचन के आश्रय से यह आपत्ति देवे कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत उद्‌र्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठोभ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

अर्थात् आठ वर्ष की (कन्या) गौरी, नववर्ष की रोहिणी, दश वर्ष की कन्या कहलाती है और इस के उपरान्त रजस्वला होती, एवं रजस्वला कन्या को देखकर माता, पिता, और बड़े भाई, ये नरक को जाते हैं ॥ तो इस के विरुद्ध अधिक पुष्ट प्रामाणिक वचन गौरी, रोहिणी आदि कन्या के विषय में "अनग्नि का" शब्द की निरुक्ति करते हुए ये हैं कि—

"नग्निका तु वदेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।
ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्त्वनग्निकाम् ॥ १७ ॥
अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी ।
अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना तु नग्निका ॥ १८ ॥
व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।
पयोधरैस्तु गन्धर्वो, रजसाग्निः प्रकीर्त्तितः ॥ १९ ॥
तस्माद्व्यञ्जनोपेता, अरजा अपयोधरा ।
अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥ २० ॥

अर्थातः—जब तक कन्या को मासिक धर्म न हो, तब तक उसे 'नग्निका' कहते अतएव अनग्निका ही कन्या को विवाहे ॥ १७ ॥ जिस कन्या को रजो धर्म न हो, उसे "गौरी" और जिस के शरीर में 'रज' प्राप्त हो गया हो, उसे 'रोहिणी' और जिस कन्या को युवा अवस्था के कोई चिह्न न हुआ हो, उसे 'कन्या' और 'कुचहीना' (स्तन रहित) को नग्निका कहते हैं ॥१८॥

युवा अवस्था के चिह्न वाली कन्या को सोम भोगते, पयोधर वाली को गन्धर्व और रजस्वला को अग्नि भोगते ॥ १९ ॥ इस लिये विन यौवनावस्था के चिह्न हुए, रजो धर्म हीन, पयोधर रहिता और सोमादि से अभुक्ता कन्या विवाह के लिये प्रशस्त नहीं। गृह्यसंग्रह २ ।१७–२०॥ (ग्रन्थ) के वचन हैं अब इधर वैद्यक का प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत कहता है कि–

"रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञा प्रवर्त्तते ॥
तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ सुश्रुते० अ० १४

अर्थात्:–बारह वर्ष के पीछे कन्या का रजो धर्म आरम्भ होकर ५० वर्ष के बाद घटने लगता है। पुनः

पिता ऋतून् स्व पुत्र्याश्च गणये दाहितः सुधीः।
दिनावधि गृहे यत्नात् पालयेच्च रजस्वलाम् ॥ १ ॥

संस्कारकौस्तुभ पृ० २१ मुम्बई मुद्रित (शाके १८०४ ई०)

अर्थात्:–पिता अपनी कन्या के ऋतु को आदि से ही गिने जितने ऋतु पर्य्यन्त कन्या को घर में पालन करने का विधान है, उतनीवार जब कन्या ऋतुमती हो जावे, तो उस कन्या का विवाह सम्बन्ध होना चाहिये, इससे न्यून कदापि नहीं प्रत्युत अधिक होतो–और भी अच्छा है।

कन्या वर का विवाह शास्त्र एवं युक्ति अनुसार किस समय होना चाहिये इस अंश में बनारस के सुप्रसिद्ध पण्डित श्रीमान् महामहोपाध्याय पं० रामिमिश्र शास्त्री (स्वर्गवासी) जी अपनी "उद्वाहसमयमीमांसा नामक" पुस्तक की भूमिका में यों लिखते हैं कि–

PREFACE.

At the present time in various parts of India among those who profess to be followers of the Vadik religion and practices, the custom of marrying girls in mere infancy is a common one, and people think that if they do not conform to this custom they incur sin. But the truth is that the rule about the infant marriage of girls enjoined in the Dharmasastras is not what is called nitya (a fixed and obligatory duty the non-performance of which is a sin), but kamya (optional and to be performed only through the desire of obtaining some particular benefit). and the principal age for marriage is that of twelve and upwarbs as clearly declared by Manu, only it is necessaLy that the marriage ceremony should take place before the age of puberty is

attained, (that is before the commencement of menstruation). Although, owing to deffering climatic conditions, the age of puberty is not the same in all parts of India, and therefore no fixed age is stated in the Dharmasastras, nevertheless they enjoin that the rite of marriage should be performed at some time prior to that age as indicated above. Hence the infant marriage of females is a useless and needless practice, and one that ought to be abandoned as often entailing the evil of child-widowhood.

The next point for consideration is, at what age the marriage of males should take place. This, too, in accordance with the Dharmasastras, should never be in infancy; nor, to speak generally, before the age of eighteen, which is the essential meaning of the injunctions contained in those Sastras. But the present Practice of marrying boys in mere infancy results from ignorance both of what is physically right and of what is religiously enjoined, and is a fruitful cause of rendering those who are thus married puny, sickly, diseased, and miserable throughout their lives, to say nothing of the condition of their offspring.

Lastly, as regards cohabitation, the Dharmasastras (e.g. Asvalayana, Manu, and Yama) with one voice declare that it should commence only after puberty, (i. e. after the appearance of the catamenia). Among the upper classes, people of all the four castes observe this rule, and with them cohabitation is never allowed beforehand, not only out of regard for the injunctions of the Dharmasastras, but also because to act otherwise would be opposed to their traditional customs. In the warmer parts of India, such as Bengal, Madras, and Bombay, females reach this state of maturity usually about the twelfth year, and in the colder regions of Rajputana and the Panjab about the thirteenth, and among the poorer classes still later. On this account the great physicians and rishis of this country, Charaka & Sushruta, have laid down the general rule that the wife should not join her hasband before she has reached the age of twelve at least. (In those places in the Mahabharata & Brahma Purana where the age for the marriage in the case of females is declared to be sixteen, eighteen, or twenty, this applies to former times--in former times women attained maturity later, & retained their vigour longer).

I entertain the hope that by means of this book people will come to know that marriage at the age of twelve or thirteen is not prohibited by the Sastras, sol ong as it takes place before the period above indicated. Hence the marriage of mere infants is wrong. In any case, as appears from what I have stated above, males should not marry before eighteen, & in no rank of life should the wife join her husband till she is past the age of eleven.

My earnest prayer is that the princes & wealthy nobles of this country will exert themselves in this matter, and freely provide means for the circulation of this work throughout India. Then, if they follow the course therein advocated, will the inhabitants of Bharatavarsha become wiser, more powerful, energetic, and courageous, & better qualified to understand and take part in abstruse and difficult political concerns.

A true friend of the India People.

PANDIT RAMA MISRA SASTRI Banaras.

7th December, 1890.

क्या कोई संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो अपने कुल गोत्रकी वृद्धि और समृद्धि न चाहें ? और स्वाभाविक बल, पुष्टि, शारीरतेज और अङ्गसौष्ठव की इच्छा न करते होंय ? मुझे तो दृढ़ निश्चय है कि समस्त ही संसार के मनुष्य एक स्वर से स्वीकार करेंगे कि इन सब पूर्वोक्त फल की कामना स्वभावसिद्ध समस्त ही विचारशक्तिवाले जन्तुमात्र को है, इतना ही प्रभेद है कि बुद्धिमान लोग फल की कामना होते ही उपाय की चिन्ता करते हैं और उसे किसी न किसी प्रकार से पाप भी जाते हैं और सिद्धि कर लेते हैं, और बुद्धिहीन आलसी दैवहत लोग सर्वदा फलकी इच्छा ही करते २ प्राणान्त पाय जाते हैं उपाय की तो नाम मात्र भी भावना कभी नहीं जानते, और यह भी समस्त जन स्वीकार करेंगे कि जो बात पूर्वही बिगड़ जाती है उसे फिर बनाना कठिन है और विशेष करके पुरुषार्थ चतुष्टय के साधन का महोपायस्वरूप शरीर का, जिस की रक्षा करने से चारो ही पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं, और जिसकी उपेक्षा से चारो ही पुरुषार्थ रसातल में लीन हो जाते हैं।

* If people cannot all at once conform, as I think they should conform to the directions of Manu and Susruta, and make the age of twelve the earliest.

सो, यहां पर विचारना उचित है कि शरीर कौन वस्तु है ? । इसके उत्तर में आस्तिक, नास्तिक, वैद्य, हकीम, डाक्टर, सबी फिरके के और समस्त ही मत के लोग ऐकमत्य से कहेंगे कि, माता पिता के शुक्र और शोणित से बना, और विविध खाद्य पेय से पोषित, पाञ्चभौतिक ह्रासवृद्धियुक्त एक विचित्र मांस-पिण्ड है जिसके दृष्टान्त देने के अर्थ भूपृष्ठ पर कौन कहै नाकपृष्ठ पर भी कोई वस्तु नहीं देख पड़ती । जिस पिण्ड के भीतर शुक, वामदेव ऐसे विरक्त महानुभाव लोगों के वैराग्यमय चित्त का चित्र बना है; प्रल्हाद, पराशर ऐसे हरिभक्तजनों के भक्तिभाजन अन्तःकरण का चित्र खचित है । और जिस के भीतर भीम जैसे वीर, अर्जुन ऐसे कीर्त्तिमान और विविध विद्याविशारद, कर्ण ऐसे दानशील, दधीचि ऐसे परोपकारी लोगों के समस्त व्यवहार और सदाचार का मूलभूत कोई विलक्षण तत्त्व बैठा है; इसका वर्णन कहां तक हो सकता है, यही संसारस्वरूप महावटवृक्ष का परमनिदान बीज है इसी से आप लोग सन्तोष करिये और यह भी जान लीजिये कि इस शरीर की तुलना में समस्त संसार की समृद्धि अति तुच्छ है । बादशाहों की बादशाही, राजों का राजत्व, विद्वानों की विद्वत्ता, पराक्रमी लोगों का पराक्रम, सबही इस का छोटासा विलास है । बस यही निश्चय करके आज मैं इस बात में तत्पर हुआ हूं कि आप लोगों को इसका कुछ परिचय देसकूं कि शरीर किस चाल से उत्तम होता है । प्रिय भारतवर्षीय जनसमूह ! ध्यान रखना, जबतक बीज अच्छा नहीं होता, तब तक भूमि कभी उत्तम फल नहीं देती, क्या कभी कच्चे बीजसे भी उत्तम फल उत्पन्न हुआ है ? आप लोग अपने छोटे २ बच्चों का विवाह कर देते हैं और कच्ची अवस्था ही में बालक स्त्रीप्रसङ्ग के घोर अनर्थ में पड़ जाते हैं । यह सब जानते हैं कि समस्त ही वस्तुकी एक पूर्वावस्था और दूसरी उत्तरावस्था, इसीप्रकार एक आगमावस्था और दूसरी अपायावस्था होती है । इन में से बाल्यावस्था मनुष्य की पूर्वावस्था होती है और यही अवस्था—

बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, शरीरकी लावण्य, पुष्टि, इन सबकी आगमावस्था होती है । और आगमावस्था ही में यदि कोई व्यय करने लगजाय तो कैसी उस की दुरवस्था होगी ? यह विचार आप स्वयं कर सकते हैं । यदि तालाब में पानी के आगमन ही के समय से प्रवाह होना आरम्भ हो जाय तो कदापि वह तालाब नहीं भर सकता, चाहे कैसे ही वेग से उस में जल का आगमन

क्यों न हो। यही एक दृष्टान्त, बाल्यविवाह की कुरीति से आप लोगों की कैसी हानि होती है, इसे दिखाने को भरपूर है॥

इस अवसर पर कितने देश के शत्रु निज कुलनाशक यह कह बैठेंगे कि "विवाह बाल्य में होता है तो क्या हुआ, स्त्री का प्रसङ्ग तो योग्य समय पर ही होता है," तो यहां पर हम यही कहेंगे कि यह महा ही अनर्थ की बात है कि वृथा किसी की कन्या को बहू बनाय बालवैधव्य के घोर दुःखाग्नि-ज्वाला के सामने हाथ पैर काट के विवाहरूप महाकठोर अनिवार्य लोहे की सांकल से बांध देना, जिस सांकल से बद्ध बालिका को मातृकुल, पितृकुल और भ्रातृ मित्रवर्ग कोई भी नहीं छुड़ा सकते, हां नये समाजी, पुराने ब्रह्मवादी इत्यादि लोग ऐश्वरीशक्ति के बल से भले ही छुड़ाकर घोर अपवाद का सामान जुटा सकें, पर जब यही घोर अनर्थ इस बाल्यविवाह के संनिहित रहता है तो इसे बुद्धिमान भी कभी करें यहा बड़ा अनर्थ है। कितने लोग इस पर आंख मीचकर यह भी कहेंगे कि "संसार में सब ही अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है, यदि तरुण पुरुषका विवाह होय तो क्या वैधव्य भय नहीं है? सुख दुःख तो केवल ईश्वर के अधीन है, हमने अनेक बालकों को देखा है कि जिन का विवाह अत्यन्त बाल्य में हुआ है और वे सब ही प्रकार जन्म भर अच्छे रहे हैं और कितने तरुण भी विवाह के मास ही के भीतर अपनी नवीन तरुणी को छोड़कर यम मन्दिर की यात्रा कर गये हैं, इस हेतु बाल्यविवाह पर दोष देना केवल निरीश्वर जगत् को मानने वाले लोगों ही को शोभा देता है"। इस पर हम बहुत शास्त्रार्थ और विचार न करके इतना ही कहते हैं कि रणजीतसिंह, शिवाजी, और हैदर अली इन तीनों महाशयों ने अपना नाम लिखना भी नहीं सीखा था और बहुत बड़े पुरुष हो गुजरे, यह ऐतिहासिक बात है, इसे सब ही को स्वीकार करना होगा, तो आप अब अपने कुल में किसी को भी लिखना पढ़ना मत सिखलाइये, वरन जुआ और डकैती की शिक्षा दीजिये क्योंकि, इन सब कार्यों में भी अनेक लोग बड़े धनी और नामी हो चुके हैं, विशेष करके हैदर ने इतना नाम और देशसम्पत्ति को जो पाया था सो प्रायः बेईमानी के बल से और शिवाजी ने डकैती से; तो अब आप बेईमानी और डकैती ही के भरोसे से बड़े होने की चेष्टा कीजिये। यदि कहीं इस पर आप भूल कर यह कह बैठेंगे कि, "होना न होना तो केवल ईश्वर के हाथ है, परन्तु मनुष्य को चेष्टा तो अच्छी ही करनी उचित है" तो अब

आप हमारे पथ पर आगये, यही मेरा भी वक्तव्य है कि मनुष्य को चेष्टा अच्छी करनी उचित है; यों तो "बने की बात है" यह मसल मशहूर है। एक समय बड़े सिकन्दर ने किसी डाकू को पकड़ा और उस से पूछा कि तुम ऐसा काम क्यों करते हो ? तब उस ने इस के उत्तर में यही कहा कि "तू बड़ी फौज, बहुत जहाज और बड़े २ सामान लेकर देशों को लूटता है और मैं थोड़े सामान और थोड़े आदमी के साथ उसी काम को करता हूं परन्तु "बने की बात है" तू तो बड़ा डकैत है पर तुझे तो लोग बड़ा बादशाह करके जानते मानते हैं और मुझे डकैत कहते हैं," तो इस दृष्टान्त से माना कि 'बने की बात है' परन्तु चोरी डकैती बुरी है और भले काम तो भले ही है यह सब ही को मानना होगा। तो फिर यह भी आप विचार कर ली जिये कि कदाचित किसी को बाल्यविवाह करने पर भी किसी घटनान्तर से शरीर अच्छा रहा यह बात कदाचित् हो सकती है। परन्तु बाल्य विवाह अनर्थ का हेतु, और तारुण्य का विवाह सर्वथा उचित और शरीर सुख बल का हेतु है, यह तो अवश्य ही मानना होगा। तो अब आप निश्चय कीजिये कि संसार सबही के देशों में बालकों की मृत्यु की अपेक्षा अधिक वय वाले लोगों का मरण अल्प होता है, जैसे २ अधिक वय होता है तैसे २ शरीर चिरस्थायी होता जाता है। इस में आम वृक्ष के पुष्प आने के समय से फल की पुष्टि पर्यन्त अवस्था ठीक दृष्टान्त है; जितने संख्या में पुष्प गिरते हैं उतने टिकोरे नहीं गिरते और जितने टिकोरे गिरते हैं, उतने पुष्ट आम नहीं गिरते और यही मनुष्य की संतति की भी दशा है तो, आप व्यर्थ पौत्र और दौहित्र के मुखनिरीक्षण की इच्छा से बालिका कन्या को एक बालक (जिसे धोती कहां है यह भी ज्ञान नहीं है) के साथ काहे नष्ट करते हैं, उसे तो आप ब्रह्मचर्य में रख कर विद्या सिखलाइये कि जिस में वह लोक द्वय का अभिज्ञ बन जाय और आप का कुलभूषण हो जाय और जगत का भार भूत न होय। यहां पर कितने अल्पबुद्धि, बाल्य विवाह के हठी यह भी कह बैठते हैं कि "यह ब्रह्मचर्य का समय नहीं है, अब तो कलिकाल में बालक अवस्था ही में लड़के जोरू खोजने लगते हैं इस हेतु इन का बाल्यदशा ही में विवाह करना उचित है, नहीं तो बिगड़ जाते हैं"। पत्थर पड़ें, इस बुद्धि पर, एक बालक के ब्रह्मचर्य के निर्वाह कराने में तो पिता माता असमर्थ हैं और विवाह के अनन्तर जब वे दो भये और प्रतिवर्ष तीन, चार, पांच होने लगे

तो उनका पालन पोषण से निर्वाह वे कैसे कर सकेंगे ! बड़ी अंधेर की बात है जो बालक का ब्रह्मचर्य निर्वाह नहीं कराय सकें, वे तब पौत्र दल का भरण पोषण कैसे कर सकेंगे, इसका विचार नहीं करते। यहां पर एक यह भी बात ध्यान देने की है कि मैं तीस और पचीस वर्ष की अवस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य के उपदेश करने में उद्योग नहीं करता, मेरा केवल यही वक्तव्य है कि निज देश के जल वायु क अनुकूल और भोजनाच्छादन के योग्य निज वित्त के अनुसार जिस देश में जितने वय पर यौवन शरीर में दृढ़बद्ध होजाय और अस्थि प्रौढ़ हो जांय, तब आप अपने बालकों की शादी कीजिये जिस में वैधव्य भय भी आपेक्षिक अत्यल्प होजाय, बालकों के अङ्ग भी दृढ़ हो जांय और आगे उनकी संतति भी निरोग दृढाङ्ग * उत्पन्न होय। परन्तु सब देश में पुरुष को स्त्री का प्रसङ्ग अठारह वर्ष की अवस्था के पूर्व कदापि न होना चाहिये, यह सब देश और सब काल का नियम है इसे तो कदाचित् भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये "तिरिया तेरह मरद अठारह" यह प्राचीन काल से पामर पर्यन्त की कहावत प्रसिद्ध है इसे याद रखिये और स्त्रियों को भी विना यौवन आये पुरुष संपर्क अहितहेतु है और सर्वथा धर्मशास्त्र और वैद्यकशास्त्र के विरुद्ध है। यह समस्त वृत्त संस्कृत में हमने विशदरूप से लिखा है उसे देखने से ही यथार्थ परिचय हो जायगा। आज कल्ह के अतिबलिका विवाह के कारण संसार का अस्वास्थ्य होता है और प्रजा अल्पायुष, स्मृतिशक्तिहीन, दीन, विपत्तिग्रस्त होती जाती है इत्यादि सब बात हम ने संस्कृत में वर्णन की है, दैजे में धन ठहरा कर बालकों का विवाह करना अथवा धन लेकर कन्या को देना वा वृद्धावस्था में विवाह करना तथा वर की अपेक्षा बड़े वय की कन्या से विवाह करना इत्यादि भी शास्त्र में निषिद्ध है, यह सब निरूपण किया गया है ॥

अब इस अवसर पर अनेक जन (जिन की समाज में प्रतिपत्ति अल्पहै) असावधानता से बालविवाह के विरुद्ध कानून के शरण लेने का मनोरथ करते हैं और वैदिक पवित्र विवाह विधि को कलङ्कित करके आप भी अपना हृदय-दौर्बल्य दिखाते हैं परन्तु सरकार ऐसी नहीं है कि वह भी अपना दौर्बल्य * दिखावे, वह तो एक बहुत ही उत्तम नीतिपरिपूर्ण विश्वसनीय न्याय से विशाल निरालस और दयावान है, इस हेतु हमें हमारे धर्म के विरोधी अथवा न जानने वाले मिथ्या घमंडी और हमारे पवित्र सनातन वैदिक-

* धर्मशास्त्र में दृढाङ्ग सन्तति उत्पन्न करना लिखा है फिर यह बात बालसंपर्क से क्योंकर होसकता है ॥

* सरकार जिन पर कानून बनाता है उन्हें विना पूछे उस का प्रचार कभी नहीं करता ॥

धर्मपर आघात पहुंचाने की इच्छा करने वाले देशी और विदेशियों का अणुमात्र भी भय नहीं है कि वे हमारा इङ्गलेण्ड में मिथ्या वकालत नामा लेकर कुछ धर्माघात कर सकें तथापि हमें अपनी तरफ से प्रकाशरूप से अपने विवाह इत्यादिक सामाजिक कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिये । यद्यपि हमारे यहां सामाजिक उपदेश देनेवाले नगर के निवासी परमविद्वान् पण्डितों से लेकर ग्रामनिवासी साधारण पाधा पुरोहित पर्यन्त हैं, और वे प्रायः उत्तम ही कार्य कहते हैं, परन्तु अधिक बक २ नहीं करते और न इंगलेण्ड में जाते और न तो इधर उधर अपना पत्र व्यवहार करके अपने मांथे में देश हितैषी का कलंगी खोंसते हैं, केवल उन में इतनी त्रुटि है कि न तो वे कोई दिखाऊ यत्न करते और न तो समाज के अगुवा होने का घमंड दिखाते तथापि कार्य करते ही हैं । वस्तुतः उन में और कोई त्रुटि नहीं है । प्रतिदिन सर्व बुद्धिमान् ब्राह्मण बालविवाह; अति बालिकाविवाह, और वृद्धविवाह को अपने वृद्धविवाह को अपने घर से और वेदानुयायी चातुर्वर्ण्य समाज से उठाते जाते हैं, और भी जो कुछ समाज में दोष पाये जाते हैं उन्हें भी शनैः २ सुधारते हैं । अति बालिका से संपर्क करना; यह तो वेदानुयायी उच्चजातीय चातुर्वर्ण्यमें संभव ही नहीं है, क्योंकि गरीब से गरीब और अपठित के घर भी स्त्रियों के नवीन ऋतु होने पर पुष्पोत्सव होता है जिसे "फूलचौक" कहते हैं । और पुष्प तो स्त्रियों को बाल्य से उत्तीर्ण होने ही से होता है। यह बात सर्वथा सुपरोक्षित है और ऋतु होने के अनन्तर किसी शुभमुहूर्त्त से स्त्री की शुद्धि के पश्चात् गर्भाधान संस्कार होता है, फिर क्योंकर हम लोगों में बालिका संपर्क की संभावना हो सकती है ? यह संभावना तो उन लोगों में हो सकती है जिन के यहां स्त्री संभोग पशुसंप्रदाय और केवल इन्द्रियपरायणता ही से हो होगा, हमारे वेदिक मार्ग तो यह परमपवित्र संपर्क बड़े २ विधि विधान से वैदिक मन्त्रपर्वक होता है ॥

रहा अब बालविवाह तो उस की यह दशा है कि कितनी तो हमारे देश में ऐसा संप्रदाय हैं कि जिन में युवावस्था ही में विवाह पुरुषों का होता है । जैसे कि मिथिलादेश में मैथिल मात्र का विवाह २० बीस वर्ष की अवस्था के पहिले नहीं होता (बलिक ३० और ३५ तथा चालीस तक होता है; जिसे कि समयानुसार हम उत्तम नहीं समझसकते) और यह तो स्वाभाविक वार्ता है कि जब जिस देश में बड़ी अवस्था के पुरुष का विवाह होगा तब उस देश में अतिबालिका के संग नहीं हो सकता, एक बड़े विद्याप्रधान मिथिला देश की तो वार्ता हो चुकी रहा कान्यकुब्ज देश, सो वहां तो बालिकाविवाह की कौन कथा, वृद्धकुमारी का भी विवाह होता है, जिस के रोकने का

उपाय कान्यकुब्ज भी करते हैं और अन्य लोग भी करते हैं और आशा है कि शीघ्र ही हम लोग इस अनर्थ को निवृत्त कर सकेंगे। यह तो ईश्वर का नियम है कि जहां बड़ी अवस्था में कन्याओं का विवाह होता है वहां प्रायः वर छोटे नहीं हो सकते तो कान्यकुब्ज देश में भी विवाह समय प्रायःठीकहीहै॥

रहा राजपूताना तो, वहां पचास वर्ष के पूर्व, सर्व ही वर्णों में अधिक वय के वर के संग अधिक वय की कन्या का विवाह होता था, परन्तु जब से सरकार अंगरेज की अमलदारी में वहां के वैश्य कलकत्ता, बंबई, मद्रास, चीन, ब्रह्मा, इत्यादि मुलकों में जाकर तिजारत के कारण धनी होने लगे, तब से उन्हें उन के अभाग्यवश (१) बाल्यविवाह ने घेरा है बल्कि वृद्धविवाह (२) और बड़ी उमर की कन्या के संग छोटी वय के लड़के के व्याहरूप घोर अन्धकार ने भी उन्हें दबाया है और उन के संग उस देश के अपठित ब्राह्मणादिक भी इस दुराचार से दूर नहीं हैं, परन्तु परमेश्वर की दया से राजपूत जाति में तो यह दुराचार नहीं है और आशा है कि यह जाति इस दुराचार से दूर भी रहेगी। और राजपूताना के निकटस्थ होने ही के कारण दिल्ली के प्रान्त और ब्रज के निकटस्थ देशों में भी यह बाल्यविवाह की आग फैली थी, परन्तु धन्यवाद है भारत की ब्राह्मणमण्डली को कि उस ने इस के रोकने के उत्तम २ उपाय किये हैं और सुफल भी होते जाते हैं। पञ्जाब में भी युवावस्था ही के वरवधू का विवाह होता था और अभी अतिबाल्यावस्था में नहीं होता, परन्तु कुछ रीति बिगड़ गई है सो अब पठित ब्राह्मण मण्डली ने अपनी उपदेश वीरता से उसे भी सुधार देने का यत्न कियाहै और नित्य २ सामाजिक संशोधन होते जांयगे क्योंकि वहां के रईस लोगों की भी इस तरफ विशेष दृष्टि है॥

बङ्गदेश के विषय में हम यही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वहदेश धर्मशास्त्र की मर्यादा रखकर अपना साजिक संशोधन कर लेवे, और आशा है कि उड़ीसा भी बङ्गानुयायी होवे। और यही वक्तव्य मद्रास और बम्बई के उन प्रान्तों के विषय में है जहां संस्कृत विद्या जीर्ण शीर्ण है और उस के स्थान पर नई २ विद्या और ख़यालातें सरगर्म हैं॥

अब रहा नर्मदा पार और गुजरात तो, वहां की इन दिनों यह दशा है कि एक ओर तो धर्मशास्त्र के नाम ही पर घृणा करते हैं और एक ओर वे लोग हैं जो जानते है कि सात आठ वर्ष की कन्या के विवाह न करने से न तो कोई धर्म की हानि है और न समाज की क्षति ही है, परन्तु हठ वश अतिबालिका के विवाह में वैधव्यदोष अधिकतर देखते हैं तो भी जानबूझ

कर आग में गिरते हैं। यद्यपि नर्मदा पार में बालकों का विवाह प्रायः उचित समय पर होता है न कि अठारह वीस वर्ष के भीतर, परन्तु उधर कुछ कन्याओं के वय में अधिक करने ही से ठीक होजाता है उस पर ध्यान देना अत्यावश्यक है ॥

यहां पर मुझे उन दोनों दलों का (जो केवल जनमाना आइनी विवाह चाहते हैं, और वे जो शास्त्र का तात्पर्य के जान पुरानी लकीर के फकीर हो वृथा अतिबालिका के विवाह में आग्रह किये हैं) हठ देख बड़ा कष्ट होता है, और यही कहना पड़ता है कि ये दोनों दल मिल के काम करें तो सोना और सुगन्ध हो जाय इस के अर्थ प्रतिनगर ग्राम देशों में पञ्चायत होकर धर्मशास्त्र के अविरुद्ध तत्तद्देश के जल वायु के अनुसार विवाहकाल (३) निर्णय होजाय तो, जो आज बालविवाह के कारण हमारे देश में बल, वीर्य, पराक्रम, तीक्ष्ण बुद्धि, और नवीन शास्त्रीय तथा लौकिक कल्पना शक्ति का अभाव हो गया है और नाना प्रकार के अज्ञातनाम रोग उत्पन्न होते हैं वे एकान्ततः मिट जायं ॥

आशा है कि हमारे देशभाई और पुरानी पण्डितमण्डली (जिसे आज भी लोग भारतवर्ष में बहुत मानते हैं) इसे गौरव से विचार करेंगे और हठ न करके ईर्ष्या और अन्धकार को त्याग यथार्थ कार्य का अनुष्ठान करेंगे ॥

ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा बनारस ।	आप लोगों का वही शुभचिन्तक रामभिश्र शास्त्री

गुरुमन्त्र–मीमांसा ॥

गुरु मन्त्र–कीमीमांसाके पहिले,गुरुकिसे कहतेहैं इस का विचार करतेकरनाचाहिये इस "गुरु" शब्द की परिभाषा हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने यों कियी है कि:–

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरु रुच्यते ॥ १४२ ॥
पुनः–पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ! ॥
प्रज्ञां ददाति * चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते॥३॥ बाल्मी०अ०स०१११

---

(१) इस के अतिरिक्त इन में सर्व ही वैश्य गुण हैं परन्तु "जहां गुलाब तहां कांटे" ।

(२) होली के दिनों में जहां मारवाड़ी वैश्य, और ब्राह्मणों को जम घटा होता है वहां (बाला ने परणाय जोवनों खोये है) इसे डफ से गाते हैं ॥

(३) जैसा कि ऋतु के पूर्व इस पुस्तक में काल निर्णय किया है उसे देशानुसार कर लेना ही अवसिष्ट है ॥

(४) आचिनोति हि शास्त्रार्थ माचारे स्थापयति ॥ स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः परिकीर्त्त्यते ॥१॥ ऐतरेयारण्यके अ० २ के० सायणभाष्यः । यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः ॥१३॥ स हि विद्यातस्तं जनयति ॥१५॥ तच्छ्रेष्ठं जन्म ॥१६॥ आपस्तम्बीय धर्मसूत्रे प्र० १ प० १ खं० १

पुनः-त्रयः पुरुषस्यातिगुरवोभवन्ति; माता, पिता, आचार्यश्च ॥३१॥ विष्णु स्मृतिः
पुनः—कस्मादाचार्यः आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा॥
निरुक्त प० अ० १ पा० २ खं० २

अर्थात्—गर्भाधानादि संस्कार करके पुत्र की पालना करने से पिता को भी गुरु कहते हैं। यद्यपि माता पिता आदि भी बालक के गुरु हैं। परन्तु वेदादि विद्याओं के पढ़ाने से आचार्य ही मुख्य गुरु हैं ॥ १४२ ॥ पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और आचार्य बुद्धि को देता है, जिस से शिष्य को सत्यासत्य का विवेक होता है—इस से आचार्य ही को गुरु कहते हैं ॥ ३ ॥ मनुष्य के तीन गुरु होते—माता, पिता, आचार्य ॥ ३४॥ अब निरुक्तकार का मत सुनो। आचार्य्य उस को कहते हैं जो आप सर्व विद्यार्थ सम्पन्न हो के मनुष्यों को अत्युत्तम आचार सिखाकर सर्वार्थ सम्पन्न करता है ॥ इत्यादि अनेक प्रमाणों से आचार्य्यों ही का गुरु होना सिद्ध होता है, और प्राचीन इतिहास के देखने से भी यह बात सिद्ध होती है कि पूर्वकाल में भारतवर्ष में ब्राह्मण पुरोहित आचार्य्य हुआ करते और वैदिक गुरु मन्त्र गायत्री का उपदेश करते थे। जैसा कि नीचे लिखे प्रमाणों से सिद्ध होता है ।

सद्यस्त्वेव गायत्रीन् ब्राह्मणायानु ब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥७॥ त्रिष्टुभꣳराजन्यस्य ॥ ८ ॥ जगतीं वैश्यस्य ॥ ९ ॥ सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥१०॥३॥

हरिहरभाष्यम्—सद्य एव गायत्रीं ब्राह्मणायानु ब्रूयात् कथयेत् कुतः आग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः। आग्नेयो अग्निदैवत्यः ब्राह्मण इतिवेद वचनात्। त्रिष्टुभꣳराजन्यस्य जगतीं वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीम्। क्षत्रियस्य त्रिष्टुभं त्रिष्टुप् छन्दोयस्याः सा त्रिष्टुप् तां त्रिष्टुभं सावित्रीम्। जगती छन्दो यस्याः ऋचः सा जगती तां जगतीं सावित्रीं वैश्यस्य विशः सावित्रीं मनु ब्रूयादित्यनुषज्यते। सर्वेषां वा गायत्रीं यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्री मेव गायत्री छन्दसका मेव सावित्रीं सवितृदेवताकां तत्सवितुरिति सकल वेदशाखाम्नातां ऋचमनु ब्रूयात् ॥ पारस्करगृह्यसूत्रे।

अर्थात्ः—गायत्री ब्राह्मण को, 'त्रिष्टुप्' क्षत्रिय को और 'जगती' वैश्यको उपदेश देवे। या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्ण को गायत्री ही का उपदेश करे। यह पक्ष (१० सूत्रोक्त) वेद की सब शाखाओं के अनुकूल है। इसी प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र में भी सब के लिये गायत्री मन्त्र का विधान है।

"अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवीत्विति ॥ ३८ ॥ तस्मा

अन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चश ऋकश इति महाव्याहृतीश्च विहृताओंकारान्ताः ॥३९।४०॥ गो० प्र २ खं० १०

भा०—(उपनयन समय) अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़कर नम्रता से प्रार्थना करे कि हे गुरो ! मुझे वेद पढ़ावें, गायत्री उपदेश करें ॥३८॥ इसप्रकार बालक कर्त्तृक वेदाध्ययन और उस का प्रारम्भ सूचक सावित्री मन्त्र का, आचार्य्य एक २ चरण कर उपदेश करे ॥ ३९ । ४० ॥

यहां–यह नहीं लिखा गया है कि–ब्राह्मण आदि भिन्न २ वर्णों को गायत्री, त्रिष्टुप् आदि भिन्न २ मन्त्रों का उपदेश करे, किन्तु सब के लिये एक ही गायत्रा गायत्री के उपदेश का विधान है।

क्या स्त्री को भी पुरुष के समान गुरु से–शिष्य होना चाहिये ?

गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि स्त्रियों का केवल एक पति ही गुरु है, अन्य नहीं, बलके इस बात को अन्यान्य प्राचीन एवं नवीन सब ही शास्त्रों में निषेध हैं कि "पतिरेको कुलस्त्रीणां" अर्थात् स्त्रियों का गुरु, केवल पति ही है, जो कुछ सांसारिक या पारमार्थिक कार्य हो, सब ही पति के उपदेशानुसार स्त्री करे। स्त्री को तीर्थ गमन, व्रतोपवास, सब ही का निषेध है, केवल पति ही की सेवा करना उस का प्रधान कर्त्तव्य है।

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥ गो० प्र० २ खं० ३८ ॥

'अनमन्त्रिता' सा वधूः 'गोत्रेण' प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती 'गुरुं' पतिम् 'अभिवादयते' ॥ १२ ॥

पत्नी इस प्रकार वाक्य बोलती हुयी अमुक गोत्रा, अमुक नामवाली आप को (पति को) अभिवादन करती हूं" चरण छूकर प्रणाम करे। अंगरेजी चाल के अनुसार "गुडमौनिंग" या केवल नमस्ते न करे) इसी प्रकार अन्यान्य गृह्यसूत्र, धर्मसूत्रों में प्रमाण हैं।

॥ मधुपर्क में गौ का क्या होता था ? ॥

आचार्य या ऋत्विक् आदि बड़े पुरुष के आने से उन की पूजा*मधुपर्क-विधि से करनी चाहिये, यह हमारे शास्त्रों का लेख है। और प्राचीन समय जब आर्य धर्म्म यथार्थ उन्नति शर चढ़ा हुआ था, उस समय वैसी ही विधि से पूजन भी हुआ करता था, यह बात भी इतिहासों में प्रसिद्ध है। अब वह बात अत्यन्त ही अपरिचित हो गयी अतएव उस विषय में कई प्रकार के संशय, भी उत्पन्न होने लगे हैं। १ आसन, (विष्टर) २ पाद्य, ३ अर्घ्य, ४

* राजर्त्विक स्नातकाचार्य गुरुश्वसुर मातुलाः । मधुपर्केण संपूज्याः परिसम्वत्सरात्पुनः । अ०३ । ११९

आचमन, ५ मधुपर्क, एवं गौ, ये छः वस्तु आगत महात्माओं के सत्कारार्थ दियी जाती थी। (१) बैठने के लिये आसन, पैर धोने के लिये "पाद्य," हाथ धोने को "अर्घ्य"; मुख शुद्धि के लिये "आचमन," भक्षण के लिये दधि, घृत, मधु आदि से बना "मधुपर्क" और भेंट के लिये 'गौ', ये छःओं बात होने से वह पूजन साङ्गोपाङ्ग होता। अब यहां यह प्रश्न है कि मधुपर्क में जो गौ दियी जाती थी उस का क्या होता था? क्या यह गौ आये हुये महात्मा को भेंट दियी जाती थी, या उस गौ का बध करके आये हुये अतिथि को उस उस का मांस खिलाया जाता? वेद के वाक्य ऋषियों के धर्मशास्त्र, और कल्पसूत्रों की जो रीति और प्रसिद्ध पण्डितों के उदाहरण देखते हैं तो उक्त दोनों ही बातें होती थीं यही प्रतीत होता है क्योंकि "आतिथ्येष्टि" प्रकरण की ब्राह्मण श्रुति में (२) यह लिखा है कि जब किसी मनुष्य का राजा आवे या और कोई पूज्य पुरुष अपने घर पर आवें तो, कई लोग क्या तो किसी उक्षा (बैल) को, या बन्ध्या गौ को छेदन कर उस का सम्मान किया करते, इत्यादि। स्मृति में लिखा है कि (३) क्या तो किसी बड़े वृषभ, को या कोई बड़े बकरे को आये हुए श्रोत्रिय के लिये बलि देवे, कल्पसूत्रकार आश्वलायन भी लिखते हैं कि आगत श्रोत्रिय यदि गोबध कराया चाहे तो "नष्ट हुआ मेरा पाप, पाप मेरा नष्ट हुआ"-(४)इस मन्त्रको जपके 'हां, करो' इसप्रकार बधकी आज्ञा दे। तथा सामवेदीय लाट्यायनसूत्र में लिखा है, कि जब गौ सम्मुख लाके खड़ी कर दियी जावे, तब उसके बधार्थ अतिथि यह वाक्य बोले कि "हां, करो" इत्यादि विविध वाक्यों से प्रतीत होता है कि मधुपर्क के समय अवश्य गौ का बध होता था, यदि कल्पसूत्रोक्त"कुरुत" कारयिष्यन्(५)इत्यादि पदों का और ही कुछ अर्थ है बध अर्थ नहीं, ऐसा कहो तो, आश्वलायन आगे लिखते हैं कि (६) विना मांससे मधुपर्क ही नहीं होता और किसी पशु के मांस का वहां कहीं विधान है नहीं सिवाय गौ के। सुतरां उसी का वहां विधान समझना होगा इत्यादि प्रमाण से प्रतीत होता है कि मधुपर्क में गौबध होता था। परन्तु उन्हीं

(१) विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्को गौरितिप्रत्येकं निवेदयन्ते। आश्वलायन गृ० । १ । २४ । ७

(२) तद्यथैवान्यं मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन् वार्हत्युक्षाणं वेहतं वाक्षदन्ते॥ आ० शतपथ ब्राह्मणः

(३) महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् या० स्मृ० आ० श्लो० १६

(४) हतोमे पाप्मा पाप्मा मे हतइति जपित्वों कुरुतेति ब्रूयात्तां कारयिष्यन् आ० गृ० सू० १ । २४ । २४

(५) कुरुतेति गविप्राप्तायां ब्रूयात्॥ ला० श्रौ० सू०

(६) नामांसोमधुपर्कः। आश्वला० गृ० १। २४ । २६

श्रुति स्मृति और कल्पसूत्रों की सम्मति से यह भी सिद्ध होता है कि मधुपर्क में गोबध नहीं भी होता था ? श्रुति में लिखा है (१) कि " यह गौ रुद्र-देवताओं की माता है, वसु देवताओं की पुत्री है, आदित्य देवताओं की बहिन है और अमृत स्वरूप दुग्ध के उत्पत्ति का स्थान है। इसलिये मैं ने जिज्ञासमान जनों के प्रति वार २ कहा है कि इस अखण्डनीय निरपराध गौ का बध मत करो "इत्यादि" । तथा स्मृति में लिखा है कि (२) जो शरणागत को मारे, या लोक जननी गौका बध करे, वे महा पापी होते हैं। तथा कल्पसूत्रकार ने जैसा बध पक्ष लिखा है (३) यथा "माता रुद्राणां" इत्यादि मन्त्र को जप के कहे कि "हां, इस को छोड़ दो यह घास चरे" लाटयायन ने भी ऐसा ही कहा है (४) इत्यादि। दोनों पक्ष के वाक्य देख के यही सिद्धान्त होता है कि गौ का बध और उत्सर्जन दोनों ही बातें होती थीं। यद्यपि स्थान २ में गौका नाम "अघ्न्या" और "अदिति" आते हैं जिन से वेदोक्त मत में गौ की अबध्यता और अखण्डनीयता निश्चित है परन्तु "तद्यथैवान्ये" इत्यादि उक्त ब्राह्मणोक्त वाक्य में जब स्पष्टतः गोवध का विधान लिख दिया है तो उक्त नाम लिखने ही से जो गोबध न किया जावे, यह एक मात्र सामान्य बात है जैसे "न हिंस्यात् सर्वभूतानि, यह श्रुति कहती है कि किसी जीव को भी हिंसा मत करो, किन्तु "अग्नीसोमीयं पशु मालाभेत" यहां "अग्निसोमयागी" में श्रुति, पशुहिंसा का विधान करती है।

मीमांसक लोग जैसे यहां पूर्व श्रुति को सामान्य विधि और अग्रिम को प्रबल और यथार्थ समझते हैं। इसी विशेष विधि मान के पूर्व श्रुतिकी उपेक्षा कर, यागीय हिंसा विधि ही को प्रकार यहां भी हिंसा पक्षवादी लोग (तद्यथै०) श्रुति के बल से हिंसापक्ष ही को यथार्थ समझते हैं, सुतरां उन के मत से जो मधुपर्क में श्रौत गौहिंसा होती थी वह कुछ अयोग्य नहीं समझी जाती थी। यद्यपि श्रुति में उत्सर्जन पक्ष भी लिखा है किन्तु जो लोग मांसभक्षी थे, वे इस (त्याग पक्ष) को पसन्द नहीं करते। मांस ही का देना और खाना अतिथि का सत्कार समझते थे। सुतरां मांस भक्षियों के लिये जहां पूज्य और पूजक दोनों मांस भक्षी होते, वे, मधुपर्क में गोबध होना अच्छा समझते और

---

(१) माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसा रुद्राणां मामृतस्य नाभिः अस्तुवोचं चिकितुषेजनाय मागामनागामदितिं बधिष्ट॥

(२) शरणागतञ्च योहन्याद्गां वा लोकस्य मातरम् ॥

(३) माता रुद्राणा दुहिता बसूनामिति जपित्वोत्सृजतेतितामुत्सि सृक्षन् ॥

(४) उत्सृजत गां तृणान्य त्तु गौरिति वा ॥

जो लोग मांसभक्षण से निवृत्त, थे, वे, उत्सर्जन अर्थात् मधुपर्क के समय गौ का बध न करके त्याग ही को उत्तम समझते। इसी बात का आभास महाकवि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित नाटक में दिखाया है (१) अस्तु। यदि ऐसा कहो कि मांसभक्षी सभी लोग मधुपर्क में गोबध करते थे यह भी ठीक नहीं, बहुत लोग "अघ्न्या" नाम की लाज करते, किन्तु "अमांसो मधुपर्को न भवति" इस बात के पालनार्थ बकरे का मांस अवश्य भक्षण करते थे, इसलिये "महोक्षं वा महाजं वा" यहां स्मृति में याज्ञवल्क्य ने गोबध से निवृत्ति लोगों के लिये "महाजं" इस पद से बकरे का बध भी लिखा है। और याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याता मिताक्षराकार ने तो इस का अभिप्राय ही दूसरा लिखा है (२)। वह लिखते हैं कि श्रोत्रिय के आगमन समय में न तो कुछ बैल, या बकरा, उन के भेंट करे और न उस का बध ही करे। जब श्रोत्रिय पूजन, गृहस्थमात्र का धर्म है, तो प्रत्येक श्रोत्रिय के लिये बेचारे गृहस्थ कहां से बैल और बकरे ला सकते हैं, क्योंकि कोई श्रोत्रिय तो गृहस्थ के घर में नित्यप्रति आया ही करेगा। यदि बधपक्ष की बात की बात कहे, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जिस बात से स्वर्ग की हानि और लोक निन्दा खड़ी हो जावे, वह बात चाहे धर्म कह कर विहित भी हो, तौ भी करनी उचित नहीं, (३) इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य हैं।

यद्यपि उक्त दोनों ही पक्ष सदा से चले आते हैं, किन्तु उन में सत्यत्व एवं मिथ्यात्व का निर्णय करना मीमांसा शास्त्र का काम है, अतएव हम मीमांसा शास्त्रके अनुसार ही उक्त बातका विचार करते हैं। केवल यही बात मान लें कि ये दोनों बात सदा से ही होती हैं, तो दोनों ही प्रमाण या यथार्थ हैं। यह नहीं हो सकता, क्योंकि भली बुरी दो प्रकार की बातें सदा ही होती रही हैं जिस में सदा की बात मान के चोरी या व्यभिचार आदि बुरी बातें कभी अच्छी या प्रमाण नहीं हो सकतीं। यदि कदाचित वेद प्रमाण से गोबध प्रमाण कहो तो वेदप्रामाण्य का विचार तो मीमांसा के

(१) भाण्डयनिः। समांसोमधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्य मानाः श्रोत्रियायाऽभागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिन तं हि धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति—अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पमृषयो मन्यन्ते निवृत्तमांसस्तु तत्र भगवान् जनकः। चतुर्थाङ्के ॥

(२) महान्त मुक्षाणं धौरेयं महाजं वा श्रोत्रियाय उक्तलक्षणाय उपकल्पयेत्। भवदर्थ मयमस्माभिः परिकल्पित इति तत् प्रीत्यर्थं न तु दानाय व्यापादनाय वा। यथा सर्वमेतद् भवदीयमिति। प्रतिश्रोत्रिय मुक्षाऽसम्भवात्। "अस्वर्ग्यं लोक विद्दिष्टं धर्म मप्याचरेन्नतु। इति निषेधाच्च ॥

(३) "लोकविक्रुष्ट मेवच,, मनुस्मृतौ ॥

अधीन है! कौनसा वेदवाक्य किसी रीति से प्रमाण हो सकता है, इस का निर्णय विना मीमांसा के नहीं हो सकता, यदि सब ही वेदवाक्य प्रमाण हो जावें तो "वनस्पतयः सत्रमासत" "सर्पाः सत्रमासत" अर्थात् वृक्षों ने यज्ञ किया, इत्यादि वाक्यों का भी प्रमाण होना चाहिये, परन्तु इन का प्रमाण नहीं माना गया है, क्योंकि अचेतन वृक्ष आदि यज्ञ नहीं कर सकते। उक्त वाक्य का प्रामाण्य रखने के लिये भगवान् जैमिनि—कहते हैं (१) कि "समस्त वेद का तात्पर्य्य कर्म्म कराने में है, जिन वेद वाक्यों में कर्म की विधि नहीं पायी जाती वे सब अनर्थक वचन हैं, किन्तु विधि वाक्य के साथ जहां उन की एकता हो जाती है, तो वे भी वाक्य प्रमाण हो सकते है, अन्यथा नहीं। यद्यपि अचेतन वृक्ष यज्ञ नहीं कर सकते तथापि इस वाक्य से यज्ञ विधि की प्रशंसा है, जैसे कोई कहे कि देखो! "फलवान् होने से वृक्ष भी अपना सिर झुका लेते हैं" तो इस वाक्य का तात्पर्य्य यही है कि ऐश्वर्य्यवान् को सदा नम्र ही रहना चाहिये इत्यादि, इसप्रकार यहां भी यही तात्पर्य्य हैं कि अचेतन वृक्ष भी जब यज्ञ करते हैं, तो चैतन्य मनुष्य को तो वह अवश्य ही करना चाहिये। इसी अभिप्राय से जैसे "वनस्पतयः सत्रमासत" इस वाक्य को सार्थक कियाहै, वैसे यहां भी विचारना चाहिये।

"तद्यथैवान्ये०" इत्यादि वाक्यों में जो गोवध से आगत महत् पुरुषोंके पूजन करने का लेख आता है, इस का भी तात्पर्य्य कुछ गोवध करने पर नहीं है। किन्तु उस का तत्त्व यह है कि वह "आतिथ्येष्टि" प्रकरण का वाक्य है, वह प्रकरण अतिथि पूजन का है, वहां जितने का जितने वाक्य हैं, उन का तात्पर्य्य अतिथि के उत्कृष्ट पूजन एवं उस की स्तुति में है, अतएव उक्त वाक्य का भी यह अभिप्राय है कि जब गौ की हिंसा करके भी लोग अतिथि का पूजन करते कराते हैं,तो अन्यान्य रीति से तो सभी प्रकार उसे (अतिथिपू०) करना ही चाहिये बस! यही बात उक्त श्रुतिमें है, कुछ गोवध का विधान नहीं है, यदि उक्त वाक्य को गोवध का विधान मानें तो "मागा मनागामदितिम्वधिष्ट" इस हिंसा निषेधक श्रुति वाक्य का विरोध होवेगा, अतएव यहां यह व्यवस्था समझनी चाहिये कि हिंसा बोधन करने वाला उक्त वाक्य केवल अर्थवाद वाक्य है। और हिंसा विधान की पोषक कोई युक्ति उस में लिखी नहीं किन्तु "मगामना गाम्" इत्यादि वाक्य विधि है। और उस में "अनागाम्" अर्थात् "निरपराधिनीम्" यह हिंसा निषेध की

(१) आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्य मत दर्थानाम्—विधिनात्वेक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥

पोषक युक्ति भी लिखी है अतएव पहिला वचन निर्बल एवं "हिंसा निषेधक वचन प्रबल है। तथा यह भी एक मीमांसाशास्त्र का मत है कि जिस वाक्य में "यत्" "तत्" "अन्य" "इव" और "अदः" इत्यादि शब्द आते हैं, वह वाक्य विधि वाक्य के आगे निर्बल पड़ जाता है। अत एव यहां भी "तद्" "यथा" "अन्य" इत्यादि पद घटित "तद् यथै वान्ये०" इत्यादि गोबध-सूचक ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा "मागा मनागा मदितिं वधिष्ट" इस संहितोक्त विधि वाक्य का विशेष प्राबल्य है, सुतरां जो लोग हिंसा एवं मांस के लोलुप थे और इस मीमांसाशास्त्र के गहन आशय को न समझते, वे ही लोग पहिले अतिथि पूजन में गोहिंसा या किसी अन्य जीव की हिंसा करते, परन्तु शास्त्रानुसार मुख्य बात तो हिंसा का निषेध पक्ष या उत्सर्जन पक्ष ही प्रमाण है, बध पक्ष प्रमाण नहीं * ।

** श्री रामचन्द्रायनमः ।

स्वस्ति श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मणे शुभ माशीः ।

तामसपूजापेक्षया सात्त्विकपूजा देवताया अधिक सन्तोषाय पूजयितु-श्चाधिककल्याणाय भवतीति ममापि सम्मतम् । परं मूल्यद्रव्ये न्यूनता न करणीया वासनावैचित्र्येण तामसप्रवृत्तावेव विश्वासभाजान्तु सात्त्विके दृढश्रद्धा सम्पादनं विना प्रवृत्तिपरिवर्त्तनं न कार्य्यम् । इति शिवम् भाद्र शुक्ल ७ रविः ॥

श्री पण्डित शिवकुमार शर्म्मा ।

भावार्थः—तामस पूजा की अपेक्षा सात्त्विक पूजा देवता के सन्तोष एवं पूजा करने वाले का कल्याण का निमित्त होता है। इस में मेरी भी सम्मति है। परन्तु पूजा के मूल्य द्रव्य में कमी न करनी वासना की विचित्रता से तामस प्रवृत्ति में विश्वास करने वालों की, सात्त्विक में दृढ़श्रद्धा के विना प्रवृत्ति का परिवर्त्तन न करे ॥

पशुसंज्ञपन वा यज्ञ में हिंसा ॥

श्री १०८ पं० भीमसेन शर्म्मा जी की सम्मति ॥ (आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र भूमिका पृ० ४-५)

---

* यह यज्ञ में हिंसा विषय पर सम्मति सुप्रसिद्ध सम्पादक "धर्म दिवाकर (भाग ४ मयूख ४ सम्वत् १९४३ पृष्ठ १३२—३७) " की है ॥ यह पत्र कलकत्ते से निकलता था, अब बन्द हो गया ॥

** मध्य हिन्द में एक सुठालियाँ—छोटी सी रियासत है, यहां के माननीय श्रीमान् राजा सुठालियाधीश ने श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जीं से नवरात्रि के समय दुर्गा पूजा में बकरे आदि के बलि की प्रथा रोकने म शास्त्रीय व्यवस्था मांगी थी जिस पर उक्त पण्डित जी ने इस अंश में सम्मति लेने के लिये बनारस के सुप्रसिद्ध श्रीमान् पं० शिवकुमार शास्त्री जी से पत्र द्वारा पूछा था इसी पत्र का उत्तर ऊपर छपा है ॥

हमारे पाठक महाशय इस बात का भी विशेष ध्यान रक्खें कि इन सूत्र ग्रन्थों को जब हम ठीक प्रामाणिक मान लेते हैं तब यह सिद्ध है कि जिस देश काल में और जिस रीति से जो काम, शास्त्र में, जिस के लिये कर्त्तव्य कहा है, वह उसी देश काल में, उसी रीति से किया हुआ, उसी मनुष्य के लिये उचित धर्म है। अन्यथा किया हुआ, वही अधर्म हो जाता है। जैसे अपने शयन स्थान में ऋतु काल में रात के समय विवाहित स्त्री से गमन करना गृहस्थ के लिये धर्म और गृहस्थ वैसा न करे, तो अधर्म है। ब्रह्मचारी संन्यासी को वैसा करनेसे अधर्म है, तीर्थ यात्रादि देश में, वन में प्रातःकालादि दिन में गृहस्थ को स्वभार्या गमन में भी अधर्म है। यदि शास्त्र की आज्ञा न मानें, तो धर्म, अधर्म, कुछ नहीं बनता। रोना सर्वत्र बुरा समझा जाता है, परन्तु (अन्यत्र त्वद्रुदत्याः संविशन्तु) वेद प्रमाणानुसार पिता के घर से पति-गृह को जाती हुयी कन्या का रोना अच्छा माना जाता है। गाली देना सर्वत्र बुरा काम है, पर विवाह में स्त्रियां तथा पुरुष गालियों को शुभ मानते हैं। इसी के अनुसार यज्ञादि में पशुओं का आलम्भन भी पूर्वकाल में बुरा नहीं माना जाता था। परन्तु लोक रीति से अपना मांस बढ़ाने के लिये शास्त्र विरुद्ध पशु-हिंसा अत्यन्त बुरी मानी जाती थी। अब कुछ ऐसा समय आगया है कि शास्त्र में लिखी बातों से तो लोग अधिक चौंकते हैं, परन्तु मांसहारी लोगों के लिये नित्य २ हज़ारों गौ आदि पशु मारे जाते हैं, जिस को सभी जानते हैं, उन से इतने नहीं घबराते, पर जब ऋषि आचार्यों ने ऐसा विकराल समय आते देखा तब पहिले से ही (लोकविक्रुष्टमेवच) लिख गये कि जो धर्म जिस समय लोक में बुरा समझा जावे, उस समय वह कर्त्तव्य नहीं है, इस लिये "पश्वालम्भ" कर्म इस समय कर्त्तव्य नहीं है। इस कारण ऐसे विचार इन ग्रन्थोंमें देखकर उद्वेग वा संकोच नहीं करना चाहिये। देखिये विवाह यज्ञोपवीत की सभी पद्धतियों में (मम व्रतेते हृदयं०) मन्त्र से कन्या के हृदय का स्पर्श वर करे ऐसा लिखा है। सो पहिले लोगों का सिद्धान्त तो (अर्थ कामेष्व सक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते) के अनुसार था कि धर्म के सामने लोभ और कामासक्ति उन के विचार से पृथक् सूर्य के सामने अन्धकार के तुल्य समूल नष्ट हो जाती थी, तब विवाह के समय कन्या के हृदय का स्पर्श करने में कुछ भी संकोच नहीं होता था, पर अब ऐसा करने में सभी को संकोच जान पड़ता है। सो इसका कारण अन्तःकरण का काम लोभादि से दब जाना है। वैसे पश्वालम्भ में अन्तःकरण में शुद्ध धर्मभाव न रहने से लज्जा भय वा संकोच होता है। इसीलिये हम लोग इन कामों के अधिकारी नहीं रहे।

सारांश यह है कि हमारे पाठक महाशय (पशुसंज्ञपन) कर्म को अपने विचारानुसार सर्वथा अनुचित ही समझें तो भी यह समझलें कि हमसे ऐसे कर्म करने करानेका कोई आग्रह भी तो नहीं, करता, प्रत्युत धर्मशास्त्र मना करता है इसलिये हमको ग्रन्थोंमें लिखेहोने मात्रसे दोष करना व्यर्थ निष्प्रयोजन है। हमको अपनी इष्टसिद्धि के लिये समयानुसार जो २ बातें इन ग्रन्थोंमें उपकारी प्रतीत हों, उनसे लाभ उठाना चाहिये। सब काम सब देशकालों में सब के लिये, जब कदापि हो ही नहीं सकते तो, इन्हीं ग्रन्थों का सब लेख हमारे अनुकूल कैसे हो जावे गा? जैसे, शीतकाल में खसखस की टट्टी व्यर्थ होने पर भी फिर गर्मी आने पर स्वयं सार्थक हो जाती है, वा जैसे गर्मी के दिनों में वा गर्मदेश में शीतके वस्त्र बोझामात्र व्यर्थ प्रतीत होने पर भी फिर शीत का देश वा काल आने पर सार्थक उपकारी हो जाते हैं। तथा जैसे पंसारी की दूकान में रक्खाहुआ विष कभी किसी अधिकारी के लिये अमृतवत् उपकारी हो जाता है इसलिये उस से द्वेष घृणा वा अरुचि करने वाले की भूल है, वैसे ही इन ग्रन्थोंके पशु संज्ञापनादि विषयों से द्वेष घृणा कुछ नहीं करे

ह० भीमसेन शर्म्मा, सम्पादक ब्राह्मणसर्वस्व—इटावा

उपसंहार।

अन्त में निवेदन यह है कि इस गोभिलगृह्यसूत्र को अनुवाद में हमें पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी की संस्कृत टीका से बड़ी सहायता मिली इस लिये इन महात्मा को हम अन्तःकरण से कोटिशः धन्यवाद देते हैं; पुनः इस के मुद्रण कार्य्य में श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी ने प्रूफ संशोधनादि कार्य्य में हमें सहायता दियी हैं। इस कारण हम इन पण्डित जी के भी कृतज्ञ हैं।

यह पुस्तक पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी मुद्रापित ५) रुपये को मिलती है, परन्तु इस में एक भारी त्रुटि यह है कि गृह्यसूत्रोक्त संस्कारों के साथ संस्कृत टीकामें मन्त्रों की प्रतीकें दियीं तो हैं परन्तु मन्त्र नहीं दिये हैं और मन्त्र ब्राह्मण अलग लेने से ५) और देने पड़ते हैं इस प्रकार यदि सर्वाङ्ग सम्पन्न गोभिलगृह्यसूत्र कोई लेना चाहे तो उसे १०) रुपये खर्चने पड़ेंगे। हमने मन्त्र ब्राह्मणोक्त सब मन्त्रों को यथास्थान (जहां २ जरूरत हुई) छपवा दिये हैं और ४० पृष्ठ पर भूमिका एवं भाषानुवाद होने पर भी मूल्य केवल २॥) ही रक्खा है। द्वितीय निवेदन यह है कि गृह्यसूत्रोक्त कई एक विषयों पर हमने भूमिका में—इस लिये विशेष विचार नहीं किया है—अब ही वेदों के भिन्न २ शाखा के भिन्न सब गृह्यसूत्र हैं मिले नहीं हैं जिन का अन्वेषण होरहा है, आशा है कि हम आश्वलायन और पारस्करगृह्यसूत्र की भूमिका में गृह्यसूत्रोक्त प्रत्येक विषयों पर पूर्ण विचार लिखेंगे।

भवदीय—

शास्त्रप्रकाश कार्य्यालय—मथरापुर
डाक—सिद्दूपुर (मुजफ्फरपूर) } क्षत्रियकु० उदयनारायणसिंह

गोभिलगृह्यसूत्रस्य विषयसूचीपत्रम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

॥ अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥

॥ अथ चतुर्थः प्रपाठकः ॥

ॐ

सामवेदीयम् ॥

अथ गोभिल-गृह्यसूत्रम् ॥

—०:‡:*:‡:०—

अथातो गृह्याकर्म्माण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

'अथ' ग्रन्थारम्भद्योतकोऽयं निपातः । 'अतः' तदानीन्तनाचार्य्याणां वचोभङ्गीप्रयुक्तमिदम् । 'गृह्याकर्म्माणि' गृहाय हितो गृह्यः, योगरूढ्या अ-अग्निरिति बुध्यते ; वक्ष्यत्यनुपदमेव 'स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति (२१ सू०)' इति ; तत्र, कर्त्तव्यानि 'कर्म्माणि' नित्याग्निहोत्रहोमादीनि, तदङ्गभूता-न्यग्न्याधानादीनि च 'उपदेक्ष्यामः' तत्तदितिकर्त्तव्यतां बोधयिष्यामः । गृह्ये-तिदीर्घश्छान्दसः ॥ १ ॥ अथ तत्र सर्वकर्मसाधारणविधीनाह—

भा०:—इस के अनन्तर "*गृह्य" अग्नि में कर्त्तव्य नित्य अग्निहोत्र आ-दिक और उस के उपयोगी "अग्न्याधान" प्रभृति कर्म्मों का उपदेश करेंगे॥१॥

यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम् ॥ २ ॥

'यज्ञोपवीतिना' किञ्च 'आचान्तोदकेन' उदाकाचमनं कृतवतैव पुरु-षेण 'कृत्यम्' कार्य्यम्, वक्ष्यमाणकार्य्यजातमिति ॥ २ ॥

---

*अग्नि सामान्यतः तीन प्रकार का होता है,१ श्रौताग्नि, २ गृह्याग्नि, और ३ लौकिकाग्नि । अर्थात् ब्राह्मण भाग में जिस का व्यवहार व्यवस्था आदि सु-नी गयी है, उसी को "श्रौताग्नि" कहते हैं, जैसे गार्हपत्य (अग्नि) प्रभृति । इस के अतिरिक्त और वेदोक्त अर्थात् वेद में गृही के उपयोगी एवं कर्त्तव्य कह कर जानने पर भी जिस की व्यवहारप्रणाली सुनी नहीं जाती अतएव गोभिल आदिक की स्मृति द्वारा उपदिष्ट अग्नि को भी 'गृह्याग्नि वा स्मा-र्त्ताग्नि' कहते हैं। और वेद में जिस के लिये न तो विधि है और निषेध ही है, पर अन्न पाकादि कार्य्य के लिये जिस अग्नि का लोक में व्यवहार होता है उसे 'लौकिकाग्नि' कहते हैं ।

भा०—आगे कहे जाने वाले कर्मों को यज्ञोपवीत ‡ धारण कर और आचमन करके करना चाहिये ॥ २ ॥

उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्त्तनादन्हः कालं विद्यात्॥३॥

'उदगयने' उत्तरायणे 'पूर्व्वपक्षे' शुक्लपक्षे 'पुण्येऽहनि' मेघाच्छन्नादिदोषशून्यदिने 'अन्हः' दिवसस्य 'आवर्त्तनात्' परिवर्त्तनात् 'प्राक्' पूर्वं पूर्वाह्णमेव 'कालम्' समयं 'विद्यात्' जानीयात्, वक्ष्यमाणकर्म्मणां सर्वेषामेवेति ॥ ३ ॥

भा०:—जहां २ (इस ग्रन्थ में) समय की कोई व्यवस्था नहीं कियी गई हो कि 'अमुक समय अमुक कार्य्य करना;' ऐसे स्थानों में समस्त कार्य्य उत्तरायण शुक्लपक्ष, निर्दोष (बादल रहित) दिन में दोपहर के पहिले करना चाहिये ॥ ३ ॥

यथादेशञ्च ॥ ४ ॥

यथादेशमपि कालं विद्यात्। यत्र यत्र च विशेषतः कालमादेक्ष्यामस्तत्रतत्र स सएव काल आदरणीयो न तु सामान्यतः उक्त उदगयनादिकइति ॥ ४ ॥

भा०:—जहां २ जिस २ कालादिक की व्यवस्था करेंगे, वहां २ वही २ काल माननीय होगा, सामान्यतः ३ सूत्रोक्त काल नहीं ॥ ४ ॥

सर्वाण्येवान्वा हार्य्यवन्ति ॥ ५ ॥

'सर्वाणि' गृह्यकर्माणि 'आहार्य्यवन्ति एवं' आहरणीयानि कुशाद्युपकरणानि तद्विशिष्टान्येवेति ॥ ५ ॥

भा०:—सब ही गृह्य कर्म्मों में कुशा प्रभृति अनेक "उपकरण" (सा-

---

‡ उपवीत—जो वामस्कन्ध से दहिने पार्श्व में लटकता हो उसे 'यज्ञोपवीत' और जो दहिने स्कन्ध से वामपार्श्व में लटकता हो उसे "प्राचीनावीत" और जो माला की नाईं गले में पहना जाता उसे "निवीत" कहते हैं ॥ पितृ कार्य्यों में "प्राचीनावीती," देव कार्य्यों में "यज्ञोपवीती" और जिस समय देव या पितृ कार्य्य कुछ न हो, ऐसे समय एवं मल मूत्रत्याग, या भ्रमणादि शारीरिक कार्य्य करते समय "निवीती" होना चाहिये। यह एक प्रकार का संकेत है। पूर्वकाल में प्रायः सब ही लोग अधिक समय देव कार्य्य में व्यतीत किया करते थे सुतरां वे ही लोग प्रायः "यज्ञोपवीती" रहते थे। इस समय के कर्म्मभ्रष्ट द्विजों को "निवीती" होना ही उचित है, इन के प्रमाण क्रमशः इसी ग्रन्थ में आगे मिलेंगे।

सामग्री) आवश्यक होते हैं ॥ ५ ॥

अपवर्गेऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ॥ ६ ॥

'अपवर्गे' कर्म्मसमाप्तौ 'अभिरूपभोजनम्' अभिरूपः शास्त्रबोधिततया यथोपयुक्तः; तस्य तयोः तेषां वा भोजनं 'यथाशक्ति' स्वकीयायाद्यनुगतं कार्य्यमिति ॥ ६ ॥ इति सर्वकर्मसाधारणविधयः ।

भा०:—सब ही कर्म्मों की समाप्ति में यथाशक्ति यथाशास्त्र उपयुक्त एक, दो, या अधिक व्यक्ति को भोजन कराना चाहिये ॥ ६ ॥

———:○:———

अथाग्न्याधानविधीनाह—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्याᳫं समिधमभ्याधास्यन् ॥७॥

उक्तं 'गृह्याकर्माणि' इति, तत्र कोऽसौ गृह्योऽग्निः ? प्रथमन्तावत् सएव उपदिश्यते 'ब्रह्मचारी' इत्यारभ्य 'गृह्योऽग्निर्भवति' इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण । 'ब्रह्मचारी', 'वेदम् अधीत्य' गुरुकुले स्थित्वा वेदाध्ययनं समाप्य 'अन्त्यां' ब्रह्मचर्यसमापिकां 'समिधमाधास्यन्' समिधमाधातुं प्रवृत्तः "अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)" इत्यनेन सम्बन्धः । प्रतिदिनं यथाऽऽचार्य्याग्नावेव समिधमाधत्ते तदानीं न तथा आदधीत अपितु अपआहरणादिपूर्वकं अग्निप्रणयनं कृत्वैव तत्र स्वकीयेऽग्नौ तामन्त्यां समिधमादधीतेति ॥ ७ ॥

भा०:—ब्रह्मचारी (गुरुकुल में रह कर) वेदाध्ययन के अन्त में शेष 'समित्, (होमीय काष्ठ) हवन करने में प्रवृत्त होकर ॥७॥

जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मचर्यसमापिकान्त्यसमिदाधानकालेऽग्निग्रहणं न कृतं भवेत्, तदा पूर्वपूर्वदिनवत् गुरोरग्नावेव ता मन्त्यां समिधमादधीत । पुनः कोऽग्निग्रहणकालः ? इत्याह—'वा' अथवा 'जायायाः' 'पाणिं' 'जिघृक्षन्' ग्रहीतुमिच्छन्, पाणिग्रहणात् पूर्वमेव 'अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)' इति॥८॥

भा०:—या जाया के पाणिग्रहणार्थ (विवाह के लिये) समुद्यत होकर ॥८॥

अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवणं देशᳫं समं वा परिसमुह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीं लेखामुल्लिख्योदीचीञ्च सᳫंहतां पश्चात् मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥

तदग्निप्रणयनाय कीदृशः स्थानसंस्कारद्दष्टः ? इत्युच्यते—'अनुगुप्ताः' विण्मूत्रप्रक्षेपतैलाभ्यङ्गादिवारणेन सुरक्षिताः 'अप' उदकानि 'आहृत्य' 'प्रागुदक्प्रवण' प्राक् उदक् वा क्रमनिम्नं यस्य ईदृशं, 'समं' समतलं 'वा' 'देशं' स्थानं तैरुदकैः 'परिसमूह्य' 'मध्यतः' तत्स्थानस्यान्तरे 'प्राचीं' प्रागग्रां, 'च' अपिच 'पश्चात्' तस्यैव पाददेशे 'उदीचीं' उदगग्रां 'संलग्नां' प्राचीरेखया संहता मपरां, 'लेखां' रेखां, 'मध्ये' मध्यस्थले 'तिस्रः प्राचीः' एव अपराः रेखाश्च 'उल्लिख्य' तत् स्थानम् 'अभ्युक्षेत्' कुशाद्यग्रजलविन्दुभिः सिञ्चेत्। तदेतत् स्थानं " स्थण्डिल " मुच्यते। ९

भा०:—*(जिस तालावादिक में जल,मैला फेंके जाने, या मूत्र त्याग, या तैलाभ्यङ्गन, या सेवार आदि द्वारा दूषित नहीं होता, किन्तु राज आज्ञा आदि शासन में विशेष सावधानी से रक्षित हो, ऐसा जल–स्थान से) दोष शून्य जल लाकर उस से स्थान को लीपे। यह स्थान पूर्व या उत्तर दिशा में क्रम–निम्न समतल (बराबर) होना आवश्यक है। इस लीपे हुए स्थान के बीच में पूर्वाग्र एक रेखा अङ्कित करे और उसी के नीचे एक रेखा उत्तराग्र करके उसी में मिलावे, मध्य में और भी तीन रेखा खींचे, पीछे उक्त लाये हुए जल को उस पर छिड़क देवे इसी को " स्थण्डिल " कहते हैं ॥ ९ ॥

लक्षणावृदेषा सर्वत्र ॥ १० ॥

'एषा' अपआहरणादिका क्रिया 'लक्षणावृत्' उच्यते; 'सर्वत्र' एव अग्निप्रणयने व्यवहर्त्तव्येति। १०

भा०:—इस क्रिया का नाम "लक्षणावृत्" है। यह अग्निप्रणयन मात्र में सब जगह व्यवहार के योग्य है ॥ १० ॥

भूर्भुवःस्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥

'भूर्भुवःस्वः' इति मन्त्रेण 'अभिमुखं' यथास्यात् तथा कृत्वा 'अग्निं' 'प्रणयन्ति'। 'लिङर्थे लेट् (पाणिनीये ३।४।७)'-इति लेटि, रूपम्; प्रणयेयुः। सर्वकर्मसु सर्वैः कर्मिभिरेवैव मग्निप्रणयनं कार्यमिति सामान्यविधित्वख्यापनायैव बहुवचनम्, सर्वे प्रणयेयुरिति। ११

गृहस्वामी पितादिर्जीवितइति ब्रह्मचर्यावसानसमये पाणिग्रहणकालेऽप्यग्निग्रहणं न भवेच्चेत्;—गृहस्वामिनि मृते, यदैव गृहस्वामी म्रियेत तदैव अग्निग्रहणं कर्त्तव्यमित्याह—

---

*अग्नि प्रणनयन करने के लिये कैसा स्थान प्रस्तुत करना चाहिये इस का उपदेश किया जाता है।

भा०:—उस के बाद उस अभ्युक्षित स्थान में "भूर्भुवः स्वः"—इस मंत्र को पढ़कर अपने सम्मुख अग्नि स्थापन करे ॥ ११ ॥

प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम् ॥ १२ ॥

'वा' अथवा 'गृहपतौ' पित्रादौ 'प्रेते' मृते तदैव परमेष्ठीकरणम्' कृतच्विप्रत्ययस्यैतद्रूपम् , क्रियाविशेषणम्; परमेष्ठितया अग्नेः स्वीकरणं यथास्यात्तथा 'अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)' इति । परमेष्ठिकरणमिति ह्रस्वेकारयुक्तपाठस्तु क्वापि पुस्तकेऽनुपलब्धत्वान्न युक्तः । १२

भा०:—यदि ब्रह्मचर्य की समाप्ति या विवाह समय तक पिता आदि घर के मालिक जीते हों, तो ब्रह्मचारी को अग्नि ग्रहण कब करना चाहिये इस पर कहते हैं कि घर के मालिक के मरने ही पर वह अग्नि ग्रहण करे ॥ १२ ॥

अग्निग्रहणस्य सामान्यतः कालत्रयमुक्तम्, तत्रैव विशेषमाह—

तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ॥ १३ ॥

'तथा' अग्न्याधाने यथा अन्त्यसमिदाधानादिः कालोऽपेक्षितस्तद्वदिति । तिथिनक्षत्रपर्वणां त्रयाणामेवैषां शुभानां समवाये—(उत्तरेण सम्बन्धः) ॥ १३ ॥

तादृशसमवायः शीघ्रो न घटेत चेदाह—

भा०:—अन्त्य समिदाधान के लिये जिस प्रकार काल अपेक्षित होता है उसी प्रकार अग्नि स्थापन में भी तिथि, नक्षत्र, पर्व का एकत्र होना आवश्यक है * ॥ १३ ॥

---

*गुरु गृह में वास पूर्वक वेदाध्ययन समय में प्रतिदिन ही गुरु के गृह्याग्नि में ब्रह्मचारी गण समिदाहुति दिया करते, किन्तु पाठ समाप्त होने पर शेष आहुति पूर्ववत् न होकर ब्रह्मचारी के स्व सम्पादित अग्नि में आहुति होनी उचित है, यदि किसी प्रकार की रुकावट से इस समय अग्नि ग्रहण न हो, तो विवाह के पूर्व उसे ग्रहण कर (उसी) अपने ही अग्नि में लाजा होमादि पूर्वक पाणिग्रहण कर्त्तव्य है। परन्तु उस समय यदि पिता वा अपर गृहस्वामी जीवित रहें, तो एकान्त स्थल में, उस समय भी अग्नि ग्रहण करना अनावश्यक है, अतएव गृहस्वामी के मरने ही पर अग्नि ग्रहण करना चाहिये॥

सामान्यतः अग्नि ग्रहण के ये तीन काल कहे गये हैं। १ ब्रह्मचर्य्य समापिका समिदाहुति समय, २ विवाह के समय और ३ गृहस्वामी के मरने पर। अब इस सूत्र एवं अगले सूत्र द्वारा और भी विशेष रूप से काल बतलाया जाता है ॥

दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीत ॥१४॥

'वा' अथवा 'दर्शे' अमावास्यायां, 'वा' अथवा 'पौर्णमासे' पौर्णमास्याम्, 'अग्निसमाधानम्' अग्नेः सम्यक् आधानं धारणं पोषणञ्च 'कुर्वीत' ॥१४॥ अग्निश्च सः कुतो ग्राह्य ? इति विधत्ते—

भा०—तिथि, नक्षत्र, पर्व इन के यदि एकत्र मिलने में विलम्ब जान पड़े तो किसी अमावास्या या पूर्णिमा तिथि को अग्नि ग्रहण करे ॥ १४ ॥

अग्निकहां से लाकर स्थापन करे—सो कहते हैं कि:—

वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीषाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात् ॥ १५ ॥

'वैश्यकुलाद् वा' वैश्यजातिगृहस्थगृहात्, अथवा 'अम्बरीषाद्वा' भ्राष्ट्राद् वा 'अग्निम्' 'आहृत्य' 'अभ्यादध्यात्' अभ्याधानं ग्रहणं कुर्वीतेति ॥ १५ ॥

भा०:—वैश्य जाति के गृहस्थ के घर से, या भ्राष्ट (भार) से अग्नि लाकर स्थापन करे ॥ १५ ॥

अपिवा बहुयाजिनएवागाराद्ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा ॥ १६ ॥

'अपिवा' अथवा ब्राह्मणस्य वा' 'राजन्यस्य वा' 'वैश्यस्य वा' 'बहुयाजिनः एव' 'आगारात्' अग्नि माहृत्येत्यादि पूर्वेण सम्बन्धः। बहुयाजिनोऽग्न्याहरणं विधेयम्, स च बहुयाजी, त्रयाणामन्यतमो यः कश्चन भवेन्नामेति। अत्र वैश्यस्यानुल्लेखे ब्राह्मणक्षत्रिययोरन्यतरबहुयाजिनोग्निः ग्रहणीयः स्यात् न तु वैश्यस्य बहुयाजिनः; पूर्वत्रानुक्ते तु बहुयाजिन एव वैश्यस्य स्यात्, तदतिरिक्तस्यापि वेश्मनोऽग्निग्रहणमिष्टं तन्न भवेदित्युभयत्रैव वैश्यस्योल्लेखः ॥ १६ ॥

भा०:—या बहुयाजी (जिस के यहां प्रायः यज्ञ होते हों) के घर से अग्नि लाकर स्थापित करे। उक्त बहुयाजी चाहे ब्राह्मण हो, या क्षत्रिय, या वैश्य, इस में कोई हानि नहीं ॥ १६ ॥

अपिवाऽन्यंमथित्वाऽभ्यादध्यात् ॥ १७ ॥

'अपिवा' अथवा 'मथित्वा' अरणिद्वयमन्थनं प्रकृत्यैव 'अभ्यादध्यात्' 'अन्यम्' अपरं नूतनम् अग्निमिति ॥ १७ ॥

भा०:—या 'अरणि' (एक प्रकार की लकड़ी होती है जिस के दो लकड़ी को परस्पर रगड़ने से आग स्वयमेव निकलआती है) मथकर दूसरा अग्नि ग्रहण करे ॥ १७ ॥

पुण्यस्त्वेवा नर्द्धुको भवतीति ॥ १८ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्य्यात् ॥ १९ ॥

'अनर्द्धुकः' ऋद्धिशून्यः 'पुण्यः तु एव' पुण्यमात्रजनकएव भवति, अयमारणेयोऽग्निरिति शेषः। 'इति' अतो हेतोः 'यथा कामयेत तथा कुर्यात्' स यदि आमुष्मिकफल मृद्धयादिकं कामयेत वैश्यकुलादेरग्निं गृह्णीयात्, यदि तु तत्र न प्रवृत्तिः परं पुण्यमात्रं कामयेत तर्हि अरणिं निर्मथ्यैव गृह्णीयादिति ।१८-१९।

भा०:—इस 'अरणि' से नवोत्पन्न अग्नि में वक्ष्यमाण अनुष्ठानों के करने पर पुण्य तो होता है परन्तु* सम्पत्ति नहीं होती ॥ १८

भा०:—इस लिये जैसी कामना हो वैसा करे १५-१७ (सू० पक्षों में से कोई)॥१९॥

स यदेवान्त्याᳬसमिधमभ्यादधाति जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ॥ २० ॥

'सः' पुरुषः 'यत् एव' यस्मिन्नेवाग्नौ 'अन्त्यां समिधम् आदधाति', 'वा' अथवा 'जायायाः पाणिं जिघृक्षन् जुहोति' लाजादिकान्, 'तम्' अग्निम् 'अभिसंयच्छेत्' यत्नेन रक्षेत् । २०

भा०:—इस प्रकार अग्नि आहरण पूर्वक जिस में शेष "समित्" की आहुति देवे, या विवाह कार्य्य के लाजा, होम आदि जिस में सम्पन्न करे उस अग्नि को बड़े यत्न से रक्खे ॥ २० ॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ॥ २१ ॥

'सः एव अग्निः' 'अस्य' ग्रहीतुः 'गृह्यः' गृहाय हितः गृहकर्मोपयोगी अत एव 'गृह्यः'-इत्येतन्नाम्ना प्रसिद्धो भवति' । २१

भा०:—यही उस का ' गृह्य ' अग्नि है अर्थात् इसी अग्नि में उसे बहुत दिनों तक अपने सब गृह्य कार्य्य सम्पन्न करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ॥ २२ ॥

'च' अपिच, 'तेन एव' अन्त्यसमिदाधानेन लाजादिहोमेन वा एव 'प्रातराहुतिः' 'हुता' हुतैवेति सिद्धा 'भवति'; तद्दिने अपरा प्रातराहुतिर्नापेक्ष्यतइति भावः । 'इति' अग्न्याधानप्रकरणसमाप्तिसूचकोऽयमितिशब्दः । २२।

अथनित्यहोमकालादिः—

भा०:—और यही 'अन्त्याहुति', या 'लाजाहुति' ही उस की प्रातः कालिक

---

* यह अर्थवाद है।

आहुति सिद्ध होगी, उस दिन दूसरी प्रातःकालिक आहुति की आवश्य-कता नहीं ॥ २२ ॥

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्द्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ॥२३

तद्दिनस्य प्रातराहुतिस्तेनैव सिद्धा परन्तु तद्दिने एव सायमाहुति रुपदेष्टव्यैवेति 'सायमाहुत्युपक्रमे एव' वदामि—'अतऊर्द्ध्वं' अग्न्याधानोपदेशात् परं 'गृह्येऽग्नौ' तस्मिन्, 'होमो विधीयते' सायं प्रातश्च होमप्रकार उपदिश्यते इति ॥ २३ ॥

भा०:—उस दिन की प्रातः कालिक आहुति उस प्रकार सिद्ध होने पर भी उस दिन भी सायं आहुति की विधि उपदेष्टव्य है; इसलिये इस के पश्चात् सामान्यतः सब दिन के लिये ही इस गृह्य अग्नि में सायं और प्रातःकाल का होम कहा जाता है ॥ २३ ॥

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायंप्रातरनुगुप्ता अपआहरेत् परिचरणीयाः ॥ २४ ॥

अपि वा सायम् ॥ २५ ॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥ २६ ॥

पुरास्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ।२७।

पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयात् ॥ २८ ॥ १ ॥

बोधसौकर्याय प्रथमन्तवात् सप्तविंशाष्टविंशसूत्रयोर्व्याख्यानं प्रकृत्यैव चतुर्विंशादीनि सूत्राणि व्याख्यायन्ते—

'अस्तमयात् पुरा' यावत् सूर्यास्तो न भवति तावदेव 'अग्निं' 'प्रादुष्कृत्य' सन्दीप्य, 'अस्तमिते' सूर्ये 'सायमाहुतिं जुहुयात्'—इत्युक्तः सायमाहुतिकालमात्रः (२७)। 'उदयात् पुरा' यावत् सूर्यो नोदेति तावदेव 'प्रादुष्कृत्य' अग्निम्, 'उदिते' सूर्ये 'अनुदिते' उदयसमये वा 'प्रातराहुतिं जुहुयात्,—इत्युक्तः प्रातराहुतिकालमात्रः (२८)। 'सायं' 'प्रातः' च द्विवारमेव 'प्रादुष्करणवेलायाः पुरा' अग्निसन्दीपनकालात् प्रागेव काले 'अनुगुप्ताः' सुरक्षिता निर्मलाः 'परिचरणीयाः' आचमनादिपरिचर्योपयुक्ताः 'अपः' उदकानि 'आहरेत्' (२४)। 'अपिवा' अथवा 'सायम्' प्रतिदिनि मेकवारं सायङ्काले अग्निसन्दीपनकालात् पूर्व मेव अप आहरेत्, तेनैव

प्रातश्चाचमनादिकाः क्रियाः कर्त्तव्याः; न तु पुनः प्रातराहरेदिति (२५)। 'अपिवा' अथवा एकदैव सायं प्रातर्वा अग्निसन्दीपनात् प्राक्काले अनुगुप्ता अप आहृत्य कुम्भे मणिके वा स्थापयेत्; प्रतिदिनं ततएव 'कुम्भाद्वा' 'मणिकाद्वा' ताः सायं प्रातश्च 'गृह्णीयात्'। २६।

इति गोभिलगृह्यसूत्रीय-प्रथमप्रपाठके प्रथमखण्डस्य व्याख्यानम् ॥ १, १ ॥

भा०:-सायंकाल में-सूर्य्यास्त होने के पहिले ही उसी रक्षित अग्नि को खूब जलाकर सूर्य्यास्त होने पर उस में आहुति प्रदान करे ॥ २७ ॥ प्रातःकाल में-सूर्य्योदय के पहिले उसी रक्षित अग्नि को सन्दीपित कर सूर्य्योदय के पीछे या उदय हो रहा, हो ऐसे समय उस में आहुति प्रदान करे ॥२८॥ सायं और प्रातःकाल में, (दोनों काल में) अग्नि प्रज्वलित काल के पहिले आचमनादि के उपयुक्त सुरक्षित जल लावे ॥ २४ ॥ या सायंकाल में एकवार इस जल को लाने ही से दोनों समय का काम हो सकता है ॥ २५ ॥ अथवा एक दिन सायंकाल में, या प्रातःकाल में अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व ही इस जल को लाकर कलसे या मणिके (पानी रखने का बड़ा वर्त्तन) में रख देना चाहिये, पीछे प्रतिसायं और प्रातः समय आवस्यकतानुसार उस से जल लिया करे (२६) *२४-२८ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के प्रथमखण्ड का अनुवादपूरा हुआ ।१।१।

अथ उपवीतविधिः-

यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वाऽपि वा कुशरज्जुमेव ॥ १ ॥

पूर्वमुक्तं 'यज्ञोपवीतिना कृत्यम्'-इति, इदानीं तद्यज्ञोपवीतमेवोपदिश्यते-

'सूत्रं' 'वा' अथवा 'वस्त्रं' 'अपिवा' अथवा 'कुशरज्जुमेव', यदा यत्र यत् सुलभं, तदा तत्र तदेव 'यज्ञोपवीतं', 'कुरुते', लेटोरूपमिदम्, कुर्वीतेत्यर्थः। १

---

* सुगमता से समझने के लिये पहिले २७ और २८ सूत्र का अनुवाद करके इस के बाद २४, २५, २६, सूत्रों का अनुवाद किया गया है।

भा०ः—सूत, या वस्त्र, या कुशरज्जु, जिस समय जो आसानी से मिल सके, उस समय उसी के यज्ञोपवीत से काम करना चाहिये + ॥ १ ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ॥२॥

तत्र 'दक्षिणं बाहुम्', 'उद्धृत्य', उत्क्षिप्य, 'शिरः', 'अवधाय', वेष्टयित्वा 'सव्येंऽसे', वामस्कन्धोपरि 'प्रतिष्ठापयति', तत्र 'दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं', दक्षिणकक्षान्तलम्बमानम् 'भवति', भवेत्। 'एवम्', प्रकारेण सूत्राद्यन्यतमस्य धारणेन 'यज्ञोपवीती', भवति। प्रसङ्गात् प्राचीनावीतिनोऽपि लक्षणमुच्यते—

भा०ः—उस (जनेऊ) को दाहिने कांधे पर रखकर, शिर में लपेट कर और वामस्कंध से दक्षिण कक्ष (वगल) के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार से जनेऊ पहनने वाले को "यज्ञोपवीती" कहते हैं ॥ २ ॥ *

सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति ॥ ३ ॥

'सव्यं', वामम्। अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम्। ३

भा०ः—इसीप्रकार बायें कांधे के ऊपर जनेऊ को रख कर, शिर में लपेट कर पहना और दाहिने कांधे से वामे कक्ष के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार जनेऊ पहनने वाले को "प्राचीनावीती" कहते हैं ॥ ३ ॥

पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीती भवति ॥ ४ ॥

'पितृयज्ञे' श्राद्धादौ 'तु' 'प्राचीनावीती एव' 'भवति' भवेत्। एवञ्च देवपितृकार्य्याभ्यामन्यत्र निवीत्येव तिष्ठेदिति सुतरां लभ्यते ॥ ४ ॥

अथ आचमनविधिरुपस्पर्शनविधिर्वा—

+'जनेऊ नौ गुण का होना चाहिये, तीन तागे का और दो जनेऊ, या तीन जनेऊ पहनना चाहिये,' इत्यादि यहां कुछ नहीं लिखा है। जैसे २ संसार की वृद्धि होती गई है वैसे २ आडम्बर भी बढ़ता गया है ॥

*—यह यज्ञोपवीत की लम्बाई का प्रमाण हुआ। इस के विरुद्ध जो किसी अन्य शाखा के ग्रन्थों में जनेऊ की लम्बाई का विधान है, वह सामवेदीय कौथुमीय शाखाध्यायी द्विजों के ग्रहण योग्य नहीं ॥ २ ॥

भा०:–केवल पितृयज्ञ में "प्राचीनावीती" होना चाहिये। इस्से यह सिद्ध होता है कि देवकार्य एवं पितृकार्य को छोड़ कर अन्य समय में "निवीती" होना चाहिये ॥ ४ ॥ +

उदङ्ग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचा-मेद्द्विः परिमृजीत ॥ ५ ॥

पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ॥ ६ ॥

इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् ॥ ७ ॥

अक्षिणी नासिके कर्णाविति ॥ ८ ॥

यद्यन्मीमाꣳस्यं स्यात्तत्तदद्भिः सꣳस्पृशेत् ॥ ९ ॥

उक्तञ्च 'आचान्तोदकेनैव कृत्यम्'–इति, इदानीं तदितिकर्त्तव्यतादिकमुपदिश्यते—

'अग्नेः' 'उदङ्' उत्तरतः 'उत्सृप्य' सर्पणेन गत्वा, 'पाणी पादौ' 'च प्रक्षाल्य', 'उपविश्य च',–'त्रिः' त्रिवारम् 'आचामेत्' जलं पिबेत्; 'द्विः' द्विवारं 'परिमृजीत' ओष्ठाधरलग्नमुदकं मार्जयेत्; ततश्च 'पादौ अभ्युक्ष्य' पादयोरभ्युक्षणं प्रकृत्य, 'शिरः' 'अभ्युक्षेत्'। ततश्च 'अक्षिणी' अक्षिगोलकद्वयम्, अनन्तरं 'नासिके' नासिकारन्ध्रद्वयं, तदनन्तरञ्च 'कर्णौ' कर्णशष्कुलिद्वयम्;—इति षट् 'इन्द्रियाणि' 'अद्भिः', 'संस्पृशेत्'। ततोऽनन्तरमपरमप्यङ्गं 'यत् यत्' 'मीमांस्यं' अवबोध्यं 'स्यात्' 'तत्तत् अपि' 'संस्पृशेत्'। ५—९

+—सर्व कर्म साधारण विधि–प्रकरण के द्वितीय सू० में (देवकार्य्य में) यज्ञोपवीती हो कर कार्य करने की व्यवस्था कियी गयीहै? एवं इस स्थल में विशेषतः पितृ यज्ञ में प्राचीनावीती होनेकी व्यवस्था कियी है। इस से जिस समय पितृकार्य या दैवकार्य कुछ न हो ऐसे अवसर पर, या शारीरिक मलमूत्र त्यागते समय यज्ञोपवीती या प्राचीनावीती रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस्से यह भी सिद्ध होता है कि जिस समय देव वा पितृकार्य में व्यापृत न रहे उस समय (बोध होता है कि) "निवीती" ही रहना उचित है। मनु कहते हैं–कि 'निवीती कण्ठ सज्जने' (२ अ० ६३ श्लो०) अर्थात् कण्ठ में माला की नाईं जनेऊ–धारी को "निवीती" कहते हैं ॥ ४ ॥

भा०:—अग्नि के कुछ उत्तर की ओर सरक कर जावे और दोनों हाथ पैर धोकर उचित स्थान में बैठकर तीन वार आचमन करे। उस के बाद दो वार ओठ और अधर में लगा जल साफ करे, उसके पीछे दोनों पैर और माथे पर जल छिड़के, तदनन्तर दोनों आंख, नाक के दोनों छिद्र और दोनों कान, इन छः इन्द्रियों के स्थान में जल स्पर्श करे, तदनन्तर और भी जिस २ अङ्ग को अवबोधित करने की इच्छा हो उस २ अङ्ग को जल से स्पर्श करे॥ ५, ६, ७, ८, ९॥

तत्रैतदाहुः—॥ १० ॥

'तत्र' आचमनविषये 'एतत्' मद्बुद्धिस्थमोष्ठागतं वक्ष्यमाणम् 'उच्छिष्टो हैवातोऽन्यथा भवति' (सू० ३०)—इत्यन्तग्रन्थम् आहुः केचनेति शेषः॥१०॥

तद्यथा—

भा०:—इस आचमन के विषय में कोई २ आचार्य्य कहते हैं—कि॥ १०॥

नोपस्पृशेद् व्रजन्॥ ११ ॥

'व्रजन्' इतश्चेतश्च भ्रमन् 'न' 'उपस्पृशेत्' अपइति शेषः॥ ११ ॥

भा०:—भ्रमण करते समय आचमन न करना चाहिये॥ ११ ॥

न तिष्ठन्॥ १२ ॥

'तिष्ठन्' दण्डायमानः सन् 'न' उपस्पृशेदित्यनुवर्त्तते॥ १२ ॥

भा०:—खड़े होकर 'भी' आचमन न करे॥ १२ ॥

न हसन्॥ १६ ॥

'न हसन्' हास्यं कुर्वाणः 'न' उपस्पृशेत्॥ १३ ॥

भा०—हंसते समय 'भी' आचमन न करे॥ १३ ॥

न विलोकयन्॥ १४ ॥

'विलोकयन्' अपरं किमपि ईक्षमाणः 'न' उपस्पृशेत्॥ १४॥

भा०:—इधर उधर ताकता हुआ (अन्य मनस्क होकर) भी आचमन न करे॥ १४ ॥

नाप्रणतः॥ १५ ॥

'अप्रणतः' क्रोधदम्भादिभिरूग्रमूर्त्तिः सन् 'न' उपस्पृशेत्॥१५॥

भा०:—क्रोध, दम्भ आदि के कारण अनम्र होकर आचमन न करे॥१५॥

नाङ्गुलीभिः॥ १६ ॥

'अङ्गुलीभिः' अङ्गुल्यग्रेषु जलं गृह्णन्नग्राह्यबुद्ध्या 'न' उपस्पृशेत्॥१६॥

भा०:—अङ्गुली के अग्र भाग में जल लेकर (अग्राह्य बुद्धि से) आचमन न करे ॥ १६ ॥

नातीर्थेन ॥ १७ ॥

' अतीर्थेन ' तीर्थं ब्राह्मादिकं मन्वादिभिरुक्तम् , तदतिरिक्तेन यथा ' न ' उपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

भा०:—अतीर्थ द्वारा (धातु पात्रादि में मुंह से जल ले कर या कण्ठ में डाल कर) आचमन न करे ॥ १७ ॥

न सशब्दम् ॥ १८ ॥

'सशब्दं' क्रीडाभिप्रायेण शब्दं यथा भवेत् तथैव कुर्वाणो 'न'उपस्पृशेत्॥१८॥

भा०:—शब्द करके (जल क्रीडानुसार) आचमन न करे ॥ १८ ॥

नानवेक्षितम् ॥ १९ ॥

' अनवेक्षितम् ' हस्तगृहीतमुदकं अनवेक्ष्यैव यथालब्धं दूष्यकीटादिसहितं ' न ' उपस्पृशेत् ॥ १९ ॥

भा०:—जल को भली भांति देखे विना आचमन न करे ॥ १९ ॥

न वाह्यांसः ॥ २० ॥

' बाह्यांसः ' वाह्यौ वहिर्भूतौ जान्वोः, अंसौ स्कन्धौ यस्य , तादृशः सन् ' न ' उपस्पृशेत् ॥ २० ॥

भा०:—दोनों जानु के बाहर स्कन्ध रहने से (वक्र शरीर) आचमन न करे ॥ २० ॥

नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ॥ २१ ॥

' अन्तरियैकदेशस्य ' परिहितवसनस्यैकांशस्य ' उत्तरीयतां ' कल्पयित्वा ' न ' उपस्पृशेत् ॥ २१ ॥

भा०:—एक ही वस्त्र को पहन कर उसी के एक अंश को ओढ़ कर आचमन न करे ॥ २२ ॥

नोष्णाभिः ॥ २२ ॥

' उष्णाभिः ' वह्न्यादितप्ताभिः अद्भिः ' न ' उपस्पृशेत् ॥ २२ ॥

भा०:—गरम जल से आचमन न करे ॥ २२ ॥

न सफेनाभिः ॥ २३ ॥

' सफेनाभिः ' फेनादियुक्तैर्मलिनैरद्भिश्च ' न ' उपस्पृशेत् ॥ २३ ॥

भा०:फेनैले जल से आचमन न करे ॥ २३ ॥

न च सोपानत्कः क्वचित् ॥ २४ ॥

'च' अपिच 'क्वचित्' स्थानविशेषे, यत्रानावश्यकं तत्र, 'सोपानत्कः' उपानद्विशिष्टः सन् 'न' उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

भा०:—और अनावश्यक स्थान में दोनों पैर में जूता पहन कर आचमन न करे ॥ २४ ॥

कासक्तिकः ॥ २५ ॥

गले वद्धः ॥ २६ ॥

चरणौ न प्रसार्य्य च ॥ २७ ॥

के मस्तके आसक्तिर्बन्धनं यस्य स 'कासक्तिकः,' 'गले' गलदेशे 'वद्धः' गलाधःकरणे व्याघातः स्यादेवं दृढबद्धः, 'च' अपिच 'चरणौ' 'प्रसार्य' 'न' उपस्पृशेत् ॥ २५—२७ ॥

भा०:—मस्तक या गले में दृढ़ बन्धन रहते या दोनों पैर फैला कर आचमन न करे ॥ २५, २६, २७ ॥

अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ॥ २८ ॥

'अन्ततः' आचम्यारब्धकर्मकेण अनारब्धकर्मकेण वा शयनादीनामन्ते 'प्रत्युपस्पृश्य' अनुपद-वक्ष्यमाणप्रत्युपस्पर्शनं प्रकृत्यैव 'शुचिर्भवति' ॥ २८॥

भा०:—सो कर उठने पर इत्यादि समय दोबारे आचमन न करने से शुद्धि होगी ॥ २८ ॥

हृदयस्पृशस्त्वेवापआचामेत् ॥ २९ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—'हृदयस्पृशः' यावन्त्यः पीताः हृदयं स्पृशन्ति, तावन्तयएवापः हृदयस्पृशः ताः 'आपः' 'आचामेत्' ॥ २९ ॥

भा०:—जितना जल पीने से हृदय पर्य्यन्त सिक्त हो सके, न्यून से न्यून उतने जल से अवश्य आचमन करना चाहिये ॥ २९ ॥

उच्छिष्टोहैवातोऽन्यथा भवतीति ॥ ३० ॥

'अतोऽन्यथा' उक्तादन्यप्रकारकृताचमनः 'उच्छिष्टः एवं' अशुद्धएव 'ह' निश्चयं 'भवति'—'इति' 'आहुः' (सू० १) इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३० ॥

भा०:—ऐसा नहीं करने पर (हृदय तक जल नहीं पहुंचने से) उच्छिष्ट ही रह जाता है ॥ ३० ॥

अथ प्रत्युपस्पर्शनानि ॥ ३१ ॥

'अथः' अनन्तरम् 'प्रत्युपस्पर्शनानि' कीदृक्स्थलकृताचमनं प्रत्युपस्पर्शनसंज्ञां लभते ? तत् उपदेक्ष्यामइति ॥ ३१ ॥

भा०:—किस २ स्थान के आचमन को "प्रत्युपस्पर्शन" कहते हैं ? सो कहा जाता है ॥ ३१ ॥

सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा विपरिधाय च रथ्यामाक्रम्य श्मशानञ्चाचान्तः पुनराचामेत् ॥ ३२ ॥

'सुप्त्वा' स्वापानन्तरम् १, 'भुक्त्वा' भोज्यभोजनानन्तरम् २, 'क्षुत्वा' क्षवनानन्तरम् ३, 'स्नात्वा' स्नानानन्तरम् ४, 'पीत्वा' पेयपानानन्तरम् ५, 'विपरिधाय' वसनादिपरिधानानन्तरम् ६, 'च' अपिच 'श्मशानम्' 'रथ्याम्' ग्राम्यमार्गम् ७, 'आक्रम्य' विचरणानन्तरम् ८ 'आचान्तः च' यागाद्यनुरोधतः प्रथम माचान्तोऽपि पुनराचामेत् द्वितीयमाचमनं कुर्वीत। अत्रेदं तत्वम् स्वापाद्यनन्तरमाचामेत्, तत्रैकमेवाचमनं कर्त्तव्यम्; अथ आचम्यारब्धकर्मकेण तु स्वापाद्यनन्तरं पुनश्च द्वितीयमाचमनं कर्त्तव्यम्; तदिदमेवंस्थानिकमाचमनमेव प्रत्युपस्पर्शनमुच्यतेइति ॥ ३२ ॥

इति श्रीगोभिलीय—गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम्। १, २,।

भा०:—सो कर उठने पर, भोजन करने पर, हिचकी आने पर, स्नान करने पर, रसादि पीने पर, वसन, भूषणादि पहनने के श्रम के ‡ उपशमार्थ एवं गली और मुर्दे जलाने के स्थान में भ्रमण करने पर, या इस के पूर्व अपर किसी कार्य्य के अनुरोध से आचमन किया गया हो, तो ऐसे स्थलों में भी पुनः आचमन करे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड
का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, २ ॥

(इति सर्वकर्मसाधारण—प्रकरणं समाप्तम्)

‡ शयनादि के पीछे जो आचमन किया जाता है उसी को "प्रत्युपस्पर्शन" कहते अर्थात् नीन्द टूटने पर आचमन अवश्य करना चाहिये; यदि किसी देवानुष्ठानादि कार्य्य करते २ आलस्य जात तन्द्रा रूप निद्रा, या किसी प्रकार आहार या हिचकी हो तो ऐसे स्थान में पुनर्वार आचमन करे ऐसा न समझे कि एक वार आचमन कर चुका हूं फिर क्या आवश्यकता है ॥

(अथ ब्रह्मयज्ञप्रकरणम्)

अग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेनाग्निमदितेऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

'अग्निम्' पूर्वोक्तप्रकारेण (१, २७-२८) 'उपसमाधाय', 'परिसमूह्य' वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण, 'दक्षिणजान्वक्तः' दक्षिणं जानु अक्तं भूमिगतं यस्य, तादृशः सन्;—'अदितेऽनुमन्यस्व' हे अदिते ! देवि ! एतत्कर्मकरणे अनुमतिं देहि 'इति' अनेन मन्त्रेण 'अग्निम् दक्षिणेन' कृत्वा 'उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥१॥

भा०ः—पूर्वोक्त (१, २७—२८) अग्नि उपसमाधान कर, परि समूहन करके दक्षिण जानु भूमि पर टेककर, हे अदिते ! मुझ को इस कार्य्य के करने में अनुमति देओ', इस मन्त्र से अग्नि के दक्षिण भाग में उदकाञ्जलि सींचे ॥ १ ॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चात् ॥ २ ॥

'अनुमतेऽनुमन्यस्व' हे अनुमते देवि ! अत्रानुमतिं देहि—'इति' मन्त्रेण 'पश्चात्' अग्नेः पश्चिमतः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ २ ॥

भा०ः—' हे अनुमते ! मुझ को इस कार्य्य के करने में अनुमति देओ'—इस मन्त्र से अग्नि के पश्चात् भाग में दूसरी उदकाञ्जलि सींचे ॥ २ ॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः ॥ ३ ॥

'सरस्वत्यनुमन्यस्व' हे सरस्वति ! देवि ! अत्रानुमतिं देहि—'इति' मन्त्रेण 'उत्तरतः' अग्नेः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ ३ ॥

भा०ः—और 'हे सरस्वति ! मुझ को इस कार्य्य के करने में अनुमति देओ' इस मन्त्र से अग्नि के उत्तर में तीसरी उदकाञ्जलि सेंचन करे ॥ ३ ॥

देवसवितः प्रसुवेति प्रदक्षिणमग्निं पर्य्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा ॥४॥

'देवसवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्योगन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचन्नः स्वदतु' इत्यनेन मन्त्रेण (म० ब्रा० १ क०) 'अग्निं प्रदक्षिणं' यथाभवेत् 'सकृत् वा' एकवारं वा 'त्रिर्वा' अथवा वारत्रयं 'पर्युक्षेत्' उदकधाराभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

भा०ः—एकवार या तीनवार 'देव सवितः प्रसुव इस मन्त्र से अग्नि की प्रदक्षिणानुसार जल धारा गेरे । इसी को पर्युक्षण कहते हैं ॥ ४ ॥

पर्य्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्य्युक्षन् होमीयम् ॥ ५ ॥

'पर्युक्षणान्तान्' अङ्गयागान् 'व्यतिहरन्' व्यवहरन् 'होमीयम्' होमो-

पयोगितया सङ्गृहीतं वस्तुजातम् ' अभिपर्युक्षन् ' उदकविन्दुभिः सिञ्चन् ॥५॥

भा:—उक्त प्रकार ' पर्य्युक्षन् ' पर्य्यंत कार्यों को शेष कर अनन्तर होम के उपयोगी अन्नादि को जल विन्दु से सींचे। इसी को 'पर्य्युक्षण' कहते हैं ॥५॥

अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा॥६॥

' अथ ' अनन्तरम् ' अग्नौ ' तस्मिन् ' कृतस्य ' वा पक्कस्य वा 'अकृतस्य वा' अपक्कस्य वा ' हविष्यस्य ' अन्नस्य यवादेः (अंशमितिशेषः) 'जुहुयात्' ॥६॥

भा०:—अनन्तर उसमें अग्नि में का पका या कच्चा हव्य हवन करे ॥ ६ ॥

अकृतञ्चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ॥७॥

तच्च होमीयं ' अकृतम् ' अपक्कं ' चेत् ' तत् ' प्रक्षाल्य ' उदकैः, 'प्रोदकं' जलार्द्रं च ' कृत्वा ' ' जुहुयात् ' ॥७॥

भा०:—यदि अग्नि–पक्क भात आदि होम के योग्य न हो, प्रत्युत तण्डुल या फलादि ही हवनीय हो, तो उन सब को अच्छे प्रकार धोकर जल से भींगे ही दशा में हवन करे ॥ ७ ॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कंसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेण वै वा ॥८॥

' अथ ' तत्रापि यदि दधि पयः यवागूं 'वा' होतव्यं भवेत् तदा 'कंसेन वा' कांस्यपात्रेण वा ' चरुस्थाल्या वा ' चरुपाकपात्रेण 'वा' अथवा ' स्रुवेण ' 'वै' एव जुहुयात् न तु साक्षात् हस्तेन ॥८॥

भा०:—विशेषता–यदि दही, दूध या यवागू, होम करना हो, तो उसके धोने की आवश्यकता नहीं, जैसा हो उसी प्रकार विन धोये ही कांस्यपात्र चरुस्थाली में रक्ख कर उस से या स्रुवा से हवन करे (हाथ से नहीं) ॥८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्वां तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशीति सायम् ॥९॥

'मध्ये' अग्नेर्मध्यस्थले 'पूर्वां' प्रथमामाहुतिम् "अग्नये स्वाहा" 'इति' अनेन मन्त्रेण ' अपराजितायां ' दिशि अग्नेरैशान्यां ' उत्तराम् ' द्वितीयामाहुतिम् 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्याम् जुहुयात्। 'इति' एवं 'सायम्' सायङ्कालीनो होमः ॥९॥

भा०:—प्रथम आहुति तो " अग्नये स्वाहा " इस मन्त्र से अग्नि के बीच में और द्वितीय आहुति ईशान कोण में विना मन्त्र ही करे। यही सायङ्काल के होम का विधि हुआ ॥ ९ ॥

अथ प्रातः,-सूर्य्याय स्वाहेतिपूर्वां, तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशि ॥१०॥

"अथ प्रातः—" 'पूर्वाम्' प्रथमामाहुतिं "सूर्याय स्वाहा" "इति" अनेन मन्त्रेण। अन्यत् समानं पूर्वेण ॥१०॥

भाः—प्रातःकाल के होम की व्यवस्था भी इसी प्रकार, होगी, केवल "अग्नये स्वाहा" मन्त्र के बदले "सूर्य्याय स्वाहा" मन्त्र से आहुति होगी इतना ही इस में विशेषता है ॥ १० ॥

समिधमाधायानुपर्य्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वमंस्था इति मन्त्रविशेषः ॥११॥

सायं प्रातश्चोभयत्रैव होमानन्तरम्–'समिधम्' अमन्त्रकमेव 'आधाय' तत्राग्नौ हुत्वा 'अनुपर्युक्ष्य' पुनः पर्युक्षणं कर्त्तुं प्रवृत्तः 'तथैव' पूर्ववदेव 'उदकाञ्जलीन्' प्रसिञ्चेत्। तत्र 'अन्वमंस्था'–'इति' अयमेव भूतार्थपद-प्रयोगएव 'मन्त्रविशेषः' मन्त्रे विशेषः कर्त्तव्यः ॥ ११ ॥

भा०—'सायं' या 'प्रातः' दोनों ही काल में होम के पीछे अग्नि में एक समित् (होम की लकड़ी) विना मन्त्र के डाल कर पहिलेकी नाईं फिर 'पर्य्युक्षण' करने को प्रवृत्त होकर उदकाञ्जलि सींचे। इसी को 'अनुपर्य्युक्षण' कहते हैं। इसी 'अनुपर्य्युक्षण' में पूर्व मन्त्र के बदले में 'हे अदिते! तू ने मुझे इस कार्य्य के करने में अनुमति प्रदान किया थी' (मैं ने भी उस के अनुयायी कार्य्य सम्पन्न किया)–इसी मन्त्र का व्यवहार करना चाहिये यही विशेषता है ॥ ११॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापांशेषं निनीय पूरयित्वा चमसं प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥ १२ ॥

उक्तानुपर्युक्षणानन्तरम्–'अग्निं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'परिक्रम्य' 'अपाम्' अनुगुप्तानां कुम्भादेर्गृहीतानां वा 'शेषं' 'निनीय' पुनर्गृहीत्वा, तेनैवो-दकशेषेण 'चमसं' पानपात्रं 'पूरयित्वा' 'प्रतिष्ठाप्य' संरक्ष्य च 'यथार्थम्' यथा-प्रयोजनम् एतदुत्तरवक्ष्यमाणं सायं सायमाशादिकं प्रातः प्रातराशारिकञ्च कुर्वीतेति ॥ १२ ॥

भा०—उक्त "अनुपर्य्युक्षण" के पीछे प्रदक्षिण द्वारा अग्नि परिक्रमा

करके, गृहीत जल के अवशिष्ट को 'चमसि' में ढाल कर यथा आवश्यक कार्य के लिये रख छोड़े ॥ १२ ॥

एवं मत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीवितावभृथात् ॥ १३ ॥

'अतः ऊर्ध्वम्' एतद्दिवसत ऊर्ध्वम् 'आ जीवितावभृथात्' जीवितं जीवनम्, अवभृथश्च अश्वमेधादिमहायागक्रियान्त्यकर्म, तयोः समाहारः तस्मात् यावज्जीवनं महाक्रतुसम्पादनान्तं वा प्रतिदिनमेव सायं प्रातश्च 'एवम्' अनेन प्रकारेणैव तत्र 'गृह्ये अग्नौ' 'जुहुयात् वा' स्वयम्, 'हावयेद्वा' अपरेण प्रतिनिधिना ॥ १३ ॥

भा०—जिस दिन अग्नि ग्रहण पूर्वक प्रथम होम करे, उस दिन से यावज्जीवन या अश्वमेधादि महायाग में 'अवभृथ (अन्तिम स्नान) स्नान करने पर्यन्त प्रतिदिन सायं और प्रातः दोनों ही समय उपदिष्ट प्रकार से स्वयं होम करे या प्रतिनिधि (अपने बदले में दूसरे किसी के) द्वारा इस होम को करावे ॥ १३ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ १४ ॥

'अथ' अत्र विषये 'उदाहरन्ति अपि' अपरेण हावने विशेष विधिमप्यनेके वदन्ति ॥ १४ ॥

भा०—इस प्रतिनिधि के विषय में कतिपय लोग यह (विशेष) कहते हैं ॥१४॥

कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहाः पत्नी गृह्यएषोऽग्निर्भवतीति ॥१५॥

'एषः अग्निः' 'गृह्यः' गृहाय हितएव 'भवति',–'पत्नी' च 'गृहाः' गृहा, 'इति' अतोहेतोः 'गृह्ये अग्नौ' अत्र 'पत्नी', 'कामं' यथा स्यात्तथा, इच्छेच्चेत् 'सायंप्रातर्होमौ' यथोक्तौ द्वावेव, 'जुहुयात्' ॥ १५ ॥

भा०—पत्नी को गृहा (गृह कार्य्य की उपयोगिनी) कहते हैं एवं इस अग्नि को भी गृह्याग्नि कहते हैं अर्थात् घर के काम के उपयोगी अतएव पत्नी इच्छा करने पर सायं और प्रातः दोनों ही होम करे ॥ १५ ॥

निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रवाचयेत् ॥ १६ ॥

अनन्तरम्, 'सायमाशप्रातराशे' सायं सायम्भोजने प्रातः प्रातर्भोजने च 'निष्ठिते' अनुष्ठिते, ततः 'भूतम्' इदानींकर्त्तव्यजालं सम्पन्नम् 'इति' मनसि

विचार्य अन्तेवासिनो विज्ञाप्य वा 'प्रवाचयेत्' स्वाध्याय मध्यापयेत्; स्वान्ते वासिन इति शेषः । एष एव ब्रह्मयज्ञः ॥ १६ ॥

भा०—अनन्तर सायङ्काल में सायङ्काल का भोजन और प्रातःकाल में प्रातःकाल का भोजन प्रस्तुत होने पर छात्रों (विद्यार्थियों) को अध्ययन करावे । (इसी को 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं) ॥ १६ ॥

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा—॥१७॥

प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मैनमस्तन्माक्षा इत्युपांशु ॥ १८ ॥

ब्रह्मयज्ञकाले 'भगया वाचा ऋते' वेदवाक्यं विना अपरं किमपि लौकिकं प्रब्रूय 'अशुचिः भूत्वा, तदशुचित्वं दूरीकर्त्तुम् 'उच्चैः ओम् इति' किञ्च 'उपांशु' नीचैः 'तस्मै नमस्तन्माक्षाः' 'इति' मन्त्रद्वयं 'प्रतिजपति' प्रतिवार यावद्वारं लौकिकं वदेत् तावद्वारमेव जपेदिति ॥ १७-१८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१, ३॥

भा०—(ब्रह्मयज्ञ काल में) जिस वाक्य से कल्याण हो ऐसे वाक्य को छोड़, अन्य वाक्य का व्यवहार करने ही से अशुचि होगी ॥ १७ ॥

अपवित्र—वाक्य के व्यवहार से अशुचि होने पर प्रकट में "ओम्" कह कर, मन ही मन "उन को नमस्कार वे इस प्रकार कहने से फिर प्रवृत्त नहीं करते" इस मन्त्र का जप करे ॥ १८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के तृतीय
खण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, ३ ॥

अथ वाग्यतो बलीन् हरेत् । १

'अथ' प्रकरणारम्भद्योतकः । 'वाग्यतः' नियतवाक् हास्यकौतुकादिनिमित्तकमनृतभाषणाद्यनियतवाचं परित्यज्य 'बलीन्' बल्यर्थपाकादीनि प्रथमकर्त्तव्यानि 'हरेत्' आहरेत् सम्पादयेदित्यर्थः ॥१॥ उक्तनियतवाक्त्वमेव विशदयति—

भा०—हंसी ठठ्ठा (हास्य कौतुकादि) के निमित्त भी झूठ बोलना आदि अनियत वाक्य को छोड़ कर अर्थात् काम में मन लगा कर "बलिकर्म" करना चाहिये विचार पूर्वक पाकादि सम्पादन करना उचित है ॥ १ ॥

भाषेतान्नसꣳसिद्धिमातिथिभिः कामꣳसम्भाषेत । २

'अन्नसंसिद्धिं' अन्नसम्बन्धिनीं संसिद्धिं विक्लृत्यादिविषयणीं 'कथां

प्रश्नोत्तरादिकां' 'भाषेत' न तत्र निषेधः । किन्तु 'अतिथिभिः' समागतैः सह 'कामं' यथेच्छं विनयादिकं 'सम्भाषेत' तत्रापि न निषेधः ॥ २ ॥ वैश्वदेवविधिरुच्यते—

भा०—हां, अन्नपाक सम्बन्धी बातचीत (कथोपकथन) करने का निषेध नहीं और आये हुये अतिथिओं के साथ भी नम्रता से बात करने में कोई बाधा नहीं ॥ २ ॥

अथ हविष्यस्यान्नस्योद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्याग्नौ जुहुयात्तूष्णीं पाणिनैव ॥ ३ ॥

'अथ' पाकनिष्पत्त्यनन्तरं, 'हविष्यस्य अन्नस्य' तस्यैव पक्वस्य हविष्यरूपान्नस्य किञ्चिद् 'उद्धृत्य' गृहीत्वा, 'हविष्यै व्यञ्जनैः' सूपादिभिः 'उपसिच्य' गृहीतं तत् सम्मिश्रय, ' अग्नौ ' पूर्वोक्तलक्षणे गृह्ये, 'तूष्णीम्' अस्फुटवाक् सन् 'पाणिनैव' जुहुयात्, न तत्र स्रुवादेरपेक्षा ॥३॥ तत्र मन्त्रदेवते विधीयते—

भा०—पाक प्रस्तुत होने पर उस हविष्यान्न में से कुछ लेकर हविष्य व्यञ्जन के साथ उसी अग्नि में विना मन्त्र पढ़े एक आहुति देवे । इस आहुति में ' स्रुवादि ' की अपेक्षा नहीं, हाथ ही से उस का काम चल जावेगा ॥ ३ ॥

प्राजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरा ॥ ४ ॥

'प्राजापत्या' प्रजापतिदेवताका, तथाच मनसा प्रजापतिं प्रजानामीशानं सृष्टिस्थितिलयकर्त्तारं परमदेवं विचिन्त्य 'प्रजापतये स्वाहा'—इत्यस्फुटमेवोक्त्वा 'पूर्वाहुतिः' प्रथमा आहुतिः 'भवति' सम्पद्यते। 'सौविष्टकृती' स्विष्टकृद्देवताका, स्विष्टं शोभनाभिलाषं करोति पूरयति यः तमेव सर्वान्तर्यामिणं परमेशं मनसा विचिन्त्य 'स्विष्टकृते स्वाहा' इत्यस्फुटएवोक्ते 'उत्तरा' आहुतिः भवति। इत्यमुपदिष्टो देवयज्ञापरनामको नित्यहोमाभिधो वैश्वदेवः ॥ ४ ॥

भा०:—प्रजापति देवता अर्थात् जो इस विश्व (सम्पूर्ण) राज्य का प्रकृत (असल) राजा होकर प्रजारूप विश्व संसार को पालन कर रहे हैं उन्हीं परमेश्वर का मन ही मन चिन्तमन कर प्रथम आहुति और स्विष्टकृत् देवता अर्थात् जो एक मात्र सम्पूर्ण संसार का अन्तरयामी और सुमनोरथ पूरण करने वाला है उन को मन ही मन चिन्तमन करके द्वितीयाहुति देवे इसी को " देवयज्ञ " " नित्यहोम " और " वैश्वदेव " कहते हैं ॥ ४ ॥

अथ बलीन् हरेत्, वाह्यतोवान्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ॥ ५ ॥

'अथ' देवयज्ञापरपर्यायवैश्वदेवहोमानन्तरम्;—

'बाह्यतः वा अन्तर्वा' अग्न्यागारस्येति शेषः, 'सुभूमिं' मार्जनादिभिर्भूमिशोधनं 'कृत्वा' 'बलीन्' भूतयज्ञात्मकान् पशुपक्षिपिपीलिकादीनामाहारदानरूपान् 'हरेत्' सम्पादयेत् ॥ ५ ॥

भा०:—देवयज्ञ नामक उक्त होम के पीछे अग्नि-गृह के बीच में हो या बाहर। अर्थात् यथायोग्य चाहे जिस किसी स्थान में हो, झाड़ू आदि से भूमि को भली भांति साफ कर उस २ स्थान में पशु, पक्षी, पिपीलिका आदि को आहार देकर "बलिकार्य्य" पूरा करे ॥ ५ ॥

सकृदपो निनीय चतुर्धा बलिं निदध्यात्, सकृदन्ततः परिषिञ्चेत् ॥ ६ ॥

'सकृत्' एकवारम् 'अपः' उदकानि 'निनीय' भूमौ सिञ्चनं प्रकृत्य 'बलिं' पार्थिवभूताद्युद्देश्यकं दानं 'चतुर्धा' चतुःप्रकारं यथा स्यात् तथा 'निदध्यात्' तत्र मार्जितजलसिक्ते च स्थाने संरक्षेत्; 'अन्ततः' बलिनिधानान्ते पुनरपि पूर्ववत् 'सकृत्' एकवारम् अपः 'परिषिञ्चेत्' ॥ ६ ॥

भा०:—मार्जित (साफ कियी हुई) भूमि में पहिले एक वार जल छींट कर ४ भाग बलि अलग २ रक्खे और फिर उस पर जल छिड़के ॥ ६ ॥

एकैकं वानुविधानमुभयतः परिषिञ्चेत् ॥ ७ ॥

'वा' अथवा 'अनुनिधानम्' एकस्य पश्चादपरमिति क्रमेण चतुर्णामेव बलीनां स्थापनं कार्यमिति शेषः, किन्तु 'एकैकम्' एव 'उभयतः' स्थापनात् पूर्वस्मिन् पश्चादपि 'परिषिञ्चेत्' ॥ ७ ॥

भा०:—या एक २ भाग करके ही बलि स्थापन करे और प्रत्येक भाग के रखने के पहिले एकवार और पीछे एकवार जल छिड़के ॥ ७ ॥

स यत् प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवत्यथ यद् द्वितीयꣳ स वायव्यो यत् तृतीयꣳ स वैश्वदेवो यच्चतुर्थꣳ स प्राजापत्यः ८

'स' बलिप्रदाने प्रवृत्तः पुरुषः 'यत् प्रथमं निदधाति', 'सः' प्रथमो 'बलिः' 'पार्थिवः' पृथिवीदेवताको भवति। 'अथ' अनन्तरं 'यत् द्वितीयं' निदधाति, 'स' बलिः 'वायव्यः' वायुदेवताको भवति। 'यत् तृतीयं' निदधाति, 'सः' बलिः 'वैश्वदेवः' विश्वदेवदेवताको भवति। 'यत् चतुर्थं' निदधाति, 'सः' बलिः 'प्राजापत्यः' प्रजापतिदेवताको भवति ॥ ८ ॥

भा०:—बलि के उक्त ४ भागों में से प्रथम बलि पृथिवी देवी का, द्वितीय वायु देवता का, तृतीय विश्वेदेवा देवता का, चतुर्थ प्रजापति देवता का है ॥८॥

अथापरान् बलीन् हरेदुदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्याब्दैवतः प्रथमोबलिर्भवत्योषधिवनस्पतिभ्योद्वितीय आकाशायतृतीयः ९

'अथ' तद्बलिचतुष्टयविधानानन्तरम् 'अस्य' बलिनिधातुः 'उदधानस्य' यस्मिन् गृहे परिचरणीया आपो रक्षिताः तस्य ' द्वारस्य ' मध्यम्' मध्यतः अपरान्' त्रीन् 'बलीन्' 'हरेत्' सम्पादयेत् । तत्र, ' प्रथमः बलिः ' 'अब्दैवतः' 'भवति'; 'द्वितीयः' ' ओषधिवनस्पतिभ्यः ' ओषधिवनस्पतिदेवताकः भवति; 'तृतीयः' 'आकाशस्य भवति; तोषायेति सर्वत्र शेषणीयः ॥९॥

भा०:—इन चार बलि के स्थापन के पीछे यह बलि स्थापयिता (रखने वाला) के निज गृह के अर्थात् जिस गृह में " परिचरणीय " जल रक्षित रहता हो, उसी घर के द्वार के मध्य देश में अन्य तीन बलि रक्खे। उन में से प्रथम बलि जल देवता का, द्वितीय औषधि–वनस्पति का, और तृतीय आकाश का होता है ॥ ९ ॥

अथापरं बलिꣳ हरेच्छयनं वाधिवर्च्चं वा स कामाय वा बलिर्भवति मन्यवे वा ॥ १० ॥

'अथ' उक्त बलित्रयहरणानन्तरम् 'अपरम्' अपि एकं 'बलिम्' 'हरेत्' सम्पादयेत्। तस्य स्थानं निर्दिशति–' शयनं वा अधिवर्चं वा ' शय्यागृहस्य मध्ये शयनस्थानं वा तद्गृहमध्ये एव अधिवर्चं मूत्रत्यागादिस्थानं वा अभिलक्ष्येति । देवतां विधत्ते–' सः ' शयनस्थाने वा स्थापितो बलिः ' कामाय ' भवति, अधिवर्च्चस्थाने वा स्थापितो बलिः 'मन्यवे' भवति ॥ १० ॥

भा०:—इन तीन बलियों के रखने के बाद शयन गृह में चाहे सोने ही की जगह हो, या मल मूत्र त्याग आदि स्थान ही में हो, एक और बलि रक्खे। उन में से शयन–स्थान वाला बलि ' काम देवता ' का और अधिवर्च्च स्थान (मूत्र त्यागादि स्थान–जो सोने के घर में होता है) का बलि 'मन्यु देवता' का होता है ॥ १०॥

अथ सस्तूपꣳ स रक्षोजनेभ्यः ॥ ११ ॥

'अथ' अनन्तरं 'सस्तूपं' गृहावर्जनादिप्रक्षेपस्थान मभिलक्ष्य तत्रापि बलि मेकं प्रक्षिपेत् । 'सः' बलिः 'रक्षोजनेभ्यः' भवति ॥ ११ ॥

भा०:—उस के पश्चात्—कूड़ा आदि फेकने के स्थान में एक बलि देवे, यह बलि राक्षसों का होगा ॥ ११ ॥

अथैतद्‌बलिशेषमद्भिरभ्यासिच्यापसलवि दक्षिणानिनयेत् पितृभ्यो भवति ॥१२॥

'अथ' तदनन्तरम्, 'एतद्‌बलिशेषम्' अद्भिः अभ्यासिच्य जलसेकेन धौतप्रायं प्रकृत्य 'अपसलवि' अपसव्येन पितृतीर्थेन 'दक्षिणा' दक्षिणस्यां दिशि 'निनयेत्' विकिरेत्। स एव विकीर्णो बलिः 'पितृभ्यः' पितृदेवताकः 'भवति'१२

भा०:—उसके बाद पात्रस्थ बचे हुए अन्न को जल में धोकर हाथ की पैत्र अंगुली से दक्षिण की ओर फेंके, वह बलि पितृगण का होगा ॥ १२ ॥

[इस से गोभिलाचार्य्य के मत से १० भूतबलि निर्णीत हुए। उन में से ४ अग्निगृह में, ३ जलगृह के द्वार पर, एक शय्या—स्थान में हो या सूत्र-त्याग स्थान में हो, शयन—के कक्ष (बग़ल) में एक, और कूड़ा रखने की जगह एवं शेष को मकान के दक्षिण भाग में। किन्तु साधारणतः उत्तरोत्तर जल की तीन रेखा करके उस के ऊपर क्रमोद्‌र्ध्व भाव से ४ करके १२ बारह एवं सब के उत्तर एक और सब के दक्षिण एक इस प्रकार १४ बलि * का व्यव-हार इन दिनों देखा जाता है]

आसीन एवाग्नौ जुहुयात् ॥ १३ ॥

आसीनः पितृभ्यो दद्यात् यथोपपादमितरान् ॥१४॥

'आसीनः' उपविष्टः 'एव' 'अग्नौ जुहुयात्' पूर्वोक्तप्रकार मथ हविष्यस्यान्नस्योद्‌धृत्येत्यादिकं वैश्वदेवहोमं कर्त्तव्यम्। 'पितृभ्यः' अपि अथैतद्‌बलिशेषमित्युक्तं बलिशेषम् 'आसीनः' एव 'दद्यात्'। 'इतरान्' अथापरानित्याद्युक्तान् उदधानादिबलीन् 'यथोपपाद' यथा यथा उपपद्यते तथातथैव तिष्ठन् प्रह्वश्चलन् वा दद्यात्। १३, १४ ॥

---

*(१)—जैसे—— ०——ब्रह्मणेन मः १२ ०——कामाय नमः ८ ०——प्रजापतये नमः ४
०——वासुकये नमः ११ ०——आकाशाय नमः ७ ०—विश्वेभ्योदेवेभ्यो नमः ३
१३ रक्षोजनेभ्यः ० ०—पितृभ्यःस्वधा १४
०——इन्द्राय नमः १० ०—ओषधिवनस्पतिभ्यो नमः ६ ०——वायवे नमः २
०——मन्यवे नमः ९ ०——अद्भ्यो नमः ५ ०——पृथिव्यै नमः १

इस प्रकार १४ बलि की चाल वा प्रणाली यद्यपि अमूलक नहीं, परन्तु जिस कारण गोभिलाचार्य्य ने नहीं कहा है, इस लिये कौथुमी शाखा वाले द्विजों को ये १४ बलि कर्त्तव्य है ऐसा नहीं बोध होता है ॥ १२ ॥

भा०-पूर्वोक्त वैश्वदेव होम बैठकर ही करे; पितृगण को देने योग्य बलि-शेष भी (सू० १२) बैठ कर ही प्रदान करे। अन्य अर्थात् पूर्वोक्त जल गृहादि में देने योग्य बलि आदिक जिस २ प्रकार सम्पन्न हो सके उस २ प्रकार करे अर्थात् खड़े होकर, बैठ कर, निहुर कर, (जहां जैसा सुभीता हो वहां वैसा) करे ॥ १३, १४ ॥

स्वयन्त्वेवैतान् यावद्वसेद् बलीन् हरेत् ॥ १५ ॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥ १६ ॥

दम्पती एव ॥ १७ ॥

'एतान्' 'बलीन्' 'यावद्' 'वसेत्' स्वगृहे, तावत् 'स्वयमेव' 'हरेत्'। 'अपिवा' पीड़ादौ 'अन्यः ब्राह्मणः' प्रतिनिधिरपि अत्र अधिकारी। अत्र कार्ये 'दम्पती' भार्या पतिश्च उभौ 'एव' तुल्याधिकारिणौ ॥१५,१७॥

भा०—ये बलि जिस समय मकान पर रहे उस समय स्वयं ही सम्पन्न करे अथवा (पीड़ा आदि होने के कारण स्वयं असमर्थ होने पर) अन्य ब्राह्मण द्वारा भी कराने से हो सकत है। इस कार्य्य के लिये स्त्री पुरुष दोनों ही समान अधिकारी हैं। इससे पत्नी भी बलिहरण कर सकती है *॥१५,१६,१७॥

इति गृहमेधिव्रतम् ॥ १८ ॥

'इति' एतत्खण्डोक्तं वैश्वदेवादिकं 'गृहमेधिव्रतम्' गृहमेधिनः गृहस्थस्य व्रतम् अवश्यं प्रतिपाल्य नियमितकार्य्यम् ॥ १८ ॥

भा०:—यह (इस खण्ड के आरम्भ से अब तक जो कुछ कहा गया है) गृहस्थों के लिये अवश्य कर्त्तव्य है ॥ १८ ॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥ १९ ॥

'सायं स्त्री' 'प्रातः पुमान्' कुर्यादिदं बलिहरणम् 'इति' एवं नियमः कस्यचिदाचार्यस्य अभिमतः। अत्राप्यस्य गोभिलस्य नासम्मतिः ॥ १९ ॥

भा०:—'प्रातः काल में गृहस्वामी ही और सायंकाल में उस की पत्नी ही बलिहरण करे' यह भी किसी २ आचार्य का मत है ॥ १९ ॥

सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा स्वस्त्ययनस्य वाऽर्थार्थस्य वा ॥ २० ॥

---

* पत्नी विना वेद मन्त्र पढे बलिकर्म्म करे ऐसा आचार्य ने नहीं कहा !! मनु में स्त्रियों को विना मन्त्र पढे बलि हरण करे ऐसा लिखा है वह उन लोगों के लिये है जिन की मानव शाखा है ॥

'पित्र्यस्य वा' पितृकर्मार्थं शृतस्य, 'स्वस्त्ययनस्य वा' स्वस्त्ययनार्थं कल्याणार्थं ब्राह्मणभोजनाय शृतस्य वा, 'अर्थार्थस्य वा' अर्थः प्रयोजनं किमपि प्रयोजनं स्वभोजनादिकमुद्दिश्य पक्वस्य वा 'सर्वस्य एव' सर्वप्रकारस्यैवान्नस्य 'एतान् बलीन् हरेत्' बलिहरणे इदमेवान्नं ग्राह्यमिति न नियमः ॥२०॥

भा०:—पितृ कार्य के लिये हो, या ब्राह्मण भोजनादि कल्याण कार्य के लिये हो या अपने ही पेट भरने के लिये हो, सब ही प्रकार के अन्न से बलि कार्य सम्पन्न कर सकते हैं ॥ २० ॥

यज्ञादेव निवर्त्तते ॥ २१ ॥

'यज्ञात्' ज्योतिष्टोमादिकं यज्ञमारभ्य (ल्यब्लोपे पञ्चमी) 'एव' 'निवर्त्तते' इतः कर्मणः पुरुषइति यावत्। यज्ञे दीक्षितस्य नास्त्यत्रातिकर्त्तव्यतेति भावः ॥ २१ ॥

भा०:—ज्योतिष्टोमादि जिस किसी यज्ञ का क्यों न हो, अनुष्ठान आरम्भ करने पर फिर यह बलिकार्य करना उचित नहीं ॥ २१ ॥

यद्येकस्मिन् काले व्रीहियवौ प्रक्रियेतान्यतरस्य कृत्वा कृतं मन्येत ॥ २२ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् काले' 'व्रीहियवौ' उभयविधे अन्ने प्रक्रियेताम् प्रस्तुतीकृते स्यातां, तर्हि 'अन्यतरस्य' व्रीहेर्यवस्य वा बलिहरणं 'कृत्वा' 'कृतम्' सम्पन्नं विधिविहितं बलिहरणमिति 'मन्येत' जानीयात् ॥ २२ ॥

भा०:—यदि एक ही समय 'तण्डुल' और "यव" दोनों ही प्रकार का अन्न प्रस्तुत हो, तो दोनों प्रकार के अन्न से बलि कार्य न करना चाहिये, चाहे दोनों अन्न में से किसी से हो एक ही से बलि कार्य हो सकता है ॥२२॥

यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २३ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् काले' 'पुनः पुनः' भृशम् 'अन्नं पच्येत,' तर्हि प्रथमपक्वेनान्नेन द्वितीयाद्यैर्वा 'सकृत्' एकवारमेव 'एतद्' 'बलितन्त्रं' 'कुर्वीत'॥२३॥

भा०:—यदि एक ही समय दो, तीन, या इससे भी अधिक वार, अन्न पके तो प्रतिवार बलिकार्य नहीं करना किन्तु एक ही वार करे ॥ २३ ॥

यद्येकस्मिन् कुले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसादेवैतद्बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २४ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् कुले' बहुभ्रात्राद्यधिकृते एकवेश्मन्यपि पृथगन्नत्वाद् बहुमहानसेषु सत्सु बहुधा अन्नं पच्येत', तर्हि 'गृहपति-महानसात्' तेषां मध्ये यस्य गुरुत्वादेर्हेतोः स्वामित्वं तस्यैवैकस्य महानसात् पाकस्थानात् 'एव' एतद् बलितन्त्रं' 'कुर्वीत' न तु प्रतिमहानसात् ॥ २४ ॥

भा०:—यदि एक ही मकान में एक वंश के अनेक व्यक्ति भिन्न २ पाक करके रहते हों, तो उन में से जो सब से श्रेष्ठ होने से घर के स्वामी या मालिक बने हों, वही पाकशाला से इस बलि कार्य को करें; प्रत्येक 'महानस' (रसोई घर) से बलि कार्य न करना चाहिये ॥ २४ ॥

यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येन्नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्रं ब्राह्मणाय दत्त्वा भुञ्जीत॥२५॥

यस्यो जघन्यं भुञ्जीतैवेति ॥ २६ ॥

'एषाम्' एकगृहस्थितानां पृथगन्नानां भ्रात्रादीनां मध्ये 'यस्य तु' 'अग्रतः सिध्येत्' अन्नमिति यावत्, सः किञ्चिदन्नम् 'अग्नौ' 'नियुक्तं' 'कृत्वा' अनन्तरम् 'अग्रं' पक्वान्नस्याग्रभागं 'ब्राह्मणाय' अतिथये' 'दत्त्वा' ततः स्वयं 'भुञ्जीत'। 'यस्य उ' यस्य तु निष्पन्नाग्रपाकस्य 'जघन्यम्' अरुचिकरं कदर्यमन्नं पाकादिदोषेण स्यात्, स तु 'भुञ्जीत एव' न तेनान्नेनातिथिं सेवयेत् अपितु तदनन्तरकृतपाकएवातिथिं सत्कुर्य्यात् ॥ २५, २६ ॥

भा०:—यदि एक घर में अनेक पाक वाले (लोग) रहते हों तो उनमें से जिस का भोजन सब से पहिले प्रस्तुत हो वही थोड़ा अन्न अग्नि में डाल कर पके अन्न में से अतिथि सेवा के पश्चात्, आप भोजन करे; परन्तु यदि वह अन्न पाकादि दोष से अग्राह्य (ख़राब) हो जावे तो उस से अतिथि सेवा न करके उसे स्वयं भोजन करे; और फिर से पाक करके अतिथि सेवा करे* ॥२५,२६॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥२७॥

'अथापि' अपरमपि किञ्चित् 'उदाहरन्ति' वदन्ति पूर्वाचार्याः, अत्रैवेति शेषः। तथाहि— ॥२७॥

भा०:—पूर्वाचार्यगण इस "बलिहरण" के विषय में और भी कुछ विशेषता कहते हैं ॥ २७ ॥ जैसेः—

---

* इससे नरमेध अर्थात् अतिथि सेवा में जिस का जिस दिन पहिले पाक हो और अच्छा पाक हो उस दिन उसी को अतिथि सेवा करनी आवश्यक है, अन्य लोगों की इच्छा रही करें या न करें ऐसा सूचित होता है२५,२६

एतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रुवीत भवति हैवास्य २८

'एतस्यैव बलिहरणस्य' 'अन्ते' अनन्तरं कामं स्वाभिलाषं 'प्रब्रुवीत' प्रार्थयीत । 'अस्य' प्रार्थकस्य 'ह' निश्चयं 'भवति' प्रार्थितसिद्धिरिति ॥२८॥

किं कुर्वन् कामं प्रब्रुवीतेत्यत्रोत्तरमाशस्यबलिहरणं कुर्वन्निति, तदेव स्वगतं विशदयितुमासस्यबलिहरणं विधत्ते—

भा०:—इस बलि के करने पश्चात् जैसी अपनी इच्छा हो " वर " मांगे (अर्थात् परमात्मा से मन ही मन) यह प्रार्थना निश्चय सिद्ध होगी ॥ २८ ॥

स्वयन्त्वेवाशस्यं बलिं हरेत् यवेभ्योऽध्याव्रीहिभ्यो व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः सत्वाशस्यो नाम बलिर्भवति ॥२९॥

दीर्घायुर्हैव भवति ॥३०॥

'आशस्यं बलिं हरेत्' एतेनैव कामप्रार्थनं सम्पन्नं भवेन्नाम । तञ्च बलिं 'स्वयम्' एव हरेत्, नात्र प्रतिनिधिः कार्यः । कीदृशश्च स आशस्यबलिरित्याह— 'अध्याव्रीहिभ्यः' व्रीह्यन्नोत्पत्तितः पूर्वं 'यवेभ्यः' यवाधारोपरि, किञ्च 'अध्यायवेभ्यः' यवशस्योत्पत्तितः पूर्वं 'व्रीहिभ्यः' व्रीह्याधारोपरि बलिं हरेत् 'स तु' स एव 'आशस्यो नाम बलिर्भवति' । 'ह' निश्चयम् 'एवं' एतेन बलिप्रदानेन 'दीर्घायुः भवति' पुरुष इति । २९, ३० ॥

भा०:—उक्त वर प्रार्थना करनी हो तो एक " आशस्य " नामक 'बलि' स्वयं (प्रतिनिधि द्वारा नहीं) प्रदान करे । जिस समय तक हेमन्त ऋतु का धान्य शस्य (खेत में लगा हुआ अनाज) प्रस्तुत न हो तब तक यव के अन्न होने के पूर्व और तत्पश्चात् जब तक यव शस्य प्रस्तुत न हो तब तक धान्यकी उत्पत्ति के निकट एक बलि होना चाहिये । इसी को आशस्य बलि कहते हैं । इस बलिप्रदान से अवश्य ही दीर्घायु लाभ होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥

विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिंहरेत् स रौद्रो भवति स रौद्रो भवति ॥३१॥ ४ ।

इदानीं तत्राशस्ये बलौ द्रव्यं विधत्ते—'फलीकरणानां' वितुषीकृतानां धान्यानां यवानां वा 'विश्राणिते' पाकसिद्धे सति, 'आचामस्य, मण्डस्य 'अपां' मण्डद्रवीभूतानामिति यावत्, अंशं गृहीत्वा तेनैव 'बलिम्' आशस्यं 'हरेत्' । तत्रैव देवतां निर्द्दिशति,—'सः' बलिः 'रौद्रः' रुद्रदेवताको 'भवति' । एतेन 'रुद्राय नमः'—इत्येव तत्र मन्त्रः इत्यपि सूचितम् । अभ्यासः खण्डसमाप्ति सूचकः ३१

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१, ४॥

भा०:—यह बलि, यव या भात के मावड से सम्पन्न करे और " रुद्राय नमः " इस मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥

अथ दर्शपौर्णमासयोः ॥१॥

इत्यधिकारसूत्रम् । प्रपाठकान्तमधिकृतं वेदितव्यम् ॥१॥

भा०:—अब यहां से दर्श और पौर्णमासयाग के विषय में उपदेश आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

सन्ध्यां पौर्णमासीमुपवसेदुत्तरामित्येके ॥२, ३ ॥

'सन्ध्यां पौर्णमासीं यस्मिन्नहनि प्रातःसन्ध्याकालतस्तत्पूर्वत एव वा पौर्णमासी आरब्धा, तमेवाहः 'उपवसेत्' । 'एके' आचार्याः 'उत्तराम्' अस्तमितोदयामुच्चैरुदयां वा पौर्णमासीमुपवसेत् 'इति' आहुः; तत्रापि न दोष इत्याशयः २—३

भा०:—दर्श पौर्णमासयाग करना हो तो, उस २ दिन के पूर्व उपवास रहना चाहिये । उसी विषय में कहा जाता है कि सन्ध्या पौर्णमासी * लक्ष्य करके उस दिन उपवास करे; उत्तरा पौर्णमासी में अर्थात् अस्तमितोदया * वा उच्चैरुदया * में ही उपवास करना योग्य है । यह कतिपय आचार्य लोग कहते हैं । अर्थात् गोभिलाचार्य के अपने मत से जिस दिन सूर्योदय में पूर्णिमा हो, पश्चात् अपरान्ह में या रात्रि में प्रतिपत् (परिवा) हो, या अरुणोदय पर्यन्त ही पूर्णिमा हो, उसी दिन उपवास कर्त्तव्य है । किसी २ के मत से उत्तरा पौर्णमासी उपवास के योग्य है । अर्थात् जिस दिन चतुर्दशी होकर पीछे सूर्यास्त समय या उसके पीछे पूर्णिमा हो उस दिन उपवास करे ॥२, ३॥

अथ यदहश्चन्द्रमा न दृश्येतताममावास्याम् ॥४॥

उपवसेतेत्यनुवर्त्तते । एतेन गताध्वाऽमावास्या नोपास्येति फलिता ॥ ४ ॥

भा०:—जिस दिन चन्द्र दर्शन की कोई सम्भावना न हो, सूर्योदय ही से सम्पूर्ण अमावास्या वा पीछे प्रतिपत् हो, उसी दिन अमावास्या का उपवास होगा । इस से जिस दिन चतुर्दशी के पीछे अमावास्या हो जिस को 'गताध्वा' कहते हैं, उस में उपवास सुतरां निषिद्ध हुआ । फल तो पूर्णिमा और अमावास्या के उपवास में है, और दोनों ही में उदयातिथि ग्राह्य है; सुतरां पूर्वपक्ष याग की परिवा और अपर पक्षयाग के प्रतिपत्, सूर्योदय

---

* १० म और ११ एकादश सूत्र देखने से ये तीन भेद समझ पड़ेंगे ॥

में जिस दिन जो तिथि हो, वही ग्राह्य है ॥ ४ ॥

पक्षान्ताउपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः ॥ ५ ॥

यावज्जीवं सर्वेषामेव मासानां 'पक्षान्ताः' अमावास्याः पूर्णिमाश्च 'उपवस्तव्याः' तासु उपवासः कार्य्यः । किञ्च 'पक्षादयः' कृष्णानां शुक्लानाञ्च सर्वेषामेव पक्षाणामादिभूताः प्रतिपदः 'अभियष्टव्याः' तासु वक्ष्यमाणलक्षणो यागः कार्य्यः ॥५॥

भा०—जबतक जीवे, प्रतिमास के पक्षान्त में अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा में उपवास करना चाहिये एवं प्रतिमास के पक्षादि में अर्थात् शुक्ल और कृष्ण दोनों परिवा तिथि में याग करे ॥ ५ ॥

आमावास्येनहविषापूर्वपक्षमभियजतेपौर्णमास्येनापरपक्षम्६

अमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपदि यद्धविर्हूयते तेनैव 'आमावास्येन' हविषा' 'पूर्वपक्षम्' शुक्लपक्षं पञ्चदशाहं समग्रमेव 'अभि' व्याप्य 'यजते' यागं कृतमिति स्वीकृतं स्यात् । एवं 'पौर्णमास्ये' हविषापि 'अपरपक्षं' सर्वमिति ॥६

अत्र प्रसङ्गात्, उपवास्य—पौर्णमास्यामावास्यानिर्णयाय च पौर्णमास्यादि लक्षणं तत्तद्भेदनिर्णयञ्चाह—

भा०—अमावास्या को उपवास करके शुक्ल पक्ष की परिवा को जो "याग" किया जावेगा, वही याग सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में व्याप्तयाग किया हुआ मानना चाहिये, और पूर्णिमा में उपवास करके कृष्णपक्ष की परिवा में जो याग किया जा येगा, उसी में समस्त कृष्णपक्ष व्यापी याग सम्पन्न हुआ—समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः सङ्कर्षः सामावास्या ॥७॥

' सूर्याचन्द्रमसोः ' ग्रहयोः मिथः 'यः' यस्यां तिथौ "परमः' अतिशयितः 'विकर्षः' विप्रकर्षः दूरतोऽवस्थानम् (उभयोर्मिथः सप्तमराशिस्थत्वात्), 'सा' तिथिः ' पौर्णमासी' ; 'यः' यस्यां तु ' परमः ' अतिशयितः 'सङ्कर्षः' सन्निकर्षः सान्निध्यम्' (उभयोरेकराशिस्थत्वात्), 'सा' तिथिः 'अमावास्या' ॥७॥

भा०—सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों ग्रहों के जिस तिथि में परम विकर्ष हो अर्थात् परस्पर सप्तम राशि में स्थिति होने से अति दूर में अवस्थिति होती है, उसी तिथि को 'पौर्णमासी' कहते हैं । एवं जिस तिथि में इन दोनों ग्रहों के परम सङ्कर्ष घटे (अत्यन्त निकट) उस तिथि को अमावास्या कहते हैं ॥७॥

यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येतताममावास्याङ्कुर्वीत दृश्यमानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति ॥८, ९॥

'यदहः' यस्मिन् दिने 'तु' 'चन्द्रमा न दृश्येत एव', 'ताम्' तिथिम् 'अमावास्यां' 'कुर्वीत' स्वीकुर्वीत । 'एकदा' एकस्मिन् काले अहोरात्रयोः दृश्यमानेऽपि' चन्द्रमसि, सा 'गताध्वा' प्राप्तपथा अमावास्येति लब्धनामा 'भवति' 'इति' गतमिदं पौर्णमास्य वाह्यालक्षणम् ॥ ८,९ ॥ पौर्णम सी त्रिविधेत्याह—

भा०—जिस दिन रात्रि में चन्द्रदर्शन की सम्भावना नहीं, उस को अमावास्या कहते हैं । एकवार केवल कुछ समय के लिये चन्द्रदर्शन की सम्भावना के स्थानमें भी अमावास्या स्वीकार कियी जाय उस को 'गताध्वा' कहते हैं । अर्थात् आरब्धगति अमावास्या कहने से इस से जिस सूर्योदय काल में या उस के पीछे सन्ध्या के पीछे तक भी चतुर्दशी हो किन्तु रात्रि में अमावास्या हो उसी को " गताध्वा " कहते हैं, एवं जिस दिन सूर्योदय से अमावास्या, सम्पूर्ण रात्रि भी अमावास्या वा कुछ रात्रि बीते पर भी प्रतिपदा आरम्भ हो; उस को भी अमावास्या ही कहते हैं। इस प्रकार दो प्रकार की अमावास्या निश्चित हुई ॥ ८, ९ ॥

त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति सन्ध्या वास्तमितोदिता वोच्चैर्वाऽथ यदहः पूर्णोभवति ॥१०, ११॥

'अथ' 'यदहः' यस्मिन् दिने 'पूर्णः भवति ' चन्द्रमा, सैव पौर्णमासीति शेषः । 'पौर्णमासीकालाः' 'त्रयः भवन्ति ।' तथाहि—सन्ध्येत्यादि । सूर्योदयात् तत्पूर्वतो वा पूर्णिमा यत्र सा सन्ध्या—पौर्णमासी, सूर्यास्तमितेन साकमेव पूर्णोदयो दृश्येत चेत् सा अस्तमितोदिता—पौर्णमासी, सूर्यास्तात् उच्चैः ऊर्ध्वं रात्रौ पूर्णश्चेत् चन्द्रः, सैव उच्चैः—पौर्णमासीत्युक्तास्त्रयः कालाः ॥ १०, ११ ॥

भा०—जिस दिन रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा की सम्भावना हो, उसी दिन पूर्णिमा होती है। यह पूर्णिमा तीन प्रकार की है । प्रथम, सन्ध्या पूर्णिमा, अर्थात् प्रातःसन्ध्या के पहिले आरम्भ, रात्रि में पूर्णिमा वा प्रतिपदा होती है । द्वितीय, अस्तमितोदया पूर्णिमा; यह सूर्यास्तकाल में प्रारब्ध सुतरां दिन में चतुर्दशी एवं रात्रि में और उस के पीछे दिन बहुतक—पूर्णिमा होती है। तृतीय, उच्चैः पूर्णिमा, अर्थात् सूर्यास्त के पीछे चतुर्दशी छोड़ कर पूर्णिमा जो पर दिन बहुत रात्रि तक रहेगी ॥ १०, ११ ॥

पृथगेवैतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवत्यधीयीत वा तद्विद्भ्यो वा पर्वावगमयेत ॥१२॥

'एतस्य ज्ञानस्य' ग्रहनक्षत्रकालादिबोधस्य 'पृथगेव 'अध्यायः' पाठ्योग्रन्थः 'भवति' ज्योतिःशास्त्रमिति। 'अधीयीत वा' तं ग्रन्थं समग्रं 'तद्विद्भ्यः' ज्योतिर्वेत्तृभ्यः; सम्पूर्णशास्त्राध्ययनेऽप्रवृत्तश्चेत् 'पर्व' पक्षान्तकालः तन्मात्रमेव 'अवगमयेत्' अवगतं स्यात्। अतोऽप्रकृतवर्णनाविस्तारोऽत्रास्माभिर्नक्रियतइति भावः॥१२

भा०—ग्रह नक्षत्रादि की स्थिति गत्यादि विषय विशेष जानने से,ये सब बातें भली भांति जानी जासकती हैं। यदि यह जानना हो तो इस के लिये भिन्न ज्योतिषशास्त्र है उसी को ज्योतिर्विद् पण्डित के निकट पढ़े या सामान्यतः इस को कुछ २ जान लेने से भी होसकता है ॥१२॥

अथ यदहरुपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वैतदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तम्पर्युपलिम्पत्यथेध्मानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा खादिरपालाशालाभे बिभीतकतिल्वकबाधकनीवनिम्बराजवृक्षशाल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जꣳ सर्ववनस्पतीनामिध्मोयथार्थꣳस्याद्विशाखाणि प्रति लूनाः कुशाबर्हिरुपमूललूनाः पितृभ्यस्तेषामलाभेशूकतृणशरशीर्य्यबल्वजमुतवनलशुण्ठवर्जꣳसर्वतृणान्याज्यꣳस्थालीपाकीयान् व्रीहीन् वा यवान् वा चरुस्थालीं मेक्षणꣳस्रुवमनुगुप्ता अप इति यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामो न तदहः प्रसृज्येत दूरादपि गृहानभ्येयादन्यतस्तुधनं क्रीणीयान्न विक्रीणीताबहुवादी स्यात् सत्यं विवदिषेद्थापराह्ण एवाप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती भुञ्जीयातां यदेनयोः काम्यꣳ स्यात् सर्पिर्मिश्रꣳ स्यात् कुशलेन ॥१३—२६॥ ५

'अथ' कालनिर्णयानन्तरमुपवासदिनकर्त्तव्यतां वदामइति। 'यदहः' यस्मिन् दिने 'उपवसथः' उपवासः कर्त्तव्यः 'भवति', 'तदहः' तस्मिन् दिने, अर्थतः पूर्वपक्षयागाय अमावास्यायामपरपक्षयागाय सन्ध्याज्ञामपौर्णमास्यां

च ‘ पूर्वाह्णे एव ’, प्रातराहुतिं हुत्वा’ अग्निहोत्रीयप्रातर्होमं समाप्य इमानि कर्त्तव्यानि । तानि च यथा—‘एतदग्नेः’ प्रातराहुत्यादिसाधनाग्नेः ‘स्थण्डिलं’ ‘गोमयेन’ ‘समन्तं पर्युपलिम्पति’ समन्तात् सर्वत उपलिम्पेत् इत्येकम् । ‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘खादिरान् वा पालाशान् वा’ ‘इध्मान्’ इन्धनकाष्ठान् ‘उपकल्पयते’ उपकल्पयेत उपस्थितान् कुर्वीतेति द्वितीयम् । तत्र ‘खादिरपालाशालाभे’ एतत्सूत्रपरिगणितबिभीतकादिकतिपयवृक्षेध्मवर्जं ‘ सर्ववनस्पतीनाम् ’ एव ‘इध्मः’ ‘यथार्थं’ अर्थः प्रयोजनं सिद्धं यथा स्यात् तथा कृत्वा ग्रहणीयः ‘स्यात्’। ‘विशाखानि’ येभ्यः स्थानेभ्यः शाखा विश्लिष्टा भवन्ति, तानि सन्धिस्थानानि ‘प्रति’ लक्षीकृत्य ‘लूनाः’ ‘छिन्नाः’ ‘कुशाः’ कुशतृणानि ‘बर्हिम्’ बर्हिषे बर्हिरास्तरणादिदेवकार्य्यार्थं मुपकल्पयेतेति तृतीयम् । ‘उपलूनमूलाः’ मूलसमीपतश्छिन्नाः कुशाः कुशतृणानि ‘ पितृभ्यः ’ पितृकार्य्यार्थमुपकल्पयेतेति चतुर्थम् । तत्र ‘ तेषां ’ कुशानाम् ‘अलाभे शूकादिकवर्जम् ‘सर्वतृणानि’ एव ग्राह्याणि । ‘आज्यं’ घृतं सम्पाद्यमिति पञ्चमम् । ‘स्थालीपाकीयान्’ स्थालीपाके पक्तव्यात् ‘व्रीहीन् वा यवान् वा’ सम्पादयेदिति षष्ठम् । ‘चरुस्थालीं’ पाकपात्रं सम्पादनीय मिति सप्तमम् । ‘मेक्षणं’ दर्वीविशेषमासाद्यमित्यष्टमम् । ‘स्रुवम्’ आहुतिसाधनमासाद्यमिति नवमम् । ‘अनगुप्ता अपः’ पूर्वोक्त लक्षणाः आसादनीयाइति दशमम् । अन्यानि ‘यानि च’ ‘अनुकल्पम्’ पश्चादिहैव दर्शपौर्णमासयागकर्त्तव्यानि ‘उदाहरिष्यामः’ वक्ष्यामः, तान्यपि सर्वाणि सम्पाद्य स्थण्डिले उपस्थाप्यानि । अथ तद्दिनप्रतिपाद्यनियमानाह—‘तदहः’ तस्मिन्नहनि ‘न प्रसृज्येत’ गृहत्यागं न कुर्वीतेति प्रथमनियमः । यदि पूर्वं दूरगत स्तिष्ठेत् तर्हि तद्दिने तस्मात् ‘दूरादपि’ ‘गृहान्’ स्वकीयान् ‘अभ्येयात्’ आगच्छेदिति द्वितीयनियमः । ‘अन्यतस्तु’ वणिजादेः सकाशात् ‘धनं’ क्रय्यद्रव्यं ‘ क्रीणीयात् ’ ‘ न विक्रीणीयात् ’ इति तृतीयनियमः । ‘ अबहुवादी’ मितभाषी ‘ स्यात् ’ इति चतुर्थनियमः । ‘सत्यं’ ‘विवदिषेत’ वक्तुमिच्छेत् “सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः” (ऐ०ब्रा० २, १, ३,)—इति श्रुतिपरिचयान्निश्चयमेव सर्वतः सत्यपालने न विद्यते शक्तिर्मनुष्याणामिति यावच्छक्यं सत्यमेव वदेदिति पञ्चमनियमः । ‘ अथ ’ इध्मादिसम्पादनानन्तरम् ‘ अपराह्णे एव ’ ‘दम्पती’ यजमानस्तस्य पत्नी च उभावेव स्नानं प्रकृत्य ‘ औपवसथिकं ’ उपवासदिननियमसेव्य मक्तादिकं तथा च ‘ लवणं ’ मधु मांसं च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत, नोरुरात्रौ च किञ्चन’—इति गृह्यान्तरवचनानुगतमिति यावत् (उरुरात्री समधिकारात्री;

अधिकरात्रिभोजनेन पीडासम्भवस्तथा च सत्यां परदिनकार्य्यव्याघातः स्यादित्य-भिप्रायः)। 'एतयोः' दम्पत्योः 'यत्' किञ्चन 'काम्यम्' ईप्सितं 'स्यात्' तदेव 'सर्पिर्मिश्रं' घृतसहितं 'कुशलेन' सन्तृप्तमनसा 'भुञ्जीयाताम्' ॥ १३—२६ ॥
इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १। ५॥

भा०:—इसके अनन्तर उपवास दिन के कर्त्तव्य आदि उपदेश करते हैं। जिस दिन उपवास कर्त्तव्य हो, उस दिन जब कि सूर्योदय में पूर्णिमा हो और जिस दिन सूर्योदय में अमावास्या हो उस दिन पूर्वार्द्ध में अग्निहोत्र की प्रातराहुति समाप्त कर ये सब कार्य करे अर्थात् प्रथम गोबर से अग्निगृह अच्छी प्रकार लीपे। दूसरे, खैर, या पलाश के इन्धन इकट्ठा करे। यदि खैर या पलाश के संग्रह करने में कठिनता हो तो बहेड़ा (विभीतक) लोध, वाधक (?) कदम्ब, निम्ब, राजवृक्ष, शाल्मली, अरलु, दधित्थ, इन ग्यारह को छोड़ कर अपर जो कोई काष्ठ हो यज्ञीय इन्धन हो सकता है। तृतीय, देव कार्य के लिये स्कन्ध से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे। चतुर्थ, पितृ कार्य के लिये मूल से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे। यदि कुशा संग्रह करने में कोई कठिनता हो तो, शुकतृण, शर, शीर्य, बल्वज, मुतव, (?) इन सात प्रकार के तृणों को छोड़ कर अपर जो कोई तृण हो यज्ञार्थ व्यवहृत हो सकता है। ५ म घृत, ६ ठे, स्थाली पाक में पाक के उपयुक्त कतिपय धान्य या यव, सप्तम, चरुस्थाली (पाकपात्र), ८ म, मेक्षण; ९ म, स्रुव; १० म, रक्षित जल इन उक्त १० को एवं आगे जो दो कहे जायँगे इन सब को सम्पादन कर अग्निगृह में उपस्थित करे। उस दिन वक्ष्यमाण कतिपय नियम भी प्रतिपालन करना चाहिये। प्रथम, गृहत्याग नहीं करना, दूसरे, दूरस्थ होने पर भी ऐसे अवसर में अपने घर को लौट आवे; तीसरे, अन्य व्यक्ति से वस्तु मोल तो ले, पर अपनी वस्तु बेचे नहीं; चतुर्थ, मितभाषी अर्थात् प्रयोजन से अधिक नहीं बोलना; पांचवें, सम्पूर्ण रूप से सत्य ही बोलने की इच्छा रखनी। अनन्तर स्त्री, पुरुष, दोनों ही अपराह्ण में स्नान कर उपवास दिन के नियमानुसार * जो इच्छा हो वही घी मिलाकर तृप्ति के साथ भोजन करे ॥१३—२६॥
गो० गृ० सू० के प्रथमाध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १, ५ ॥

मानतन्तव्यो होवाचाहुता वा एतस्य मानुष्याहुति-

---

* अर्थात् उपवास दिन लवण, मधु, माँस, अपर जिस २ वस्तु से शरीर में क्षारांश उत्पन्न हो, उस २ को नहीं खाना। इसे छोड़ सब ही वस्तु खा सकते हैं परन्तु अधिक (रात्रि में) नहीं खाना अर्थात् जिस से पचने में अजीर्ण होकर दूसरे कार्य्य करने में व्याघात हो ॥

भवति य औपवसथिकं नाश्नात्यनीश्वरो ह क्षोधुको भवत्यकाम्यो जनानाम्पापवसीयसी हास्य प्रजा भवति य औपवसथिकं भुङ्क्त ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानां वसीयसी हास्य प्रजा भवति तस्माद्यत् कामयेतौपवसथिकं भुञ्जीयातामध एवैताᳫं रात्रिᳫं शयीयातान्तौ खलु जाग्रन्मिश्रावेवैताᳫं रात्रिं विहरेयातामितिहासमिश्रेण वा केनचिद्वा जुगुप्सेयातान्त्वेवाव्रत्येभ्यः कर्म्मभ्यो न प्रवसन्नुपवसेदित्याहुः पत्नया व्रतं भवतीति ॥१–९॥

'मानतन्तव्यो' नामाचार्यः 'उवाच ह' निश्चयत्वेन कथितवान्। तथाहि आहुतेत्यादि पत्नया व्रतं भवतीत्यन्तम्। 'यः' यजमानः 'औपवसथिकम्' उवाच स–दिन–भोज्यं भोजनं 'न अश्नाति' निराहारएव तिष्ठति, 'एतस्य' 'मानुष्याहुतिः' मनुष्योपकारार्था आहुतिः यागक्रिया 'वै' निश्चयम् 'आहुता' निष्फला 'भवति' एवञ्च 'क्षोधुकः' क्षुद्युक्तः पुरुषः 'ह' निश्चयमेव अनीश्वरः' व्रतकर्मकरणे दौर्बल्यादसमर्थः 'भवति' किञ्च 'जनानाम्' लोकसाधारणानमपि 'अकाम्यः' अप्रियः भवति। अपिच 'ह' निश्चयमेव 'अस्य' क्षुद्युक्तस्य 'प्रजा' सन्ततिः 'पापवसीयसी' पापबुद्धिवशीभूता 'भवति'। पक्षान्तरे–'यः औपवसथिकं भुङ्क्ते' सः सुतराम् 'अक्षोधुकः' क्षुच्छून्यः 'ईश्वरः' व्रतकर्मकरणे सबलत्वात् 'भवति'। किञ्च 'जनानां' लोकसाधारणानामपि 'काम्यः' प्रियः भवति। अपिच 'ह' निश्चयमेव 'अस्य' क्षुच्छून्यस्य 'प्रजा' सन्ततिः 'वशीयसी' स्ववशभूता 'भवति'। तस्मात्' क्षुद्युक्तस्य यजमानस्य एवं निन्दाश्रवणात् 'औपवसथिकम्' उपवसथ–दिन–भोज्यं 'यत् कामयेत्' 'भुञ्जीयाताम्' दम्पतीति। 'एताम्' उपवासदिवसीयां 'रात्रिम्' 'अधः' नीचैः 'शयीयाताम्'। किञ्च 'तौ' दम्पती 'खलु' निश्चयम्। 'एतां रात्रिं' 'जाग्रन्मिश्रौ' अंशशो निद्रितौ अंशशो जागरितौ 'एव' 'विहरेयातां' यापयेताम्। तत्र जागरणोपायमभिगमयितुमाह–इतिहासमिश्रेण वा' इतिहासो वैदिकेतिवृत्तः "ब्रह्म ह व इदमेक मग्रआसीदित्यादिः" तदालोचनामिश्रितेन स्वापेन रात्रिं यापयेताम्; 'वा' अथवा 'केनचित्' येनकेनाप्यभियुक्तसज्जनेन साकं धर्मालोचनया जागरितौ रात्र्यंशं यापयेताम्, न

तु सर्वां रात्रिम् अस्ताद्युदयान्तां जडाविव सुप्तौ भवेतामिति भावः । 'तु' परन्तु जाग्रदवस्थायाम् 'अव्रत्येभ्यः कर्मभ्यः' स्त्रीसंसर्गादिभ्यः 'जुगुप्सेयातामेव' आत्मनो रक्षणं कुर्वीयातमेवेति । 'प्रवसन्' प्रवासं कुर्वन् 'नउपवसेत्' 'इति आहुः' केचनेति । परं तत्रापि गृहे पत्नीस्याच्चेत् तया 'पत्न्या' व्रतं भवति' न तु व्रतभङ्गाशङ्केति भावः । 'इति' खण्डारम्भादि एतत्पर्यन्तं समस्तमेव मानतन्तव्याचार्याभिमतमिति यावत्, ममाप्यभिमतमेवेति प्रदर्शितम् । १—९

भा०:—'मानतन्तव्य' नामक आचार्य कहते हैं कि "जो कोई यजमान उपवास दिन में उस दिन के नियमानुसार यदि भोजन न करे तो उस के मनुष्योपकारार्थ कियी हुयी सम्पूर्ण यागक्रियायें निष्फल होती हैं। पूर्व दिन निराहार रहने से परदिन में क्षुधा से व्याकुल होकर चञ्चलता के कारण यागक्रिया करने में अवश्य असमर्थ होगा । * और साधारण लोगों को भी अप्रिय होगा । एवं उसके पुत्र, पौत्रादि प्रजा भी पापबुद्धि (१) के वशी भूत होंगी (२)। तात्पर्य यह है कि क्षुधा रहित होकर अर्थात् भोजन करके कार्य करने से मन स्थिर रहने से यागक्रिया सब सम्पन्न होगी और साधारण लोगों को प्रिय भी होगा, एवं उस के पुत्र, पुत्रादि, प्रजा भी वश में रहेगी। इस लिये क्षुधातुर होकर कोई कार्य नहीं करना, स्त्री पुरुष दोनों ही (उपवास दिन के भोज्य वस्तु) यथेच्छ भोजन करे। उपवास के दिन रात्रि में खाट के ऊपर शयन न करे एवं वैदिक इतिहास की आलोचना में या अन्य लोगों के साथ जिस किसी प्रकार हो धर्म के विचार में रात्रि का आद्यन्त काल जाग कर व्यतीत करे अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि गाढ़ निद्रा में विभूत न रह कर, थोड़ा सोना, परन्तु स्त्री संसर्गादि व्रतनाशक कार्य से आपे को बचावे। प्रवास में रहने से उपवास नहीं रहना चाहिये या घर में स्थित पत्नी द्वारा भी यह व्रत हो सकता है ॥ १—९ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्य्यात् ॥ १० ॥

उपवासदिने भोजनफलमभोजनफलञ्च द्वे एवोक्ते, तदत्र यथा कामयेत तथा कुर्यात् ' अनीश्वरत्वादिकमिच्छेच्चेत् अभोजनएव स्यात्, अपीश्वरत्वादिकमिच्छेच्चेद् भोजनं कुर्वीतैव ॥ १० ॥

---

* क्षुधातुर चञ्चल चित्त व्यक्ति किसी काम के योग्य नहीं। (१)-अपने शरीर में कष्ट देखकर क्या कोई भाई प्रसन्न होंगे। (२) पितृ गण के दृष्टान्तानुसार निराहार रह कर कार्य करना चाहिये, ऐसा जान कर सन्तति गण उत्कट क्षुत्कष्ट सहने के कारण दोनों ही नित्य कर्म के करने से अलग रहेंगे अर्थात् छोड देंगे, सुतरां वे लोग पितृगण के अवश एवं पाप वश हैं यह कौन नहीं कहेगा ॥

भा०:—भोजन करके याग क्रिया करने में क्या फल है एवं भूखे रह कर करने में क्या विशेषता है सो कहा गया—इन दोनों में से जैसी इच्छा हो करे ॥१०॥

एवमेवाहिताग्नेरप्युपवसथो भवति यच्चाम्नायो विदध्यात्॥११,१२

'एवं' कथितप्रकारः 'एव' 'आहिताग्नेः' अपि नित्याग्निहोत्रिणोऽपि 'उपवसथः' उपवासनियमः 'भवति', 'यच्च' उपवसथकार्यं स्थण्डिललिम्पनादिकम् 'आम्नायः' वेदः 'विदध्यात' विधातुं युज्यते, तदेवास्माभिः संस्मृत्य विहितमिति श्रद्धोत्पादनम् ॥ ११, १२ ॥

भा०:—उक्त उपवास के नियमादि सब "आहिताग्नि" के लिये भी हुए, इसी प्रकार वेद का विधि (हो सकता) है ॥ ११, १२ ॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिꣳहुत्वाऽग्रेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य्य तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन् सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या ब्रह्माऽऽसनात् तृणमभिसङ्गृह्य दक्षिणापरमष्टमं देशं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति ॥ १३, १४ ॥

'अथ' अनन्तरं तत्परदिने प्रतिपदि पूर्वाह्णे एव प्रातराहुतिं हुत्वा' 'अग्निम्' 'अग्रेण' सम्मुखीकृत्येति यावत् 'परिक्रम्य' प्रदक्षिणीकृत्य 'अग्नेः' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां दिशि 'प्रागग्रान्' पूर्वस्यां दिशि कृताग्रभागान् 'दर्भान्' 'आस्तीर्य' पातयित्वा 'तेषां' पातितदर्भाणां 'पुरस्तात्' सम्मुखे 'प्रत्यङ्मुखः' पश्चिमाभिमुखः 'तिष्ठन्' स्थितिं कुर्वाणः 'सव्यस्य पाणे' वामहस्तस्य 'अङ्गुष्ठेन' 'उपकनिष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या च' ब्रह्मासनात्' ब्रह्मानामर्त्विज उपवेशनाय पातिताद् दर्भपुञ्जात् 'तृणम्' एकम् 'उपसंगृह्य' गृहीत्वा 'दक्षिणापरं' दक्षिणस्याः अपरस्याः पश्चिमायाश्च दिशोरन्तरालं नैर्ऋतं कोणम् 'अष्टमं देशं' प्रति 'निरस्तः परावसुः'—इति मन्त्रेण निरस्यति' प्रक्षिपेत् ॥ इति तृणनिरसनम् ॥१३, १४॥

भा०:—अनन्तर उस के पर दिन में अर्थात् प्रतिपदा को पूर्वाह्ण ही में यथानियम प्रातराहुति होम समाप्त कर तदनन्तर अग्नि को अपने सम्मुख रक्ख, प्रदक्षिणा करके, अग्नि के दक्षिण में कई एक कुशा गिरावे, उन कुशाओं के अग्रभाग पूर्व दिशा में रहेंगे। उस डाले हुए कुशासन पर सम्मुख पश्चिमाभिमुख कर वाम हाथ की अङ्गुष्ठ और अनामिका अङ्गुली के द्वारा ब्रह्मा

के लिये डाले हुए कुशासन से एक तृण लेकर ' निरस्त परावसु ' इस मन्त्र से नैऋत कोण में फेंके। इसी को ' तृणनिरसन ' कार्य कहते हैं॥ १३, १४॥

अपउपस्पृश्याथ ब्रह्माऽऽसनउपविशत्यावसोः सदने सीदामीत्यग्निमभिमुखो वाग्यतः प्राञ्जलिरास्तआकर्म्मणः पर्यवसानाद्भाषेत यज्ञसंसिद्धिन्नायज्ञीयां वाचं वदेद्यज्ञीयां वाचं वदेद्वैष्णवीमृचं यजुर्वा जपेदपि वा नमोविष्णव इत्येवं ब्रूयात्॥१५—२०॥

'अथ' अनन्तरम् 'ब्रह्मा' नाम सर्वकार्यपर्यवेक्षक ऋत्विक् 'अपः' उदकानि 'उपस्पृश्य' स्पृष्ट्वा 'आसने' तत्र, 'आवसोः सदने सीदामि' 'इति' मन्त्रमुच्चरन् 'उपविशति' उपविशेत्। 'आ कर्मणः पर्यवसानात्' कर्म्मान्तं यावत् 'अग्निम् अभिमुखः' सुतरामुत्तरास्यः, 'वाग्यतः' नियमितवाक् यज्ञीयवचनातिरिक्तवाक् शून्यः, 'प्राञ्जलिः' कृताञ्जलिपुटः सन् ' आस्ते ' आसीत। यदुक्तं वाग्यतइति तदेव स्फुटयति,—'यज्ञसंसिद्धिं' यज्ञानुकूलां वाणीं 'भाषेत' वदेत्, 'अयज्ञीयां वाचं न वदेत्', 'यदि' प्रमादपि 'अयज्ञीयां वाचं वदेत्', 'वैष्णवीम्' विष्णुदेवताकां यां कामपि 'ऋचं' 'यजुर्वा' 'जपेत्' पठेत्, 'अपिवा' अथवा 'नमोविष्णवे, 'इति' एतदेव 'ब्रूयात्'॥ १५—२०॥

भा०:—अनन्तर ब्रह्मा नामक सब कार्य के निरीक्षक एक प्रधान पुरुष जल से हाथ पांव धोकर उस डाले हुए कुशासन पर अग्नि की ओर सम्मुख करके सुतरां उत्तर मुख हो दोनों हाथ जोड़ " आवसोः सदने सीदामि " अर्थात् यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त इसी स्थान में रहूंगा ऐसा कह कर नियमित वाक्य मात्र बोलने को मन ही मन दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कार्य समाप्ति पर्यन्त बैठे। यज्ञ—सम्बन्ध में जो कुछ उपदेश देने की बात होगी उसे ही कहे, अन्यान्य कोई वाक्य नहीं बोले, यदि भ्रम से कोई दूसरी बात बोले तो उसी समय विष्णु देवता की स्मारिका किसी ऋचा वा यजुर्वेद का मन्त्र पाठ करे; किम्वा 'नमो विष्णवे' इतना कहने से भी निर्वाह होगा॥ १५—२०॥

यद्यु वा उभयं चिकीर्षेद्धौत्रञ्चैव ब्रह्मत्वञ्चैवैतेनैव कल्पेन छत्रं वोत्तरासङ्गं वोदकमण्डलुं दर्भवटुं वा ब्रह्मासने निधाय तेनैव प्रत्याव्रज्याथान्यच्चेष्टेत्॥२१—६॥

'यदि उ वै' यदि ' हौत्रं च ब्रह्मत्वञ्च ' उभयमेव एकः 'चिकीर्षेत् कर्तुमि-

च्छेत्, तर्हि 'एतेनैव कल्पेन' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण 'छत्रं', 'वा' अथवा 'उत्तरासङ्ग' उत्तरीयकम्, 'वा' अथवा 'उदकमण्डलुं' उदकपूर्णं कमण्डलुं 'वा' अथवा 'दर्भवटुं' कुशानिर्मितं ब्राह्मणं ब्रह्मासने' तत्रैव 'निधाय' संस्थाप्य 'तेनैव' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रदक्षिणादिना 'प्रत्यावर्त्य' प्रत्यावृत्य 'अथ' तदनन्तरम् 'अन्यत्' इह दर्शपौर्णमासे चरुप्रकरणादिकं यत् किमपि विशेषकार्यजातमग्रे वक्ष्यति, तदतिरिक्तम्, अग्निहोत्रप्रकरणे कथितं भूमिजपादिकं सर्वमविशेषेण 'चेष्टेत्' कुर्वीत ॥२१॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१–६॥

भा०:—यदि होतृ–कार्य और ब्रह्मत्व इन दोनों क्रियाओं को एक ही व्यक्ति करने की इच्छा करे तो ब्रह्मा के लिये उसी डाले हुए आसन पर उसी प्रकार छत्र या उत्तरीय या जल पूर्ण कमण्डलु या कुशा निर्मित ब्राह्मण स्थापन करके उसी प्रकार प्रदक्षिण आदि पूर्वक स्वीय होतृ–के आसन पर वापस आवे। अनन्तर इसके अग्नि कार्य मात्र ही साधारण कार्य सब अर्थात् अग्निहोत्र प्रकरणोक्त भूमि जपादि सब ही करे। (चरु–पाकादि जो कुछ इस में विशेष कर्त्तव्य है, उस विषय में विशेष विधि पीछे कहा जावेगा ॥२१॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ।१।६॥

अथोलूखलमुसले प्रक्षाल्य शूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्योपसादयति ॥१॥

'अथ' तदनन्तरम् 'उलूखलमुसले' 'शूर्पञ्च' 'प्रक्षाल्य' 'अग्नेः पश्चात्' 'प्रागग्रान् दर्भान्' आस्तीर्य तदुपरि प्रक्षालितानि तानि 'उपसादयति' उपस्थापयति ॥१॥

भा०–तदनन्तर उलूखल, मूसल, और शूर्प अच्छे प्रकार जल से धोकर अग्नि के पीछे भाग में कई एक प्रागग्र कुशा डाल कर उसके ऊपर रक्खे ॥१॥

अथ हविर्निर्वपति व्रीहीन् वा यवान् वा कंꣳसेन वा चरुस्थाल्या वामुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवतानामादेशꣳसकृद् द्विस्तूष्णीम् ॥२–३॥

'अथ' तदन्तरमुपसादिते तत्रोलखले 'हविः' हविषे हविर्योग्यान् 'व्रीहीन् वा यवान् वा' 'निर्वपति' निर्वपेत् प्रक्षिपेत्। 'कंसेन वा चरुस्थाल्या वा' तत्र

प्रक्षेपः कर्त्तव्यः । 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामि' अत्रामुष्मै–पद–श्रुतेः यत्र यद्दैवताकं हविः कार्यं तत्र तथैवोल्लेखः, अग्न्यर्थहविर्निर्वापे 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि यथा, 'इति' अनेन मन्त्रेण 'देवतानामादेशं' देवतानामोल्लेखं 'सकृत्' एकवारं, 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्यं देवतानामोच्चारण-रहितमपि निर्वपतीत्यनेन सम्बन्धः । इति निर्वापः ॥२, ३॥

भा०–तदनन्तर हविः पाकके उपयोगी करने के लिये चाहे धान्य हो या यव, कांसे के वर्त्तन से या चरुस्थाली से फेंके (प्रक्षेप करे) जितना धान्य या हवि के योग्य करना हो वह तीन ही वार में प्रक्षिप्त करदे उन में से एकवार 'अमुक देवता के सेवने योग्य करने के लिये धान्य या यव तुम को इस उलूखल में डालता हूं'–इस मन्त्र से, अपर दोवार विना मन्त्र के डाले ॥२–३॥

अथ पश्चात् प्राङ्मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्यान्त्रिः फलीकृताꣳस्तण्डुलाꣳस्त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेदित्याहुर्द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्यइति ॥४ । ५॥

'अथ' निर्वापानन्तरं 'पश्चात्' उलूखलस्य 'प्राङ्मुखः' तिष्ठन् 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्याम्, 'अवहन्तुम् उपक्रमते' । तत्र 'त्रिः' त्रिवारं 'फलीकृतान्' कण्डितान् 'तण्डलान्' धान्यानां यवानां वा गृहीत्वा, देवेभ्यः देवकार्यार्थं 'त्रिः' त्रिवारम्, 'मनुष्येभ्यः' ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं द्विः द्विवारम्, 'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थं 'सकृत्' एकवारमेव 'प्रक्षालयेत्', 'इति' एवम् 'आहुः' पूर्वतनाः । इति अवहननम् ॥४–५॥

भा०–अनन्तर उलूखल के पीछे पूर्वाभिमुख खड़े होकर दोनों हाथ में मूसल पकड़ कर कूटे । कूटने से–तुष–विमुक्त धान्य या यव के तण्डुल * आदि तीनवार साफ कूट कर देवकार्य के लिये, ब्राह्मण भोजनादि मनुष्य-कार्य के लिये दोवार, एवं पितृकार्य के लिये एक ही वार जल में धो लेवे । यही प्राचीन आचार्यों की सम्मति है ॥ ४५ ॥

पवित्रान्तर्हिताꣳस्तण्डुलानावपेत्कुशलशृतमिव स्थालीपाकꣳश्रपयेत्प्रदक्षिणमुदायुवञ्छृतमभिघार्य्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥६–८॥

---

* तुष आदि (भूसा वा छिलका) आवरण रहित शस्य (धान्य) मात्र का तण्डल कहते हैं ॥

'तण्डुलान्' तान् पवित्रान्तर्हितान्' प्रक्षालनार्थं पवित्रस्य कुशानिर्मित-बहुच्छिद्रपात्रविशेषस्य मध्ये स्थापितान् ततएव 'आ वपेत्' स्थाल्यामिति शेषः। 'प्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'उदायुवन्' मेक्षणेन मिश्री कुर्वन् 'कुशलशृतम् इव' पाकपटुना पक्वमिव 'स्थालीपाकं' तं 'श्रपयेत्'। श्रपणानन्तरं तत्र पक्वेऽन्ने 'घृतमभिघार्य' घृताभि-घारणं प्रकृत्य अग्नेः 'उदक्' उत्तरस्याम् 'उद्वास्य, संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' पुनरपि तत्र घृतपातं कुर्यात्। इति निष्पन्नः स्थालीपाकः ॥६–८॥

भा०—कुश का बना "पवित्र" (कुश का बहुत छिद्रवाला) (नामसे प्रसिद्ध) में प्रक्षालनार्थ गृहीत उस तण्डुल को, उस में से लेकर स्थाली में डाले। पाक समय में "मेक्षण" द्वारा मिलाकर ऊपर नीचे इस प्रकार पाक करे। यह पाक एक प्रवीण पाक कर्त्ता के हाथ के बने हुए की नाईं होना आवश्यक है। पाक प्रस्तुत होने पर घृत का ढार दे अग्नि के उत्तर में उतार कर पुनः उस में भागानुसार घृत मिलावे ॥ ६ । ७ । ८ ॥

अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्तृणुयात् पुरस्ताद्दक्षिणतउत्तरतः पश्चादिति सर्वतस्त्रिवृतम्पञ्चवृतं वा बहुलमयुग्मसꣳहतम्प्रागग्रैरग्रैर्मूलानिच्छादयन् पश्चाद्वास्तीर्य्य दक्षिणतः प्राञ्चम्प्रकर्षति तथोत्तरेण दक्षिणोत्तराण्यग्राणि कुर्य्यादेष परिस्तरणन्यायः सर्वस्वाहुतिमत्सु ॥९–१५॥

वक्ष्यत्यनुपदं बर्हिषि स्थालीपाकेत्यादि (१९ सू०), ततश्च स्थालीपाकोत्तरणात् प्रागेव परिस्तरणं कर्त्तव्यमिति तत्प्रकार उच्यते;—'अग्निम्' 'उप समाधाय' समिद्भिः प्रज्वाल्य, तस्य प्रज्वलितस्याग्नेः 'समन्तं' समन्तात् सर्वतः सर्वासु दिक्षु 'कुशैः' कुशासङ्घैः 'परिस्तृणुयात्' परिस्तरणमाच्छादनं कुर्वीत तत्र क्रममाह—'पुरस्तात्' पूर्वस्यां, ततः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां, ततः 'उत्तरतः' उत्तरस्यां ततः 'पश्चात् पश्चिमस्याम् 'इति' एवम्। तत्राप्यन्यदप्याह 'सर्वतः' सर्वास्वेव दिक्षु 'त्रिवृतं पञ्चवृतं वा' परिस्तरणं कार्यम्। तत्रापि 'बहुलं' बहुतृणं, परं तृणानां परस्परयोगेन युग्मत्वं संहतत्वं वा यथा न स्यात्। द्वयोर्योगे युग्मत्वं त्र्यादियोगे तु संहत्व मिति विवेकः। किञ्च 'प्रागग्रैः' पूर्वदिङ्मुखैर्दर्भैः 'अग्रैः' अग्रभागैः प्रथमस्तृतानां कुशानां 'मूलानि छादयन्' एवमुत्तरत्रापि। 'वा' अथवा अग्रैर्मूलाच्छादनं न कुर्याच्चेत् 'पश्चात्' पश्चिमस्यां प्रथमतः 'आस्तीर्य' 'दक्षिणतः' 'तथा उत्तरेण' प्राञ्चं'

पूर्वदिग्भागं ‘ प्रकर्षति ’ प्रकृष्टं कर्षेत् आकर्षणपूर्वकं मिश्रयेत् । तत्र तथा कर्षणाय ‘ दक्षिणोत्तराणि ’ दक्षिणाभिमुखानि उत्तराभिमुखानि च ‘ अग्राणि ’ कुशानां ‘ कुर्यात् ’ । ‘ एषः ’ उभयविधएव परिस्तरणन्यायः ’ सर्वेषु आहुतिमत्सु अनुष्ठानेषु ज्ञेयः ॥ ९–१५ ॥

भा०—उन्नीसवें सूत्र में स्थालीपाक उत्तरणान्तर आज्यसंस्कार कहा जावेगा इसलिये स्थालीपाक उतारने के पूर्व ही “परिस्तरण” करना चाहिये। जैसे—समित् प्रक्षेप आदि द्वारा अग्नि जलाकर उक्त अग्नि के चारो ओर कुशों से ढाक देवे । पहिले पूर्व दिशा में, अनन्तर दक्षिण दिशा में, उस के पश्चात् उत्तर दिशा में, अन्त में पश्चिम दिशा में, सब ही ओर तीन या पांच वार कुशा से आच्छादन करे किन्तु ऐसी युक्ति से आच्छादन करे कि जिसमें दो, तीन, या उससे अधिक कुशा एक स्थान में मिल न जावें और सबही कुशाओं का अग्रभाग पूर्व की ओर रहे और उन्हीं कुशाओं के अग्रभाग के द्वारा उन का मूल (जड) आच्छादित रहे या (यदि कुश थोड़े हों) पश्चिम दिशा को छोड़ कर दक्षिणाग्र कुशा के द्वारा दक्षिण से एवं उत्तराग्र कुशा के द्वारा उत्तर से पूर्व की ओर आकर्षित होगा अर्थात् वृत्त या चतुष्कोण रूप नहीं आच्छादित कर त्रिकोणरूप आच्छादित करने से भी हो सकता है । इसी को “परिस्तरण” कहते हैं ; यह सब प्रकार के आहुति विशिष्ट अनुष्ठानों में व्यवहृत होगा । ९ , १० , ११, १२, १३, १४, १५ ॥

परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पार्णान् वा । १६

‘ एके ’ आचार्याः ‘ शामीलान् ’ शमीकाष्ठीयान् ‘ वा ’ ‘पार्णान्’ पलाशकाष्ठीयान् ‘ परिधीन् ’ कर्मप्रदीपोक्तलक्षणान् सीमरूपान् कुर्वन्ति ’ । १६

भा०—कोई २ आचार्य शमीकाष्ठ की, या पलाश काष्ठ की परिधि अर्थात् सीमास्थापन भी करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरतोऽपाम्पूर्णः स्रुवः प्रणीता भावेन वा स्यादित्येके।१७,१८

‘ उत्तरतः ’ अग्नेरिति यावत्, ‘ अपां पूर्णः स्रुवः ’ ‘ प्रणीता ’ एतत् संज्ञको भवेत् । ‘ भावे ’ पूर्वोक्तचमसपात्रस्य ‘ न वा स्यात् ’ स्रुवः प्रणीता ‘ इति ’ एवम् ‘ एके ’ आचार्या वदन्ति तदपि न विरुद्धम् ॥ १७–१८ ॥

भा०—अग्नि के उत्तर में जल—पूर्ण स्रुव की रक्षा करे उस को प्रणीता कहते हैं । कोई २ आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त चमस पात्र में जल रक्षित रहने से, स्रुवा में जल स्थापन नहीं करने से भी हानि नहीं ॥१७,१८॥

बर्हिषि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्याधायाज्यꣳसꣳस्कुरुते सर्पिस्तैलन्दधि पयो यवागूं वा । १९, २० ॥

'बर्हिषि' आस्तृते तत्र कुशसमूहे 'स्थालीपाकम्' स्थाल्यां पक्वं चरुं तत्सहितस्थालीपात्रमिह ग्राह्यम् 'आसाद्य' संस्थाप्य, अथाज्यसंस्कारः ;— 'इध्मम्' इन्धनकाष्ठं पूर्वोक्तं पालाशाद्यन्यतमम् 'अभ्याधाय' अग्नौ अभितः प्रदाय पुनरपि सुप्रज्वाल्याग्नि—मिति यावत् । ततस्तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ 'आज्यम्' अनुपदवक्ष्यमाणं सर्पिरादीनामन्यतमं 'संस्कुरुते' संस्कुर्वीत । तथा च'सर्पिः' घृतं 'तैलं' तिलस्नेहं 'दधि' 'पयः' दुग्धं 'यवागूं वा । १९, २० ॥

भा०—उस डाले हुए कुशाओं पर स्थालीपाक स्थापन करके पुनः इन्धन डालकर अग्नि जला कर उस में आज्यसंस्कार करे । आज्य—इस स्थल में घृत तैल,दधि,दुग्ध, या—यवागू इन पांच वस्तुओंमें से जो कोई वस्तु मिले उसी से हो सकता है ॥ १९ ॥ २० ॥

ततश्च पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं कर्त्तव्यमिति प्रथमं पवित्रनिर्माणमुच्यते;

ततएव बर्हिषः प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते ओषधिमन्तर्धाय छिनत्ति न नखेन पवित्रे स्थो वैष्णव्यावित्यैने अद्भिरनुमार्ष्टि विष्णोर्मनसा पूते स्थ इति । २१—२३ ॥

'ततः' पूर्वासादितात् 'बर्हिषः एव' 'प्रादेशमात्रे' प्रादेशप्रमाणे 'पवित्रे' 'कुरुते' कुर्वीत । कथमित्याकाङ्क्षायां वदति,—'ओषधिम्' व्रीह्यादिकम् 'अन्तर्धाय' मध्ये स्थाप्य "पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ"—'इति' अनेन मन्त्रेण 'छिनत्ति' छिन्द्यात् 'न नखेन'। अथ तदनन्तरम् 'एते' पवित्रे 'अद्भिः' "विष्णोर्मनसा पूतेस्थः" —'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमार्ष्टि' अनुमृज्यात् । २१—२३ ॥ निर्मिताभ्याञ्च ताभ्यां पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं विधत्ते;—

भा०—अनन्तर उसी पूर्व संगृहीत कुशाओं के बीच से प्रादेश प्रमाण (बालिश्तभर) दो कुश ले कर 'तुम विष्णुदेवता के हो सुतरां पवित्र हो' इस मन्त्र का पाठ करते ओषधि के बीचोबीच छेदन करे । उसके अनन्तर, 'विष्णु देवता के अभिप्राय से ही तुम पवित्र हो' इस मन्त्र का पाठ करके उस को जल में धोवे ॥ २१—२३ ॥

सम्पूयोत्पुनात्युदगग्राभ्याम्पवित्राभ्यामङ्गुष्ठाभ्याञ्चो-

पकनिष्ठकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रिरुत्पुनाति देवस्त्वासवितोत्पुनात्वच्छिद्रेणपवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिरिति सकृद् यजुषां द्विस्तूष्णीम् ॥ २४,२५ ॥

'सम्पूय' ते पवित्रे पूर्वोक्तप्रकारेण शोधयित्वा शोधिताभ्यां ताभ्यामेव 'पवित्राभ्याम्' कीदृशाभ्याम् उदगग्राभ्याम् 'उत्पुनाति' आज्यमित्याशयः। आज्ये पतितं तृणादिकं ततउद्धृत्य अग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः। कथङ्कृत्वा ? कतिवारम् ? केने मन्त्रेणेत्याकाङ्क्षात्रयं पूरयति;— 'अङ्गुष्ठाभ्याम्' 'उपकनिष्ठिकाभ्याम्' अनामिकाभ्यां 'च' 'अङ्गुलिभ्याम्' 'अभि' अभितः 'संगृह्य' 'प्राक्शः' प्राग्गतं यथा स्यात्तथा, 'त्रिः' त्रिवारम् 'उत्पुनाति'। तत्र त्रिषु वारेषु 'सकृत्' एकवारं 'देवस्त्वेत्यादिना' 'यजुषा' यजूरूपमन्त्रेण 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' अमन्त्रक मेवेत्याज्योत्पवनम् ॥ २४।२५ ॥

भा०—उक्त प्रकार से दोनों "पवित्र" को शोध कर उत्तराग्र करके उसके द्वारा आज्योत्पवन करे अर्थात् आज्य में पतित तृण आदि बाहर कर पूर्व की ओर फेंक देवे "आज्योत्पवन" काल में दोनों "पवित्र" को अङ्गुष्ठ और अनामिका अंगुलि से पकड़े एवं एकवार 'देवस्त्वा' इत्यादि 'यजू' रूप मन्त्र पाठ करे, पुनः दोवार विना मन्त्र उत्पवन करना चाहिये ॥ २४, २५ ॥

अथैने अद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्युत्सृजेदथैतदाज्यमधिश्रित्योदगुद्वासयेदेवमाज्यस्य सꣳस्करणकल्पो भवतीति॥२६—२८॥

'अथ' तदाज्योत्पवनानन्तरम् 'एने' पवित्रे 'अद्भिः अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'अग्नौ अपि' 'उत्सृजेत्' क्षिपेत्। अपि शब्दबलादन्यत्र क्षेपणेऽपि दोषाभावः। 'अथ' अनन्तरम् 'आज्यं' तदेव 'अधिश्रित्य' ज्वलदङ्गारेषु कृत्वैव 'उदक्' अग्नेरुत्तरस्यां दिशि 'उद्वासयेत्' स्थापयेत्। 'आज्यस्य संस्करणकल्पः' 'एवम्' एव 'भवति' ॥ २६—२८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके सप्तमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम्। १,७।

भा०—आज्योत्पवन के पीछे इन दो "पवित्रों" को जलमें धो कर अग्नि में फेंक दे। अनन्तर अग्नि के उत्तर में जलते हुए कई एक अंगारे पर, "पूत-आज्यपात्र" रक्खे। आज्यसंस्कार इत्यादि करे ॥ २६, २७, २८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १,७॥

पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः ॥ १ ॥

अग्नेरुत्तरस्मिन्नेव ' पूर्वं ' पुरस्तात्स्थानम् ' आज्यम् ' आज्यसहितमाज्यपात्रं भवेत्, किञ्च तत्रैव ' अपरः ' तत्पश्चात्स्थानः ' स्थालीपाकः ' पक्वचरुसहितस्थाल्याधारः भवेत् ॥ १ ॥

भा०—चरुस्थाली और आज्यपात्र इन दोनों के अग्नि के उत्तर में स्थापन करने के लिये व्यवस्था हुई है। (१ । ४ । ५, १ । ७ । २६—२८) उन में पहिले आज्यपात्र रहेगा, और उस के पीछे चरुस्थाली रक्खे ॥ १५ ॥

पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातꣳहोतुमेवोपक्रमते ॥ २ ॥

' पर्युक्ष्य ' अदितेऽनुमन्यस्वेत्यादिना पर्युक्षणान्तं प्रकृत्य, ' स्थालीपाके ' चरौ ' आज्यं ' सर्पिरादीनामन्यतमम् ' आनीय ' क्षिप्त्वा ' मेक्षणेन ' दर्वीविशेषेण ' उपघातम् ' उपस्तरणाभिघारणरहितं होमं ' होतुम् ' ' उपक्रमते ' प्रवर्त्तेत । स्रुचि स्रुवेण प्रथममाज्यग्रहणं, ततश्चरुग्रहणं, ततः पुनराज्यग्रहणम् चेत् उपस्तीर्णाभिघारितं तदुच्यते होमीयम्; तत्र चरुग्रहणात् पूर्वमाज्यग्रहणमुपस्तरणमुच्यते, परस्ताच्चाभिघारणमिति । यत्र तु उपस्तरणमभिघारणञ्च न भवतः, स एव होम उपघात इति विवेकः ॥ २ ॥

भा०—अग्नि कार्यमात्र में अनुष्ठेय पूर्वोक्त ' अदितेऽनुमन्यस्व ' प्रभृति 'पर्युक्षण' के अन्त में कार्य सब (१ । ३ । १—५) सम्पन्न होने पर स्थालीपाक में आज्य प्रक्षेप कर 'उपघात' होम * करने के लिये उपक्रम करे ॥ २ ॥

यद्युवा उपस्तीर्णाभिघारितं जुहुषेदाज्यभागावेव प्रथमौ जुहुयाच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पञ्चावत्तन्तु भृगूणामग्नये स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शोजुहुयात् ३,४

' यदि उवा ' यदैव ' उपस्तीर्णाभिघारितं ' ' जुहुषेत् ' होतुमिच्छेत्, तदैव 'प्रथमौ' उपघातनामोपक्रमरूपहोमसम्पादनोपयोगिनौ ' आज्यभागौ ' उपर्युपरि होमद्वयनिष्पादकौ ' जुहुयात ' अग्नाविति। एतावेव होमौ उपघातसञ्ज्ञौ प्रकृतहोमस्योपस्तीर्णाभिघारितस्योपोद्घातरूपत्वात् । अत्रेतिकर्त्तव्यतादिकं ब्रूते:—' चतुर्गृहीतम् ' चतुःकृत्वः गृहीतं स्रुवेण स्रुचीति यावत्,

* स्रुच् के मध्य में चरुग्रहण के पहिले स्रुवा के द्वारा आज्य ग्रहण के उपस्तरण अर्थात् ' आस्तरण ', एवं चरुग्रहण के पीछे आज्य ग्रहण को अभिघारण अर्थात् आच्छादन कहते हैं। तदनुयायी प्रथम आज्य पीछे चरु पुनः आज्य लेकर जो होम किया जावे उस को 'उपस्तीर्णाभिघारित कहते हैं। जिस होम में उपस्तरण या अभिघारण की आवश्यकता नहीं, उसे 'उपघातहोम' कहते अर्थात् यज्ञारम्भ द्योतक होम ॥

'आज्यं' सर्पिरादीनामन्यतमम् 'गृहीत्वा' अग्निमध्ये एव, उत्तरतः, उत्तरस्याम् 'अग्नये स्वाहा'–'इति' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'सोमाय स्वाहा' 'इति', 'प्राक्शः' प्राग्गतं यथा स्यात्तथा जुहुयात्। एतावेव होमौ उपघाताख्यौ। अत्र विशेषः–'भृगूनां' भृगुगोत्रोत्पन्नानां 'तु, 'पञ्चावत्तं, पञ्चकृत्वः आज्यग्रहणमिति ॥ ३। ४॥ इदानीमुपस्तीर्णाभिधारितहोमप्रकारं कथयति–

भा०–जिस समय "उपस्तीर्णाभिघारित" नामक होम करने की इच्छा करे, उसी समय उस के पूर्व दो "उपघातहोम" करे। इस 'उपघातहोम, के करने में स्रुच् (यज्ञपात्र) के मध्यमें प्रतिवार स्रुवाके धारा ऊपर चारवार आज्य ग्रहण करना होगा, एवं इस चारवार ग्रहण किया हुआ आज्य पहिले 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के बीच में उत्तर में और तत्पश्चात् 'सोमाय' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के दक्षिण में, पूर्वदिग्गत करके होम करे। विशेषता–भृगुगोत्रोत्पन्न गण के प्रति होम में पांचवार आज्य ग्रहण करना चाहिये ॥३, ४॥

अथ हविष उपस्तीर्य्यावद्यतिमध्यात्पूर्वार्द्धाच्चतुरवत्ती चेद्भवति मध्यात्पूर्वार्द्धात्पश्चार्द्धादिति पञ्चावत्ती चेद्भवत्यभिघारयत्यवदानानि प्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामतायाअग्नयेस्वाहेतिमध्येजुहुयात्सकृद्वात्रिर्वैतेनकल्पेन॥५–१०॥

'अथ' उपघातहोमानन्तरम् 'उपस्तीर्य' आज्येन स्रुचं सस्नेहां प्रकृत्य तदुपरि 'हविषः' चरून् 'अविद्यति' अवदाय गृह्णाति। अवदानप्रकारमाह– 'चतुरवत्ती' भृगुवंशीयादन्यः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं लक्षीकृत्य पूर्वार्द्धात् अवद्यदीत्यनुवर्त्तते; किञ्च 'पञ्चावत्ती' भृगुवंशीयः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं लक्षीकृत्य 'पश्चार्द्धात्' अवद्यति; 'इति' एवमेव नियमः। अवदानानि' चतुर्गृहीतानि पञ्चगृहीतानि वा तानि 'अभिघारयति' अभिघारयेत् तदुपरि पुनः स्रुवाऽऽज्यधारापातं कुर्वीतेति यावत्। किञ्च 'अवदानस्थानानि' चरुस्थालीमध्यतो यतोयतः चरून् चतुः पञ्च वा कृत्वा अवदाय गृहीतानि तानि, 'अयातयामतायै' यातयामता यागायोग्यता तदभावाय यागयोग्यतामेव रक्षयितुमिति यावत्, 'प्रत्यनक्ति' यत्र यत्र मेक्षणप्रवेशचिन्हं तानि सर्वाण्येव प्रति लक्ष्याज्यसिञ्चनं कुरुते कुर्वीतेत्यर्थः। ततः तदेव उपस्तीर्णाभिघारितं हविः प्रगृह्य "अग्नये स्वाहा"–'इति' इमं मन्त्रमुच्चरन् 'मध्ये' अग्नेः 'जुहुयात्' अयमेव होमोऽत्रोपस्तीर्णाभिघारित उच्यते। 'एतेन कल्पेन' कथितप्रकारेण 'सकृत् वा' एकवारं वा 'त्रिर्वा' त्रिवारं वा जुहुयात् ॥५–१०॥

भा०:-उपघात होम के पीछे उसी स्रुच् के स्रुव के द्वारा एक वार आज्य ग्रहण करके उस के ऊपर 'मेक्षण' द्वारा चरु ग्रहण करे। उस में विशेषता यह है कि यदि वह भृगु गोत्र का हो तो चरुस्थाली के मध्य में पश्चार्द्ध से एवं पांच वार चरु ग्रहण करे और यदि वह अन्य गोत्र का हो तो चरुस्थाली के बीच में पूर्वार्द्ध से एवं चारवार मात्र चरुग्रहण करे। पीछे जिस २ स्थान से 'मेक्षण' द्वारा चरु निकाल ले; आज्य द्वारा, उसी २ स्थान को सिञ्चित करे, जिस से चरु सूख न जावे-याग के योग्य रहे। अनन्तर उसी गृहीत चरु के ऊपर फिर 'आज्य' ढ़ार कर उसी ऊपर नीचे आज्यविशिष्ट चरु से अग्नये स्वाहा इस मन्त्र के मध्य में हवन करे। इसी को उपस्तीर्णाभिघारित होम कहते हैं। इस प्रकार एक या तीन वार करे ॥ ५-१० ॥

अथ स्विष्टकृत उपस्तीर्य्यावद्यत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात् सकृदेव भूयिष्ठं द्विरभिघारयेद्यद्यु पञ्चावत्ती स्याद्द्विरुपस्तीर्यावदाय द्विरभिघारयेत् न प्रत्यनक्त्यवदानस्थानं यातयामताया अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे जुहुयात् ।११-१४।

'अथ' अत्राथशब्देन प्रकरणान्तरत्वमात्रं लक्षयति, नत्वानन्तर्यम्; स्विष्टकृद्धोमात् पुरस्तादेव प्रकृतयागस्य वक्ष्यमाणत्वात् (१६ सू०)। 'स्विष्टकृते' स्विष्टकृद्धोमसिध्यर्थम्, पूर्ववत्' उपस्तीर्य स्रुवाज्यं स्रुचि आस्तीर्य्य, तत्रैव चरुस्थालीमध्यतएव 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात्' उत्तरार्द्धस्य प्रथमार्द्धात् 'भूयिष्ठं' बहुतरं 'सकृत्' एकवारम् 'एव' अवद्यति अवदाय गृह्णाति; तदनन्तरं गृहीतं तं चरुं 'द्विः' द्विवारम् 'अभिघारयेत्' स्रुवाज्यधारया सिञ्चेत्। अत्र विशेषः कथ्यते,—'यदि उ' 'पञ्चावत्ती' भृगुगोत्रः 'स्यात्' यजमानः, तर्हि 'द्विः' द्विवारम् 'अवदाय' 'उपस्तीर्य' 'द्विरभिघारयेत्' द्विवारमेवाभिघारणं कुर्यात्। किञ्च स्विष्टकृद्यागे 'यातयामतायै' यागायोग्यताभिया 'अवदानस्थानं' 'न प्रत्यनक्ति' अस्यैव होमस्यान्त्यचरुहोमत्वान्नष्टेऽपि तस्मिन् क्षत्यभावादिति भावः। स्विष्टकृद्धोमस्य मन्त्रं स्थानं 'च' बोधयति;-'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा'-इति अनेन मन्त्रेण 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे' अग्नेरुत्तरार्द्धस्य पूर्वार्द्धे 'जुहुयात्' ॥ गतोऽयं स्विष्टकृद्धोमः ॥११—१४॥ अथापरोऽप्यस्ति होमः सर्वकर्मसाधरणस्तं विधत्ते-

भा०-(उक्त "उपस्तीर्णाभिघारितहोम" के पीछे प्रकृत होम शेष होने

पर *) 'स्विष्टकृत् होम' करने के लिये भी पूर्ववत् स्रुवा के द्वारा आज्य ले कर स्रुच् में लेने के अनन्तर उस चरुस्थाली मध्यस्थित चरु के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध से एकवार मात्र, किन्तु कुछ अधिक परिमाण से चरुग्रहण करे एवं उसके ऊपर पुनः आज्य सिञ्चन करे। विशेषता यही है जो, कर्त्ता यदि भृगुगोत्रोत्पन्न हो तो उसे दो वार 'उपस्तरण' करना पड़ेगा। अनन्तर इस प्रकार चरुग्रहण और इस प्रकार दो वार अभिघारण करे। (और भी जो, स्विष्टकृत् भाग ही शेष अर्थात् इस के पीछे और होम के लिये चरु की आवश्यकता होती नहीं अतएव) स्विष्टकृत् होम के लिये चरुग्रहण करके, उस चरु को ठीक २ रखने के लिये उस में आज्य सिञ्चन करना आवश्यक नहीं। इस गृहीत होमीय को 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इस मन्त्रद्वारा अग्नि के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध में हवन करे। इसी को 'स्विष्टकृतहोम' कहते हैं ॥ ११–१४ ॥

महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ १५ ॥

'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरितिमन्त्रेण 'आज्येन' 'अभिजुहुयात्' इति सर्वसाधारणहोमप्रकारः ॥ १५ ॥ इदानीं प्रकृतहोमकालं व्यवस्थापयति—

भा०— 'भूर्भुवः स्वाहा' इस मन्त्र से आज्य द्वारा होम करे। इसी को 'महाव्याहृति–होम, कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राक् स्विष्टकृत आवापः ॥ १६ ॥

'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्धोमात् 'प्राक्' पुरस्तादेव 'आवापः' प्रकृतहोमः दर्शपौर्णमासीयो वैवाहिकादिश्च कार्यः ॥ १६ ॥

भा०—स्विष्टकृत् होमके पूर्व ही 'आवाप' अर्थात दर्शपौर्णमास का, या विवाहादि का प्रकृत होम करे ॥ १६ ॥

गणेष्वेकम्परिसमूहनमिध्मोवर्हिःपर्युक्षणमाज्यमाज्यभागौ च सर्वेभ्यः समवदाय सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोति १७,१८

'गणेषु' बहुष्वावापेषु कर्त्तव्येषु आवापबहुत्वानुरोधतस्तत् पूर्वापरकार्याणामपि बहुत्वं न भवेदित्याह—'परिसमूहनमित्यादिकम्' पूर्वोक्तं समस्तमेव 'एकं' सकृदेव भवेत्, किन्तु 'सर्वेभ्यः' 'समवदाय' अवदानपूर्वकहोमानन्तरं 'सौविष्टिकृतं' 'सकृत्' एकवारमेव 'जुहोति' न तु आवापसङ्ख्यानुगुणमिति यावत् ॥१७, १८॥

---

* दर्शपौर्णमास का प्रकृत होम पीछे कहा जावेगा (स० २२, २५)। विवाहादि समस्त कार्यों का ही प्रकृत होम होता है। प्रकृत होम को ही 'आवाप' कहते हैं। सब ही 'आवाप' के पहिले उपघातहोम और उपस्तरणाभिघारित—होम हुआ करते हैं और अन्त में स्विष्टकृत् होम करना होता है। ये चार प्रकार के होम चरु द्वारा निष्पन्न होते हैं ॥११—१४॥

भा०—जिस स्थान में बहुत आवाप कर्त्तव्य हों, वहां आवाप के बहुत होने से इध्म (लकड़ी) ग्रहण आदि कार्य अनेकवार नहीं किये जावेंगे, और सब ही आवाप के लिये पहिले की नाईं चरुग्रहण पूर्वक होम आदि शेष पीछे सब के अन्त में एकही वार ' स्विष्टकृत् , होम करे ॥१७, १८॥

हुत्वैतन्मेक्षणमनुप्रहरेत्प्रक्षाल्य वैतेनोद्धृत्य भुञ्जीत १९, २०

' एतत् ' स्विष्टकृत होमं हुत्वा ' ' अनु ' पश्चात् अनावश्यकमिति मत्वा तद्धोममात्रहोमसाधनं ' मेक्षणं ' ' प्रहरेत् ' प्रक्षिपेत् अग्नाविति शेषः। 'वा' अथवा ' प्रक्षाल्य ' तन्मेक्षणं रक्षेत् यथाकालम् ' एतेन ' मेक्षणेनैव 'उद्धृत्य' अन्नं ' भुञ्जीत ' यजमानः। एवञ्च मेक्षणेन भोजनं यस्य सुखकरं स न प्रक्षिपेदिति भावः ॥१९, २०॥

भा०—इस ' स्विष्टकृत् ' होम के पीछे मेक्षण, अनावश्यक हो तो, उसे अग्नि में फेंक देवे या भोजनार्थ आवश्यक निश्चित होने पर उसे धो कर रक्खे एवं यथा समय उस के द्वारा भोजन करे ॥ १९ । २० ॥

न स्रुवमनुप्रहरेदित्येकआहुः ॥ २१ ॥

'एके' आचार्याः स्रुवं न अनु प्रहरेत्'—'इति आहुः' तदपि सम्मतम् ॥२१॥

अथेदानीमाहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्दर्शपौर्णमासावापमन्त्रभेदमाह—

भा०:—कोई २ आचार्य कहते हैं कि 'कार्य के अन्त में स्रुवा भी धोकर रक्खे; उसे अग्नि में न डारे, तौ भी कोई हानि नहीं ॥ २१ ॥

आग्नेय एवानाहिताग्नेरुभयोर्दर्शपौर्णमासयोः स्थालीपाकस्यादाग्नेयो वाग्नीषोमीयो वाऽऽहिताग्नेः पौर्णमास्यायामैन्द्रो वैन्द्राग्नो वा माहेन्द्रो वा अमावास्यामपि वाऽऽहिताग्नेरप्युभयोर्दर्शपौर्णमासयोराग्नेयएव स्यात् ॥ २२-२५

' अनाहिताग्नेः ' अनग्निहोत्रिणः ' उभयोः, ' कयोरित्याह ' दर्शपौर्णमासयोः ' ' स्थालीपाकः ' स्थाल्यां पक्वचरुः ' आग्नेयः ' अग्निदेवताकः ' स्यात् ' उपस्तीर्णाभिघारितं चरुं गृहीत्वा ' अग्नये स्वाहा ' इति मन्त्रेणैवापरोहोम आवापो दर्शपौर्णमासयोरनाहिताग्नेरित्येव पर्यवसितार्थः। ' आहिताग्नेः ' नित्याग्निहोत्रिणस्तु ' पौर्णमास्यायाम् ' ' आग्नेयः ' एव ' वा ' अथवा ' अग्निषोमीयः ' किञ्च ' अमावस्यायाम् ' 'ऐन्द्रः वा ऐन्द्राग्नः वा माहेन्द्रः वा' स्थालीपाकः स्यादिति। ' अपिवा ' ' आहिताग्नेरपि ' ' उभयोः दर्शपौर्णमासयोः ' ' आग्नेयः एव ' ' स्यात् '; अस्मिन् पक्षे आहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्न

कोऽपि भेदइति फलितम् ॥२२—२५॥ यज्ञवास्तुनामककर्मापि किञ्चिदुपदिशति—

भा०:—इस के पीछे दर्शपौर्णमास के 'आवाप—मन्त्र' कहते हैं—यदि यजमान 'अग्निहोत्री' हो तो, 'दर्श' और 'पौर्णमास' दोनों याग में 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से 'उपस्तीर्णाभिघारित' चरु होम करे; और यदि अग्निहोत्री हो, तो 'पौर्णमासयाग' के आवाप 'होम' में 'अग्नये स्वाहा' या 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' यह मन्त्र व्यवहार करे। और 'अमावास्यायाग' में 'इन्द्राय स्वाहा' या 'इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा' मन्त्र व्यवहार करे। या अग्निहोत्री भी 'दर्श' 'पौर्णमास' दोनों ही याग में, अग्निहोत्री की नांई 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देवे ॥ २२—२५ ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्ययज्ञवास्तु करोति तत एव बर्हिषः कुषमुष्टिमादायाज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि मूलानीत्यक्तथंरिहाणा व्यन्तु वय इत्यथैनमद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्यर्जयेद्यः पशूनामधिपतीरुद्रस्तन्तिचरोवृषापशूनस्माकं माहिथंसीरेतदस्तु हुतन्तव स्वाहेत्येतद्यज्ञवास्त्वित्याचक्षते।२६—२९॥८

'समिधम् आधाय अनु पर्युक्ष्य' पूर्वोक्तप्रकारेण समिदाधानं प्रकृत्य पर्युक्षणञ्च समाप्य तस्मिन्नेव काले 'यज्ञवास्तु' नाम किञ्चित् कार्यं 'करोति' कुर्यात् दर्शपौर्णमासादौ। कथमित्याह—'तत एव बर्हिषः' आस्तृतकुशसमूहादेव 'कुशमुष्टिम्' मुष्टिमितानि कुशतृणानि 'आदाय' संगृह्य 'आज्ये वा' पूर्वोक्तान्यतमे वा, 'हविषि वा' पक्वचरौ वा 'अग्राणि, मध्यानि, मूलानि' 'इति' एवं 'त्रिः' त्रिवारम् 'अवदध्यात्' अञ्जयेत् 'अक्तं रिहाणा व्यन्तु वयः'—'इति' अनेन मन्त्रेणेति। 'अथ' अनन्तरम्, तानि 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' सिक्त्वा यः पशूनामित्यादि स्वाहान्तेन मन्त्रेण 'अग्नौ' 'अर्जयेत अपि' क्षिपेच्च। 'एतत्' कर्म्म 'यज्ञवास्तु'—'इति आचक्षते' ॥ २६—२९ । ८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके अष्टमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम्। १,८

भा०:—'दर्शपौर्णमासादि' याग में और एक कार्य करना होता है, उसे 'यज्ञवास्तु' कहते हैं। वह पूर्वोक्त प्रकार से 'समिदाधान' प्रभृति 'पर्युक्षण' पर्यन्त कर्म के पीछे किया जावेगा। जैसे—आस्तृत कुशसमूह से एक मुट्ठी कुश लेकर आज्य या चरु में अग्र, मध्य, मूल, इस क्रम से 'अक्तरिहाणा' इस मन्त्र को पढ़ कर तीन वार जल सींचे। तत्पश्चात् उसे जल से साफ करके 'यः पशूनामधिपतिः' इत्यादि मन्त्र पाठ करके उसे अग्नि में छोड़ देवे, इसी को 'यज्ञवास्तु' कहते हैं ॥ २६—२९ ॥ १ । ८

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१,८॥

अथैतद्धविरुच्छिष्टमुदगुद्वास्योद्धृता ब्रह्मणे यच्छेत् तं तितर्पयिषेद् ब्राह्मणस्य तृप्ति मनु तृप्यामीति ह यज्ञस्य वेदयन्तेऽथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धꣳस्यात् ॥ १—४ ॥

'अथ' महाव्याहृतिहोमानन्तरम् । 'एतत्' 'उच्छिष्टम्' अवशिष्टं 'हविः' चर्वन्नं 'उदक्' अग्नेरुत्तरस्मिन् 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'उद्धृत्य' पात्रान्तरे गृहीत्वा 'ब्रह्मणे' ब्रह्मनामर्त्विजे 'प्रयच्छेत्'। 'तं' ब्रह्माणं 'तितर्पयिषेत्' अतिशयेन तर्पयितुं तृप्तं कर्त्तुमिच्छेत् । 'ह' यतः 'ब्राह्मणस्य तृप्तिम् अनु तृप्यामि'—'इति' 'यज्ञस्य' यज्ञपुरुषस्य अभिमतं 'वेदयन्ते' ऋषयः; ब्राह्मणतृप्त्यर्थमेव यज्ञानुष्ठानमिति भावः । 'अथ' किञ्च 'अन्यत्' अपरमपि भक्तादिकं 'यत् अन्नम्' 'अस्य' यजमानस्य 'उप' समीपे 'सिद्धं स्यात्' तदपि तस्मै देयमिति ॥ १–४ ॥

भा०:—यज्ञ का शेष कार्य कहा जाता है । प्रथम, इस महाव्याहृति होम के पीछे अवशिष्ट चरु को अग्नि के उत्तर दिशा में रख कर उसी चरु-स्थाली से दूसरे पात्र में चरु लेकर ब्रह्मा, उसे ऋत्विक् को देवे, उस समय यजमान के निकट में यदि और भी दूसरा अन्न, भात प्रभृति हो, तो उसे भी उन को देना चाहिये। जिस किसी प्रकार हो उन्हें तृप्त करने की इच्छा रक्खे; कारण, यह है कि ऋषिगण–कहते हैं कि ब्राह्मण की तृप्ति अनुसार ही हम तृप्त होते हैं–यही यज्ञपुरुष का अभिप्राय है ॥ १–४ ॥

अथ ब्राह्मणान् भक्तेनोपेप्सेत ॥ ५ ॥

'अथ' अनन्तरं 'भक्तेन' अन्नेन 'ब्राह्मणान्' निमन्त्रितान् 'उपेप्सेत' सम्बद्धुमिच्छेत् भोजयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

भा०:—अनन्तर द्वितीय कार्य,–निमन्त्रित ब्राह्मण आदिक को भात आदि खिलाकर ही परितृप्त करे ॥ ५ ॥

पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् कꣳसं चमसं वान्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वापि वा फलानामेवैतं पूर्णपात्रमित्याचक्षते ब्रह्मैवैकऋत्विक् पाकयज्ञेषु स्वयꣳ होता भवति पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणाऽपरिमितं परार्ध्यमपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतꣳ सहस्राणि ददौ ॥ ६—१२ ॥

'पूर्णपात्रः' पूर्तपात्रम् 'दक्षिणा' भवति दर्शपौर्णमासादियागस्येति। 'तं' दक्षिणारूपं पूर्णपात्रं ब्रह्मणे' ब्रह्मनामर्त्विजे 'दद्यात्'। किन्तत् पूर्णपात्रमिति? वदति—'कंसं' कांस्यपात्रम्, 'चमसं' पानपात्रं 'वा' 'कृतस्य' पक्कस्य 'अकृतस्य' अपक्कस्य 'वा' अन्नस्य' समूहैः, 'अपि वा' 'फलानां' समूहैः 'पूरयित्वा'; 'एतम् एव' पूर्णपात्रम् इति आचक्षते'। दर्शपौर्णमासादौ कर्मणि 'ब्रह्मा एव एकः ऋत्विक्' वरणीयः बहुतराणामृत्विजां नापेक्षा। होतृकार्यं कथं भवेदित्याह— 'पाकयज्ञेषु' दर्शपौर्णमासप्रभृतिषु 'स्वयं' यजमान एव 'होता' भवति' भवेन्नाम। ननु दर्शपौर्णमासादिपाकयज्ञस्य पूर्णपात्रं दक्षिणा विहिता, ततोऽधिकदाने दोष सञ्जायते किम्? नेत्याह:—'पाकयज्ञानां' पाकैः चरुभिर्यजनीयानां दर्शपौर्णमासादीनां कर्मणां पूर्णपात्रः' पूर्णपात्रम् 'दक्षिणा' 'अवमः' अवमम् अधमं न्यूनकल्पत इति यावत्। 'अपरिमितम्' बहुसङ्ख्यकस्वर्णादिकमेव दक्षिणा 'परार्ध्यम्' उत्तमं प्रशस्तमित्यर्थः। अत्र बहुतरदानव्यवहारोऽपि निदर्श्यते;— 'ह' निश्चयम्; 'पैजवनः' पिजवनस्य पुत्रः 'सुदाः' ऋषिः 'ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेन इष्ट्वा' 'शतं' शतगुणितं 'सहस्राणि' तथा च लक्षं सम्पन्नम् लक्षम् 'अपि' दक्षिणाः 'ददौ' ॥६—१२॥

भा०—इस दर्शपौर्णमास याग की 'दक्षिणा' पूर्णपात्र होगा। वह 'पूर्णपात्र' ब्रह्मा नामक ऋत्विक् को देना चाहिये कच्चा या पका अन्न, या कतिपय फलों के द्वारा 'कांस्यपात्र' या 'चमस' को भर देने का नाम,पूर्णपात्र' है। दर्शपौर्णमास प्रभृति कार्य में एक मात्र ब्रह्मा ही 'ऋत्विक्' होना चाहिये। पाक यज्ञ में अर्थात् चरुपाक मात्र करके जो यज्ञ किया जाता, इन सब यज्ञों में यजमान ही 'होता' होवे। इस स्थानमें और भी जानने की बात है—जो, पाक यज्ञ को, उक्त पूर्णपात्र दक्षिणा न्यून कल्प (अधम) समझना चाहिये। यदि सामर्थ्य हो तो अपरिमित दक्षिणा देना उचित है। पिजवन नामक ऋषि के वंशधर सुदा ऋषि ने, इन्द्राग्नी देवता के उद्देश्य से स्थाली पाक द्वारा याग करके अर्थात् अमावास्या याग के अनन्तर लाख (सुवर्ण, या मुद्रा या गौ) दक्षिणा दियी थी ॥ ६—१२ ॥

अथ यदि गृह्येऽग्नौ सायं प्रातर्होमयोर्वा दर्शपूर्णमासयोर्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादित्या सायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्याप्रातराहुतेः सायमाहुतिरामावास्यायाः पौर्णमासं नातत्येत्यापौर्णमास्या आमावास्य-

मेतेनैवावकाशेन हव्यं वा होतारं वा लिप्सेतापि वा यज्ञियानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा अपयित्वा जुहुयादप्यप एवान्ततो जुहुयादिति ह स्माह पाकयज्ञ ऐडो हुतं ह्येव ॥१३–१७॥

'अथ' प्रकरणान्तरम् । 'यदि' 'गृह्योऽग्नौ' 'सायम्प्रातर्होमयोर्वा' 'दर्शपूर्णमासयोर्वा, क्रमशः' 'हव्यं' हवनीयमाज्यादिकं 'वा' अपि 'होतारं' स्वयमशक्तौ प्रतिनिधिं 'न अधिगच्छेत्' नाप्नुयात्, तर्हि 'कथं' केन प्रकारेण 'कुर्यात्' सायम्प्रातर्होमौ दर्शपूर्णमासौ वे त्याशङ्का । इमामाशङ्कामपनुदति ,–' आ सायमाहुतेः' सायमाहुतिकालं यावत् 'प्रातराहुतिः' प्रातर्हवनकालो 'न अत्येति' नातिक्रमते, एवम् 'आ प्रातराहुतेः सायमाहुतिः,' किञ्च 'आ अमावास्यायाः' अमावास्यामारभ्य 'पौर्णमासं' यावत् अमावास्याहवनकालो 'न अत्येति'; एवमेव 'आ पौर्णमास्याः' पौर्णमास्यामारभ्य 'आमावास्य' यावत् पौर्णमास्याहवनकालो नात्येत्येव । तदित्थं हव्यहोत्रोरन्वेषणाय सायम्प्रातराहुत्योश्चत्वारि यामा अवकाशः, दर्शपूर्णमासयोस्तु पञ्चदशाहानि । 'एतेन' चतुर्यामरूपेण पञ्चदशाहात्मकेन वा 'अवकाशेन एव' 'हव्यं' होतारं वा 'लिप्सेत' लब्धुमिच्छेत् । 'अपिवा' होतृलाभे 'यज्ञियानाम् ओषधिवनस्पतीनां फलानि पलाशानि वा एव अपयित्वा जुहुयात्' । 'अपि' तदलाभे च 'अन्ततः' अपएव उदकान्येव ' जुहुयात्', ' ह ' निश्चयम् ,'पाकयज्ञः' पाकयज्ञनियमः 'इति' एवं 'ऐडः' नामर्षिः 'आह स्म', तथा च फलाद्याहुतो अपि 'हि' निश्चयं 'हुतम् एव' स्वीकार्यमस्माकम् । १३–१७ ॥

भा०:–यदि किसी दैवी दुर्घटना से गृह्याग्नि में सायं और प्रातर्होम और दर्श पौर्णमास याग करने के लिये 'सामग्री' इकट्ठी न हो, या पीड़ा आदि निबन्धन से स्वयं और पत्नी दोनों ही असमर्थ हों और उस समय शीघ्र कोई प्रतिनिधि (वदले में दूसरा व्यक्ति) भी दुष्प्राप्य हो, तो ऐसे दशा में, सायं होम करने पर्यन्त भी प्रातराहुति का समय अतीत न समझा जायेगा और प्रातराहुति के समय पर्यन्त भी सायं होम का समय अतीत न समझा जायगा (ऐसी दशा में) अमावास्या से पूर्णिमा के पूर्व दिन पर्यन्त १५ दिन में चाहे जिस दिन हो, 'अमावास्या याग' हो सकेगा । और पूर्णिमा से अमावास्या के पूर्व दिवस पर्यन्त १५ दिन में से चाहे जिस किसी दिन हो 'पौर्णमासयाग' हो सकेगा इतने समय में जो कुछ सामग्री न हो, उसे इकट्ठी करे और होता भी कहीं से ढूंढ़ कर लावे। यदि हवनीय अन्नादि इकट्ठा न हो, तो उससे भी

हानि नहीं, फल से भी हवन हो सकता है, यदि यह भी न हो तो धान्य, शस्य, वृक्ष का, या आम्र आदि वनस्पति के पत्र से भी होम का काम पूरा करे, एड नामक ऋषि कहते हैं कि निदान कुछ न मिलने पर केवल जल से भी याग करे (पर नियम न तोड़े) ॥ १३–१७ ॥

अहुतस्याप्रायश्चित्तंभवतीति नाव्रतोब्राह्मणःस्यादिति ।१८,१९।

अथाप्युदाहरन्ति यावन्न हूयेताभोजनेनैव तावत् सन्तनुयादथ यदाधिगच्छेत् प्रति जुहुयादेमप्यस्य व्रतꣳसन्ततं भवतीति ॥ २०–२३ ॥

'अहुतस्य' गृह्येऽग्नौ सायम्प्रातराहुती येन न हुते, नापि दर्शपौर्णमासयोर्हुते येन, तस्य 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यं 'भवति'–'इति' हेतोः 'ब्राह्मणः' 'अव्रतः' नियमाहुतिदानशून्यः 'न स्यात्' 'इति' आदेशः । १८, १९॥

'अथ अपि' अपरमपि पक्षम् 'उदाहरन्ति' वदन्ति आचार्याः । तथाच—'यावत्' कालं 'न हूयेत' सायम्प्रातर्होमौ दर्शपौर्णमासहोमौ वा 'तावत्' 'अभोजनेन' भोजनमकृत्वैव 'सन्तनुयात्' कालहरणं कुर्यात् । 'अथ' अनन्तरं कालातीतेऽपि 'यदा' यस्मिन्नेव समये 'अधिगच्छेत्' हव्यं होतारं वा, तदेव 'प्रति जुहुयात्' सायमादिकालं प्रतीक्ष्य जुहुयात् । 'एवमपि' अभोजनेन दिनकर्त्तनेनापि 'व्रतं' नित्यानुष्ठेयं 'सन्ततम्' अविच्छिन्नं 'भवति'; 'इति' गतमिदं प्रकरणं नित्यानुष्ठानस्य । २०–२३॥

भा०:–यदि ऐसी कोई घोर आपत्ति हो जावे कि जिससे जल मिलना भी कठिन हो वा न मिले, तो जब तक होम का उपाय न हो, भूखे रहे, पश्चात् जिस समय हवनीय पदार्थ पावे या 'होता' मिले, उसी समय ठीक समय पर सायं या प्रातराहुति प्रदान करे और दर्श या 'पौर्णमास याग' करे । इस प्रकार भी उक्त कार्यों की नियमित–कर्त्तव्यता रक्षा करे परन्तु ब्राह्मण किसी प्रकार भी विना 'व्रत' न रहे, व्रतशून्य होने पर प्रायश्चित करना पड़ेगा ॥ १८–२३ ॥

एषोऽत ऊर्द्ध्वꣳहविराहुतिषु न्यायः ॥ २४ ॥

'अतऊर्द्ध्वं' इतःपरं 'हविराहुतिषु' हविर्भिः चरुभिर्निष्पाद्येषु नैमित्तिकेषु काम्येषु च सर्वेष्वेव होमेषु 'एषः' एव 'न्यायः' प्रकारः, अर्थतः पूर्वमुपघातहोमद्वयं ततश्च उपस्तीर्णाभिघारितं प्रकृत्यैव हवनं कार्यमिति ॥ २४ ॥

भा०:––इस के पीछे चरुद्वारा होने योग्य जितने याग कहे जावेंगे, उन सब स्थानों में भी ठीक २ उसी प्रकार उलूखल, मूसल, स्थापनादि कार्य करना चाहिये ॥ २४ ॥

मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ॥ २५ ॥

'मन्त्रान्ते' हविःप्रदानमननसाधनवाक्यान्ते पूर्वत्र परत्र च सर्वत्रैव होमे 'स्वाहाकारः' स्वाहापदं प्रयोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

भा०ः—आहुति के सब मन्त्रों ही के अन्त में 'स्वाहा' यह पद जोड़ कर प्रयोग करे (बोले) ॥ २५ ॥

आज्याहुतिष्वाज्यमेव सꣳस्कृत्योपघातं जुहुयान्नाज्यभागौ न स्विष्टकृदाज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च महाव्याहृतिभिर्होमो यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्म्मण्युपनयने गोदाने च ॥ २६—२८ ॥

'आज्याहुतिषु' यत्र हविर्भिर्न हवनं विधेयमपि तु आज्यैरेवाहुतयो विधास्यन्ते,तत्र 'आज्यमेव संस्कृत्य' चरुपाकाद्यायोजनमनर्थकमित्युलूखलाद्युपसादनादिकमकृत्वैव 'उपघातं' प्रकृतयागस्योपोद्घातरूपमेकमेवहोमं 'जुहुयात्', 'न आज्यभागौ' चतुर्गृहीताद्याज्यभागद्वयात्मकमुपघातहवनं न कार्यम्; 'न स्विष्टकृद्' स्विष्टकृद्यागोऽपि तत्रानावश्यकः । अपिच 'आज्याहुतिषु' सर्वत्रैव 'अनादेशे' विशेषविध्यभावे सुतरां गर्भाधानादौ 'पुरस्तात्' प्रधानकर्मणः 'उपरिष्टाच्च' तस्य 'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवःस्वरिति समस्ताभिः 'होमः' एकएव कार्यः । ननु चूडाकरणादावपि नास्ति कश्चिद् विशेषादेशइति तत्रापि किमेकएव होमो महाव्याहृतिभिरिति व्युदस्यत्यनेनातिदेशसूत्रेण,—'पाणिग्रहणे' पाणिग्रहणनिमित्ते सति 'यथा' वक्ष्यामो होम—चतुष्टयम् 'महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम्' इति 'चूडाकर्मणि, उपनयने, गोदाने च' 'तथा' एव कार्यं होमचतुष्टयमित्यतिदेशसूत्रम् ॥ २६—२८ ॥

भा०ः—जो २ होम केवल आज्य ही द्वारा होने योग्य हैं, उन में आज्यसंस्कार मात्र करना योग्य है, उलूखल स्थापनादि की उन में आवश्यकता नहीं । और ऐसे स्थान में चरु होम की नाईं चतुर्गृहीत या पञ्चगृहीत (४ या ५ वार लिया हुआ) आज्यद्वारा दो 'उपघात' नामक होम करना आवश्यक नहीं, एक ही वार 'उपघात' होम करे और 'उपस्तीर्णाभिघारित' होम भी अनावश्यक है और 'स्विष्टकृत' होम भी न करे । आज्याहुति के बदले और भी विशेषता है जो जिस किसी स्थान में विशेष विधि नहो * ऐसे स्थान में प्रकृत (मुख्य) याग के पहिले और पीछे "भूः, भुवः, और स्वः" इन तीन

* अर्थात् गर्भाधानादि में ॥

महाव्याहृतियों का पाठ कर एक २ आहुति प्रदान करे, परन्तु विवाह की जिस प्रकार व्यवस्था कियी जावेगी ** चूड़ाकरण, उपनयन, और गोदान में भी उसी प्रकार होगी ॥ २६—२८ ॥

अपवृत्ते कर्मणि वामदेव्यगानꣳशान्त्यर्थꣳशान्त्यर्थम् ।२९।९

'कर्मणि' नित्ये, नैमित्तिके, काम्ये वा सर्वत्रैव 'अपवृत्ते' समाप्ते सर्वान्ते-इति यावत् 'वामदेव्यगानम् वामदेव्यनामकस्य साम्नोगानम् (ऊ० गा० १, १, ५) कर्त्तव्यम्, तच्च 'शान्त्यर्थं' भवतीति शेषः। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतिका ॥२९॥ ९

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥

इति गोभिल-गृह्यसूत्रे प्रथमः प्रपाठकः ॥

भा०:—क्या नित्य (प्रति दिन करने योग्य), क्या नैमित्तिक, (किसी निमित्त विशेष से करने योग्य), क्या काम्य (किसी कामना से) सब ही प्रकार के होम के अन्त में 'वामदेव्य' * गान करे; उस से सब प्रकार की आपत्तियों की शान्ति होती है ॥ २९—९ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१,९॥

प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ १ ॥

—:०॥ महावामदेव्य साम ॥०:—

३ र ४ २ ४र ५
महावामदेव्यम् ॥ काऽ५या। नश्चा३ इत्रा३ आभुवात् ।

** विवाह में विशेष विधि यह होगा कि 'भूः, भुवः, स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों के द्वारा भिन्न २ तीन और फिर इन को एकत्र करके पढे और एक, सुतरां ४ होम करना चाहिये। उक्त महाव्याहृति आदि भिन्न २ कर होम करने का ही नाम वास्तुहोम है और एकत्रित पाठ पूर्वक होम करने को 'समस्तहोम, कहते हैं। विवाहादि में व्यस्त—समस्त (अलग और एकत्र) दोनों प्रकार होम होते हैं ॥

* छन्द आर्च्चिक के द्वितीय प्रपाठक के द्वितीयार्द्ध में तृतीय दशति के पञ्चम " कयानश्चित्र आ, ऋक् अवलम्बन करके तीन साम मन्त्र गाये गये हैं, वह 'गेय गान, के पञ्चम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में २३, २४, २५, हैं उन में तृतीय आर्षेय ब्राह्मणोक्त (१, १६) श्रुतिअनुसार 'वाम देव्य,। उत्तरार्च्चिक के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में द्वादश सूक्त के प्रथम भी 'कयानश्चित्र आ, ऋक् एवं इस सूक्त के इस छन्द के और भी दो 'ऋक्, है, " यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति ,, ताण्ड्य ब्राह्मणोक्त इस श्रुति के अनुसार इन दो में भी " वामदेव्य ,, गान होता है। इन वामदेव्य का एकत्र गान होने से महावामदेव्यगान कहाता है। यह महावाम देव्य उह्गान के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में पञ्चम साम है ॥

१ २ २ १२ २ १ २ २ २ १ २
उ । तीसदा वृधःस। खा । औ३ हो हाइ । कया२३ शचाइ ।
३ २ २ १ — २ १ २
ष्ठयौहो३ हुम्मा २। वार्त्तो३ऽ५ हाइ (१) ॥ काऽ५स्त्वा ।
४ २ ४ ५ १ २२ १ २ २
सत्योऽ३ मा३ दानाम् । मा । हिष्ठोमात्सादन्ध । सा । औ३
२ २ १ २ ३ २ २ १ — १
होहाइ । दृढा२३ चिदा । रुजौहो३ । हुम्मा२ । वाऽ३ सो३ऽ५
२ ३ २ ४ २ ४ ५ १ २२
हायि ॥ (२)॥ आऽभी । युणा३ः सा३ रवीनाम् । आ । विता
१ २२ १ २ २ १ २ ३
जरायितृ । णाम् । औ२३ होहायि । शता२३ म्भवा । सि-
२ २ १ — १ २
यौ हो३ । हुम्मा२ । ताऽ२ यो३ऽ५ हायि ॥ (३) सामवेद० उ०
अ० १ खं० ३ । म० १ । २ । ३ ॥

अथ द्वितीयप्रपाठकः ॥

॥ ओं ॥ पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ १

'पुण्ये नक्षत्रे' ज्योतिःशास्त्रोक्ते 'दारान्' पत्नीं 'कुर्वीत' स्वीकुर्वीत । १

भा०ः—जिन नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा का समागम उत्तम होता है (रोहिणी आदि) ऐसे समय में विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन । २

कीदृशान् दारानित्याह—'लक्षणप्रशस्तान्' प्रशस्तलक्षणोपेतान् 'कुशलेन' लक्षणाभिज्ञजनेन परीक्ष्येति । २

भा०ः—जो लोग सुलक्षण कुलक्षण समझ सकते, ऐसे एक अभिज्ञ जन कर्तृक परीक्षा करा कर प्रशस्त लक्षण वाली कन्या से विवाह करे ॥ २ ॥

तदलाभे पिण्डान् । ३

'तदलाभे' लक्षणपरीक्षकालाभे लक्षणविचारेण सुलक्षणाया अभावे च 'पिण्डान्' मृत्पिण्डग्राहणपरीक्षान् कुर्वीतेति । ३

भा०ः—यदि उस समय स्त्री लक्षण पहचानने वाला कोई पुरुष न मिले,

या लक्षण देखने से सब लक्षणों से सुसम्पन्न कन्या न पाई जावे, तो कन्या को डेला छुला कर उस की इस प्रकार परीक्षा करे कि ॥ ३ ॥

वेद्याः सीताया ह्रदाद्गोष्ठाच्चतुष्पथादादेवनादादहना-दीरिणात्सर्वेभ्यः सम्भार्यं नवमथ्ठं समान् कृतलक्षणान्।४–६

'वेद्याः' 'यज्ञीयवेदीतः' 'सीतायाः' लाङ्गलकृष्टस्थानात्, 'ह्रदात्' अगाध-जलस्थानात्, 'गोष्ठात्' गोस्थानात्, 'चतुष्पथात्' 'आदेवनात्' देवनं द्यूतस्थानं तस्मात्, 'आदहनात्' श्मशानात्, 'ईरिणात्' उषरप्रदेशात् मृदो गृहीत्वा 'समान्' तुल्यप्रमाणादिकान् किञ्च 'कृतलक्षणान्' यतश्च यो मृत्पिण्डोगृ-हीतः तद्द्योतकचिन्हीकृतान् पिण्डान् कुर्वीतेति अष्टौ पिण्डाः सम्पन्नाः। 'सर्वेभ्यः' पिण्डेभ्यएव 'सम्भार्यं' किञ्चित् किञ्चिदाहृतमपि पिण्डमेकं कुर्वीत, तदेव 'नवमं' पिण्डानां भवेत् ॥ ४–६ ॥

भा०:—यज्ञवेदी से, जोती हुई भूमि से, अगाधि जल स्थान से, या गोशाला से, चतुष्पथ से, या द्यूतस्थान से, श्मशान से, उषर भूमि में से कुछ २ मिट्टी लेकर आठ स्थानों में भिन्न २ उस मिट्टी को पिण्ड बनाकर रक्खे, और इन पिण्डों में से कुछ २ मिट्टी निकाल कर एक पिण्ड रक्खे इस प्रकार ९ पिण्ड रक्खे ॥४–६॥

पाणावाधाय कुमार्य्या उपनामयेहृतमेव प्रथम-मृतं नात्येति कश्चनर्त्तइयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूया-दिति तस्या नाम गृहीत्वैषामेकं गृहाणेति ब्रूयात्पूर्वेषां चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् सम्भार्यमपीत्येके ॥ ७–९ ॥

उक्तान् पिण्डान् 'पाणौ' 'आधाय' 'कुमार्याः' विवाहार्थपरीक्षणीयायाः 'उप' समीपे 'नामयेत्' स्थापयेत्। तत्र मन्त्रः—ऋतमेवेत्यादिर्भूयादित्यन्तः। ततश्च 'तस्याः' कुमार्याः 'नाम' गृहीत्वा तां सम्बोधयित्वेति यावत्, 'एषां' पिण्डानां नवानाम् 'एकं' यं कमपि 'गृहाण'—'इति' ब्रूयात्। तथाचोक्ते—'पूर्वेषां चतुर्णां' वेदी-सीता-ह्रद-गोष्ठीयमृन्निर्मितानां यं कमपि 'गृह्णन्तीम्' ताम् 'उपयच्छेत्' उद्वहेत। 'एके' आचार्याः 'सम्भार्यं' नवमं पिण्डं गृह्णन्तीमपि उपयच्छेत् इत्याहुः। चतुष्पथ-देवन-श्मशानोषरस्थानीयमृन्निर्मितपिण्डाना-मेकतमं गृह्णन्ती दुर्लक्षणेति नोद्वाह्येति सुतरां फलितम्। इति कन्यापरीक्षणम् ७–९

भा०:—उक्त नव पिण्डों को हाथ में लेकर जो कन्या विवाह के लिये हो उस के निकट लावे, और 'ऋत' प्रभृति मन्त्रों का पाठ कर बोले कि

'हे अमुकि ! इन पिण्डों में से जिसे तुम्हारी इच्छा हो उसे उठा लो। इस प्रकार कहने पर वह, यदि उक्त चार में से एक अर्थात् वेदी, कृष्टभूमि, ह्रद, या गोशाला का पिण्ड लेवे तो उस को सुलक्षणा समझ कर विवाह करे। कोई २ कहते हैं कि, नवम पिण्ड अर्थात् आठ प्रकार की मृत्तिका जिस में इकट्ठी हैं उसे जो ग्रहण करे, तो उस कन्या के साथ भी विवाह कर सकते हैं, किन्तु चतुष्पद, द्यूत स्थान, श्मशान, या उषर मृत्तिका के ग्रहण करने से कदापि विवाहने योग्य नहीं ॥ कन्यापरीक्षा पूरीहुई ॥ ७–९ ॥

क्लीतकैर्यवैर्म्माषैर्वाऽऽप्लुताᳫं सुहृत् सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिर्मूर्द्धन्यभिषिञ्चेत् कामवेद ते नाम मदोनामासीति समानयामुमिति पतिनाम गृह्णीयात् स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थमुत्तराभ्यां प्लावयेत् ज्ञातिकर्मैतत् । १०,११ ॥

'क्लीतकैः' चूर्णीकृतैः 'यवैः मासैः वा' 'आप्लुताम्' मर्दिताङ्गां कन्यां 'सुहृत' कन्यायाएव काचित् सखी 'सुरोत्तमेन' उत्कृष्ट जलेन 'सशरीरां' शरीरसहितां तां 'मूर्द्धनि' मस्तके 'त्रिः' त्रिवारम् 'अभिषिञ्चेत्'। तत्र "काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुᳫंसुरा ते अभवत्। परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोसि स्वाहा ॥२॥ इमन्त उपस्थं मधुना सᳫंसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुᳫंसोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्वसि राज्ञी स्वाहा ॥३॥ अग्निं क्रव्यादकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः। तेनाज्यमकृण्ᳫंस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा" ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० १, १,) आभिरभिषिञ्चनम् तत्र च समानयामुमिति मन्त्रे अमुमित्यस्य स्थाने 'पतिनाम' भाविभर्त्तृनाम 'गृह्णीयात्'। किञ्चोक्ताभिषिञ्चनमन्त्राणाम् 'उत्तराभ्यां' द्वाभ्याम् 'उपस्थं' कन्याया विशेषेण 'प्लावयेत्' धावयेत्। 'एतत्' अभ्यङ्ग–मर्द्दन पूर्वकमुमस्यधावनान्तं स्नानं 'ज्ञातिकर्म' इत्युच्यत इति गतं ज्ञातिकर्म ॥१०, ११॥

भा०:—यव चूर्ण, या उड़द, कलाई के चूर्ण से कन्या का सर्वाङ्ग मर्दन कर कन्या ही की किसी सखी द्वारा उसी कामवेद प्रभृति स्वाहा कारान्त मन्त्रत्रय पढ़ कर कन्या के माथे पर तीन वार उत्तम जल ढ़ाल दे, इस प्रकार जल ढाल देवे जिस से कन्या का शरीर अच्छे प्रकार धो जावे, विशेषतः इन तीन के शेष (३ य और ४ र्थ) दो का पाठ कर इस कन्या के उपस्थ इन्द्रिय (प्रजनन–प्रदेश) अच्छे प्रकार धो दे। इसी को 'ज्ञातिकर्म' कहते हैं ॥१०, ११॥

पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति । १२

'पाणिग्रहणे' करणीये 'शालायाः' मध्ये 'पुरस्तात्' पूर्वस्यां दिशि' 'अग्निः' 'उपसमाहितः' संस्थापितः 'भवति' भवेत् । १२

भा०:—पाणि-ग्रहण करने में अग्नि शाला के, या घर के बीच पूर्व दिशा में अग्नि स्थापन करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपाङ्कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः प्रावृतो वाग्यतोऽग्रेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते प्राजनेनान्यः शमीपलाशमिश्रांश्च लाजांश्चतुरञ्जलिमात्राञ्छूर्पेणोपसादयन्ति पश्चादग्नेर्दृशत् पुत्रञ्च१३–१६

'अथ' अनन्तरं 'जन्यानां' कन्याज्ञातिजनानां मध्ये 'एकः' अन्यतमः 'ध्रुवाणां' अतिप्रखरतापेऽप्यशुष्कजलाशयोत्थितानाम् 'अपां' 'कलशं पूरयित्वा' 'प्रावृतः' वस्त्राच्छादितः, 'वाग्यतः' अनियमितवाक्शून्यः, 'अग्निम्' तम् 'अग्रेण' कृत्वा 'परिक्रम्य', 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यामग्नेः 'उदङ्मुखः' उत्तराभिमुखश्च सन् 'अवतिष्ठते' अवतिष्ठेत अवस्थितिं कुर्यात् । 'अन्यः' तथैवैकः पुरुषः 'प्राजनेन' गवादिचालनदण्डेन साकं प्राजनहस्तइति यावत् अवतिष्ठेतेत्येव । 'शमीपलाशमिश्रान्' 'चतुरञ्जलिमात्रान्' 'लाजान् च' सूर्पेण, कृत्वा तत्रैव 'अग्नेः पश्चात्' प्रदेशे 'उपसादयन्ति' स्थापयन्ति स्थापयेयुः ये के चात्मीयजनाइति । 'दृशत्पुत्रं' दृशदः पेषणाधारस्य शिलाखण्डस्य क्रोड़े पुत्रवत् शेते य उपलः पेषणकरः तम् 'च' अपि उपसादयन्तीत्येव ॥ १३–१६ ॥

भा०:—इस के अनन्तर कन्या के आत्मीय कोई एक जन, जिस जलाशय का जल कभी न सूखे ऐसे जल में कलश भर कर कपड़े से ढाक कर एकाग्र हो, अग्नि को सम्मुख रक्ख कर प्रदक्षिण क्रम से अग्नि के दक्षिण में उत्तर मुख होकर बैठे । और भी एक व्यक्ति इसी प्रकार डंडा हाथ में लेकर रहे । अग्नि के पश्चात् भाग में शमी पत्र मिला चार अञ्जलि परिमित लाजा रक्खे और एक पेषणकर (लोढ़ा) भी वहीं रखना चाहिये ॥ १३–१६ ॥

अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन् भवति सशिरस्काप्लुताभवति । १७

'अथ' अनन्तरं 'यस्याः' कन्यायाः 'पाणिं' 'ग्रहीष्यन् भवति' वरः, सा कन्या 'सशिरस्का, शिरःसहिता आप्लुतां स्नाता 'भवति' भवेत् । इति विवाहदिवसीयकन्यास्नानम् । १७

भा०:—उस के वाद, वर जिस कन्या का पाणिग्रहण करे, उस को मस्तक पर्यन्त स्नान करा देवे। यह विवाह के दिन कन्या का स्नान होता है ॥१७॥

अहतेन वसनेन पतिः परिदध्याद् या अकृन्तन्नित्येतयर्चा परिधत्त धत्त वाससेति च ॥ १८ ॥

एतत्स्नानानन्तरं ‘ पतिः ’ भावी “या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत, याश्च देव्यो अन्तानभितो ततन्थ। तास्त्वा देव्यो जरसा संव्ययन्त्वायुष्मतीदं, परिधत्स्व वासः” ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १,१,५)’—‘इत्येतया ऋचा’ “परिधत्त धत्त वाससैनाꣳ, शतायुषीꣳ कृणुत दीर्घमायुः। शतं च जीव शरदः सुवर्चा, वसूनि चार्ये विभजासि जीवन्” ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, १, ६)’—‘इति’ अनया ऋचा ‘च’ ‘अहतेन’ अखण्डेन ‘ वसनेन’ परिदध्यात्’ अहतं वसनं तां परिधापयेदित्यर्थः । इति कन्यावासःपरिधापनम् ॥ १८ ॥

भा०:—इस स्नान के पीछे भावी—पति ‘या अकृन्तन्’ यह मन्त्र एवं ‘परि धत्त धत्त वाससा” यह मन्त्र पढ़ कर उस कन्या को अखण्ड वस्त्र (किसी पूरे वस्त्र में से फाड़ कर न लिया हो) पहनावे। यही “कन्यावासपरिधापन” है ॥१८॥

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत् सोमोऽददद्गन्धर्वायेति पश्चादग्नेः संवेष्टितङ्कटमेवञ्जातीयं वाऽन्यत् पदा प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत् प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति स्वयञ्जपेदजपन्त्याम्प्रास्याइतिबर्हिषोऽन्तङ्कटान्तम्प्रापयेत्१९-२२

ततश्च ‘प्रावृतां’ आच्छादितां किञ्च ‘यज्ञोपवीतिनीं’ यज्ञोपवीतयुतां तां कन्याम् ‘अभि’ अभिमुखम् ‘उत्’ उत्कृष्टरूपेण ‘आनयन्’ समीपमानीय भावी पतिः“सोमोऽददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वोऽददद्ग्नये रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्य मथो-इमाम्”॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, १, ७)’—‘इति’ मन्त्रं ‘जपेत्’ पठेत् । अपिच ‘अग्नेः पश्चात्’ ‘संवेष्टितं कटम्’ एवञ्जातीयं कटतुल्यम् ‘अन्यत्’ आस्तरणं वा ‘प्रवर्त्तयन्तीं’ पदा चालयन्तीं “प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्”॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, १, ८)’—‘इति’ वधूं ‘वाचयेत्’ । ‘अजपन्त्यां’ तस्यां“प्रास्याः पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गम्याः”॥९॥ (म० ब्रा० १, १, ९वा)’—‘इति’ इमं मन्त्रं ‘स्वयम्’ एव जपेत् । एवमेव चालयन्तीं कटान्तं ‘बर्हिषः’ आस्तृतस्य ‘ अन्तं’ समीपं ‘प्रापयेत्’ ॥ १९—२२ ॥

भा०:—पीछे उस कन्या को कपड़ा से ढाक कर, यज्ञोपवीतिनी (जनेऊ

पहना कर) करके पति अपने सामने निकट लाकर 'सोमोददद्' यह मन्त्र पढे, एवं अग्नि के पीछे स्थापित 'कट' या इसी प्रकार का अन्य आसन, उस कन्या के पैर से चलाकर अग्नि के समीप विछाया हुआ 'बर्हि' तक ले आवे। उस समय इस भावी वधू को "प्र मे" मन्त्र पाठ करावे, वह यदि पाठ न कर सके तो भावीपति 'प्रास्या' मन्त्र स्वयं ही पढ़े ॥ १९—२२ ॥

पूर्वे कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशति दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंꣳसमन्वारब्धायाः षडाज्याहुतीर्जुहोत्यग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिर्महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम् ॥ २३—२६ ॥

'पूर्वे कटान्ते' कटस्य पूर्वप्रान्ते 'पाणिग्राहस्य' पाणिग्रहणे प्रवृत्तस्य भाविपत्युः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्याम् 'उपविशति' वधूरितिशेषः (२३)। दक्षिणेन पाणिना' वरस्य 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्वारब्धायाः' अन्वारम्भणं पृष्ठतः स्पर्शनं तत् कुर्वाणायाः वध्वाः ग्रहणद्योतकमङ्गलकामनया "अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः, सोस्यै प्रजां मुञ्चातु मृत्युपाशात्, तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां। यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ १० ॥ इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः, प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोतु । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता, पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियꣳ स्वाहा ॥११॥ द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च स्तनन्धयन्ते पुत्रांत्सविताभिरक्षत्वावासꣳपरिधानाद्, बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षतु पश्चात् स्वाहा ॥ १२ ॥ मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वꣳ रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज, पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ १३ ॥ अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥१४॥ परैतु मृत्युरमृतं म आगाद्, वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्यं इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ब्रवीमि मानः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरात् स्वाहा" ॥ १५ ॥ १ (म० ब्रा० १, १, १०—१५)'—इत्येतत् प्रभृतिभिः षड्भिर्मन्त्रैः 'षट् आज्याहुतीः' 'जुहोति' जुहुयात् पाणिग्राह इति शेषः (२४)। 'महाव्याहृतिभिः' तिसृभिः 'पृथक्' विभिन्नाः तिस्र आहुतीर्जुहुयात् (२५) । समस्ताभिः' ताभिः 'चतुर्थीम् आहुतिं 'च' जुहुयात् (२६) ॥२२—२६॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २, १

भा:०—उस पैर से चलाई हुई चटाई के पूर्व प्रान्त में पाणिग्रहण के लिये प्रवृत्त पति के दाहिनी ओर वधू बैठे ॥ २३ ॥ कन्या अपने दहिने हाथ के द्वारा, वर के दक्षिण स्कन्ध छू लेवे, एवं वर, कन्या के ग्रहण द्योतक कल्याण प्रार्थना करने में प्रवृत्त होकर 'अग्निरेतु प्रथमः', प्रभृति छः मन्त्र द्वारा छः आहुति प्रदान करे ॥२४॥ पीछे 'भूः', भुवः और स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों का पाठ कर, भिन्न २ तीन होम करे ॥ २५ ॥ एवं इन तीन को एकत्र 'भूर्भुवः स्वः' पढ़ कर चतुर्थ होम सम्पन्न करे ॥ २६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ॥२.१॥

हुत्वोपोत्तिष्ठतः ॥ १ ॥

'हुत्वा' महाव्याहृत्यन्तम् 'उपोत्तिष्ठतः' उपोत्थानं मिथः पृष्ठतः स्कन्धार्पितहस्तौ सन्तौ उत्थानं कुर्वतः दम्पतीति ॥ १ ॥

भा:०—उस महाव्याहृति होम के अनन्तर दोनों एकत्र 'उपोत्थान' करे। अर्थात् उत्थान काल में वर के दहिने हाथ में, कन्या के पीठ पर होकर दहिने कन्धे पर, और कन्या के वाय हाथ, वर के पीठ पर होकर वायें कन्धे पर रहे।

अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते वध्वञ्जलिं गृहीत्वा ॥ २ ॥

'पतिः' 'अनुपृष्ठं' परिक्रम्य' पृष्ठपरिक्रमणेन 'दक्षिणतः' पत्न्या दक्षिणस्यां गतः पतिः "वध्वञ्जलिं गृहीत्वा" 'उदङ्मुखः' सन् 'अवतिष्ठते' ॥ २ ॥

भा:०—पति, बधू के पीठ की ओर हो कर दहिने ओर चल कर, उस की अञ्जलि पकड़ कर उत्तर मुंह हो बैठे ॥ २ ॥

पूर्वा माता लाजानादाय भ्राता वा बधूमाक्रामयेद-श्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ॥ ३ ॥

'माता भ्राता वा' 'लाजान्' 'आदाय' गृहीत्वा स्वान्तिके 'वधूं' 'दक्षिणेन प्रपदेन' 'अश्मानं' सोपलशिलापट्टकम् 'आक्रामयेत्' आरोहयेत् ॥ ३ ॥

भा०:—माता, या भ्राता लाजा लेकर वधूको दहिने पैरके अग्रभाग से 'अश्माक्रमण' (शिलारोहण) करावे। अर्थात् लोढ़ा सहित शिला पर (चला दे) ॥ ३ ॥

पाणिग्रहो जपतीममश्मानमारोहेति ॥ ४

तस्मिन्नेवाक्रमणकाले "इममश्मान मारोहाश्मेव त्वछं स्थिरा भव। द्विष-

समपबाधस्व मा च त्वं द्विषतामधः” ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, २, १) 'इति' इमं मन्त्रं 'पाणिग्राहः' पाणिग्रहणकारी पतिः 'जपति' जपेत् पठेदित्यर्थः ॥४॥

भा०:—उस 'अश्माक्रमण' काल में पाणिग्रहणकारी 'इममश्मानमारोह' इस मन्त्र को पढ़े ॥ ४ ॥

सकृत् संगृहीतं लाजानामञ्जलिं भ्राता वध्वञ्जलावावपति तꣳसोपस्तीर्णाभिघारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्दत्यञ्जलिमियं नार्य्युपब्रूतेऽर्यमणं नु देवं पूषणमित्युत्तरयो हुते पतिर्यथेतं परिव्रज्य प्रदक्षिणमग्निं परिणयति मन्त्रवान् ब्राह्मणः कन्यलापितृभ्यइति परिणीता तथैवावतिष्ठते तथाऽऽक्रामति तथा जपति तथाऽऽवपति तथा जुहोत्येवं त्रिः ५–१०

'सकृत्' एकवारं 'संगृहीतं' 'लाजानाम् अञ्जलिं' 'भ्राता' 'वध्वञ्जलौ' स्वभगिन्या अञ्जलौ "आवपति" प्रयच्छति (५)। 'सा' वधूः 'तम्' भ्रातृदत्तम् 'अञ्जलिं' लाजाञ्जलिम् 'उपस्तीर्णाभिघारितं पूर्वोक्तप्रकारेण (१।८।४) प्रकृत्य 'अविच्छिन्दती' विच्छेदमञ्जलिभेदमकुर्वन्ती "इयं नायर्य्युपब्रूते अग्नौ लाजानावपन्ती। दीर्घायुरस्तु मे पतिः। शतं वर्षाणि जीवत्वेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, २, २)–'इति' अनेन मन्त्रेण 'अग्नौ' 'जुहोति' जुहुयात (६) 'हुते' लाजाहोमे सम्पन्ने अनन्तरं 'मन्त्रवान्' अधीतवेदो 'ब्राह्मणः' * 'पतिः' 'यथा' येन प्रकारेण पत्नीपृष्ठदेशेन 'इतं, गतं, तथैव 'अग्निं, 'प्रदक्षिणं' यथास्यात् तथा 'परिव्रज्य, प्रत्यागत्य "कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमपदीक्षामयष्ट। कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, २, ५)–'इति' अनेन मन्त्रेण 'परिणयति' तां कन्या मिति शेषः; पतिलोकप्रापणं बोधयति कन्या मिति भावः (९) 'परिणीता' च सा पत्नी 'तथैव' पूर्वोक्तप्रकारेणैव (२ सू०) 'अवतिष्ठते'; 'तथा' एव 'आक्रामति' अश्मानम् (३ सू०); 'तथा' एव 'जपति' (४ सू०) पतिः; 'तथा' एव (५ सू०) 'आवपति' भ्राता; 'तथा' एव (६ सू०) 'जुहोति' वारद्वयम् कन्या स्वयमेव (९) । अत्र च 'उत्तरयोः' लाजाहोमयोः "अर्यमणं नु देवं

* मन्त्रवत्त्वेनैव ब्राह्मणत्वं पतियोग्यत्वञ्चे त्युेव द्योतयितु मिह पत्यु र्वं विशेषणद्वयम्। क्वचिदिह 'वा' पदमपि, परं मदधीतादिपुस्तकेषु सर्वत्रैवात्र 'वा' पदस्यादर्शनात् परिणयकाले कथमपि पत्यनुपस्थितेरसम्भवात् प्रतिनिधेरत्यन्तानावश्यकत्वाच्चासङ्गतएव तादृशः पाठ इत्यनिच्छयापि; त्यक्त मिह सुहृदो मत मादृतश्च तत्त्वकारस्येति सत्यम् ॥

कन्या अग्निमयक्षत। स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा" ॥३॥ (म० ब्रा० १,२, ३)'–"पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत। स इमां देवः पूषा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, २, ४)'–'इति एतौ मन्त्रौ यथा-क्रमेण प्रयोक्तव्यावित्येव विशेषः (७)। 'एवम्' प्रथमलाजाहोमेनोत्तरलाजाहो-मद्वयमेलनेन सङ्कलनया 'त्रिः' होमत्रयं सम्पन्नम्। (१०)। इति गता परिण-यक्रिया ॥ ५–१० ॥

भा०:—कन्या का भाई, एक ही वार एक अञ्जुलि लाजा लेकर अपनी बहिन की अञ्जुलि में देवे, उस भाई की दियी हुई लाजा की अञ्जुलि को पूर्वोपदेशानुसार (१।८।३–४) 'उपस्तीर्णाभिघारित' कर अञ्जुलि अलग २ न हो जावे, इसप्रकार सावधानी से " इयं नार्युपब्रूते " इस मन्त्र से, वधू अग्नि में आहुति देवे। ६। इस प्रकार आहुति देने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण पति ने जिस प्रकार गमन किया था, उसी प्रकार। अर्थात् कन्या को आगे लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा कराते हुये, पुनः आकर 'कन्यला पितृभ्यः' इस मन्त्र का पाठ करके उस कन्या को 'परिणीता' करे। अर्थात् कन्या जो पति लोक पाती है, यह बात उसे समझा देवे ॥ ८ ॥ इस प्रकार वधू परिणीता होने पर और भी दो वार उसी प्रकार अवस्थान (सू० २), अश्माक्रामण (३ सू०), मन्त्र पाठ, (सू० ४), लाजा वपन (सू० ५), और लाजाहोम करे। (९) किन्तु इन दोनों होम में पूर्वमन्त्र नहीं पढ़े। प्रत्युत उसके बदले में 'अर्यमणं नु देवं' एवं 'पूषणं', इन दो मन्त्रों का पाठ यथा क्रम से करे ॥ ७ ॥ इस प्रकार तीन लाजा होम सम्पन्न होंगे। इसी को 'परिणय' कहते हैं ॥ ५–१० ॥

शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामन्त्येकमिष-इति दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेन्मा सव्येन दक्षिण-मतिक्रामेति ब्रूयात् ॥ ११–१३ ॥

'शेष' लाजानम्, 'शूर्पेण' गृहीत्वा 'अग्नौ' 'ओप्य' अमन्त्रकमेव निक्षिप्य 'प्रागुदीचीम्' ऐशानीं विदिशम् " एक मिषे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ६ ॥ द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ७ ॥ त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ८ ॥ चत्वारि मयो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥९॥ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥१०॥ षड् रायस्पो-षाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥११ ॥ सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १२ ॥ सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमयंशं सख्यं ते मायोषाः सख्यं ते मायोष्ठाः ॥ १३ ॥ (१, २, ६–७)"–'इति' सप्तभिः यजुर्भिः सप्तवारमुत्तरोत्तरम् अभ्युत्क्रामन्ति

मात्रादिपरिजना वधूमिति (११) तत्र चाक्रमणाक्रमनुपदिशति;—'दक्षिणेन पादेन' 'प्रक्रम्य' भूमिम्, 'अनु' पश्चात् 'सव्येन' पादेन 'क्रामेत्' तामेव स्थलीम् (१२)। परं तत्रापि 'सव्येन दक्षिणं मा अतिक्राम'—'इति' इम मुपदेशं ब्रूयात् ताम् (१३) एवञ्च प्रथमं सव्यपादक्षेपणं, सव्येन पादेन दक्षिणपादाक्रमणञ्च निषिद्धमिति। गतमिदं सप्तपदीगमनम् ॥ ११—१३ ॥

भा०:—तीन वार हुतावशिष्ट लाजा आदि सूप में लेकर विना मन्त्र पढ़े, अग्नि में डाले। ईशान कोण में 'एक मिषे' प्रभृति सात मन्त्र पढ़ २ कर वधू को यथा क्रम से, सात पग चलावे। उस में विशेष लक्ष्य यह है। कि पहिले वायां पैर आगे न रक्खे, और वायें पैर से दक्षिण पग आक्रान्त भी न हो। इसी को सप्तपदीगमन कहते हैं ॥ ११—१३ ॥

ईक्षकान् प्रतिमन्त्रयेत सुमङ्गलीरियं वधूरिति ॥१४॥

तदनन्तरम् "सुमङ्गली रियं वधू रिमाँ समेत पश्यत। सौभाग्य मस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन" ॥१४॥ (म० ब्रा० १,२, ८)—'इति' इमं मन्त्रं पठन् पाणिग्राहः 'ईक्षकान्' विवाहदर्शकान् सर्वानेवाविशेषेण 'प्रति मन्त्रयेत' आशीः प्रार्थयेत। इदमेव प्रेक्षकामन्त्रणम् ॥ १४ ॥

भा०:—उस के अनन्तर 'सुमङ्गलीरियं वधू' इस मन्त्र को पढ़ कर दर्शकों के निकट आशीर्वाद लेने का पात्र होवे ॥ १४ ॥ यही निरीक्षण (प्रेक्षण) है।

अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्द्धदेशेऽवसिञ्चति तथेतराᳲसमञ्जन्त्वित्येतयर्चा ॥ १५

ततश्च 'औदकः उदककुम्भयुक्तः कश्चन पुरुषः 'अग्निम् अपरेण' अग्नेः पश्चिमतः दम्पतीस्थानं 'अनुसंव्रज्य' समागत्य 'पाणिग्राहं' वरं 'तथैव इतरां' वधूञ्च "समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापोः हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु" ॥१५॥ (म० ब्रा० १,२,९) 'इति एतया ऋचा' दम्पतीभ्यामुच्यमानया स्नपनकालं संलक्ष्य 'मूर्द्धदेशं' तयोरुभयोरेव 'अवसिञ्चति' आ सिञ्चेत् उदकेनैवेत्यासिञ्चनम् ॥ १५ ॥

भा०:—अनन्तर कोई जलवाहक व्यक्ति अग्नि के पश्चिम भाग में आकर विवाह के लिये उद्यत वर और कन्या के माथे पर जल ढाल कर स्नान करावे और, उसी समय दम्पती एक वाक्य से 'समञ्जन्तु' मन्त्र पढ़े ॥ १५ ॥

अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाञ्जलिमुपोद्गृह्यदक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिᳲ साङ्गुष्ठमुत्तानं गृहीत्वैताः षट्

पाणिग्रहणीया जपति गृभ्णामि त इति ॥ १६ ॥

'अवसिक्तायाः' वध्वाः 'अञ्जलिं' 'सव्येन पाणिना' 'उपोद्गृह्य' स्वसमीपे ऊर्ध्वीकरणपूर्वकं प्रगृह्य, तस्याएव 'साङ्गुष्ठम्' अङ्गुष्ठसहितम् 'उत्तानं' पृष्ठनिम्नं 'पाणिं' आमणिबन्धाङ्गुलिचयं 'दक्षिणेन पाणिना' 'गृहीत्वा' "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धि मंह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः॥१६॥ अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्जीवसूर्देवसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१७॥ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोक माविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१८॥ इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सपुत्रां सुभगां कृधि। दशास्यां पुत्रानाधेहि पति मेकादशं कुरु ॥ १९ ॥ संम्राज्ञी श्वशुरे भव संम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि संम्राज्ञी भव संम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥ २० ॥ मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्त मनुचित्तं ते अस्तु। मम वाच मेकमना जुषस्व वृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्" ॥२१॥ (१, २, १०-१५)-'इति' 'एताः' 'पाणिग्रहणीयाः' पाणिग्रहणार्थबोधिकाः ऋचः षट् 'जपति' जपेत् पाणिग्राह इति शेषः। इति गतं पाणिग्रहणम् ॥ १६ ॥

भा०:-पति, उस जल सिक्त वधू के अञ्जलि को वायें हाथ से ग्रहण कर, अपने निकट कुछ ऊपर लेकर दहिने हाथ से तदीय साङ्गुष्ठ उत्तान दहिना हाथ (मणिबन्ध अर्थात् हाथ के पहुंचे से अङ्गुलि तक) पकड़ कर "गृभ्णामि ते" इत्यादि विवाहार्थ बोधक मन्त्र पढ़े। इसी का नाम विवाह है ॥ १६ ॥

समाप्तासूद्वहन्ति ॥ १७ ॥ २ ॥

'समाप्तासु' पाणिग्रहणान्तक्रियासु 'उद्वहन्ति' पतिलोकं प्रापयन्ति वधूम् स्वजनाः रथादयो वा करणादीनामपि कर्त्तृत्वं भवत्येव, कारकाणां विवक्षाधीनत्वात् 'काष्ठाः पचन्ति' इत्यादि भाष्यमेव निदर्शनमिति। इत्युद्वाहः ॥१७॥

इति सामवेदवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ २, २ ॥

भा०:-पाणिग्रहण के अन्त तक सब क्रिया समाप्त होने पर, उस वधू को स्वजनगण, रथ आदि पर, सवार करा पति के घर पहुंचावें। यही "उद्वाह" है १७

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीयखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २ । २ ॥

—:०:—

प्रागुदीच्यां दिशि यद्ब्राह्मणकुलमभिरूपन्तत्राग्नि-रुपसमाहितो भवति ॥ १ ॥

'प्रागुदीच्यां' ऐशान्यां 'दिशि' 'यत्' 'अभिरूपं' तपःस्वाध्याययुतं 'ब्राह्मणकुलम्' 'तत्र' ब्राह्मणकुले 'अग्निः' वैवाहिकः 'उपसमाहितः' यथाविधि स्थापितः 'भवति' भवेत् ॥ १ ॥

भा०:—यदि अपना मकान दूर हो, तो समीपस्थ ईशान कोण स्थित किसी उपयुक्त ब्राह्मण के घर में उत्तरविवाह सम्पादनार्थ यथाविधि अग्निस्थापन करे।

अपरेणाग्निमानडुहꣳ रोहितं चर्म प्राग्ग्रीवमुत्तर-लोमास्तीर्णं भवति ॥ २ ॥

'अग्निम् अपरेण' अग्नेः पश्चात् 'रोहितं' लोहितम् 'आनडुहं चर्म' गोचर्म 'प्राग्ग्रीवं' 'उत्तरलोम' उपरिष्टाल्लोमपृष्ठम् 'आस्तीर्णं' पातितम् 'भवति' भवेत् ॥२॥

भा०:—उस स्थापित अग्नि के पश्चिम भाग में लोहित वर्ण गौ का चमड़ा लेकर, इसप्रकार बिछावे कि जिस में लोमपृष्ठ (रोम ऊपर हो) तो ऊपर को हो और पूर्व—पश्चिम लम्बा हो, चमड़े का शिरो देश पूर्वभाग में हो और इस का नीचे का हिस्सा पश्चिम दिग्गत हो ॥ २ ॥

तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ॥ ३ ॥

'तस्मिन्' आस्तृते आनुडुहे चर्मणि 'एनां' 'वाग्यतां' नियमितवाचाम् 'उपवेशयन्ति' आत्मीयजनाः ॥ ३ ॥

भा०:—उस डाले हुए गो—चर्म के ऊपर वधू को नियमित वाक्य कर बैठावे ॥३॥

सा खल्वास्तएवानक्षत्रदर्शनात् ॥ ४ ॥

'सा' वधूः 'खलु' निश्चयम् 'आनक्षत्रदर्शनात्' अस्तमिते दिवाकरे यावत् नक्षत्रैकमपि दृश्यते तावत् तथा 'एव' 'अस्ते' ॥ ४ ॥

भा०:—वह वधू नक्षत्र के उदय पर्यन्त उसी प्रकार बैठी रहे ॥ ४ ॥

प्रोक्तेनक्षत्रेषडाज्याहुतीर्जुहोतिलेखासन्धिष्वित्येतत्प्रभृतिभिः ५

'नक्षत्रे प्रोक्ते' मेघाच्छन्नादिहेतुभिः नक्षत्रोदयादर्शनेऽपि 'उदितमेव नक्षत्रमण्डलं यतस्तत्कालोऽयमागतः'—इत्येवमभिजनैः कथिते "लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्तेषु च यानि ते। तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ १ ॥ केशेषु यच्च पापक मीक्षिते रुदिते च यत् तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ २ ॥ शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥३॥ आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्।

तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ४ ॥ ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ५ ॥ यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् । पूर्णाहुतिभि राज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १–६),–'इत्येतत्प्रभृतिभिः मन्त्रैः षड्भिः 'षट्' 'आज्याहुतीः' 'जुहोति' जुहुयात् पतिरिति शेषः ॥ ५ ॥

भा०ः–यदि मेघ आदि के कारण नक्षत्रोदय दीख न पड़े, तो किन्हीं प्राज्ञ ज्योतिषी के बतलाये हुए नक्षत्रोदय काल में 'लेखासन्धिषु' इत्यादि छः मन्त्रों से छः आहुति देवे ॥ ५ ॥

आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूर्द्धनि वध्वा अवनयेत् ॥ ६ ॥

'आहुतेः आहुतेः' प्रत्याहुतेः ' सम्पातं तु अवशिष्टघृतधारां वध्वा मूर्द्धनि 'अवनयेत्' ॥ ६ ॥

भा०ः–उन प्रत्येक छः आहुतियों के अन्त में उस वधू के माथे पर घृत का ढार गिरावे ॥ ६ ॥

हुत्वोपोत्थायोपनिष्क्रम्य ध्रुवं दर्शयति ॥ ७ ॥

'हुत्वा' एतत् षडाज्याहुतिहवनानन्तरं दम्पती 'उपोत्थाय' सहैवोत्तिष्ठन्तौ 'उपनिष्क्रम्य' सहैव होमस्थानान्निर्गत्य 'ध्रुवं' ध्रुवसञ्ज्ञं नक्षत्रं दर्शयति पतिः पत्नीमिति ॥ ७ ॥

भा०ः–ये छः आहुति और आहुति शेष ग्रहण के पीछे, वर कन्या उठकर एकत्र होमस्थान से बाहर होकर पति, पत्नी को ध्रुव नामक नक्षत्र दिखलावे ॥७॥

ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयास ममुष्यासाविति पतिनाम गृह्णीयादात्मनश्च ॥ ८ ॥

तत्र ध्रुवदर्शनकाले 'ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्यासौ'–'इति' इमं मन्त्रं वधूः पठेत् । 'च' अपि अमुष्यइत्यस्य स्थाने स्वपतिनाम षष्ठ्यन्तम् असौ स्थाने 'आत्मनः' नाम प्रथमान्तम् 'गृह्णीयात्' ॥ ८ ॥

भा०ः–उस ध्रुव दर्शन के समय 'हे नक्षत्र ! तुम स्थिर स्वभाव वाले हो, इसी कारण 'ध्रुव' (अचल) नाम से विख्यात हो । मैं भी जिससे पति कुल में स्थिरप्रकृति होऊं ? मैं अमुक नामवाली, अमुक नामक व्यक्ति की पत्नी हूं" इस मन्त्र को वधू पढे । इस मन्त्र के मध्यगत 'अमुक' इस पद के बदले निज पति का नाम और "अमुक नाम वाली" के बदले अपना नाम कहे ॥८॥

अरुन्धतीञ्च ॥ ९ ॥

'च' अपि 'अरुन्धतीं' नक्षत्रविशेषं दर्शयति तां पतिरिति ॥ ९ ॥

भा०:—उसी समय पति, वधू को "अरुन्धती" नामक नक्षत्र दिखलावे ॥९॥

रुद्धाहमस्मीत्येव मेव ॥ १० ॥

तत्रारुन्धतीदर्शनकाले 'रुद्धाहमस्मि'—'इति'। 'एवमेव'—पूर्वोक्तप्रकारेण पत्युः स्वस्य च नामग्रहणपूर्वकमेव वधूः पठेदिति ॥१०॥

भा०:—इस अरुन्धती के दर्शनसमय वधू कहे कि 'अमुक नाम्नी मैं, अमुक नामक पति की आज्ञा में बद्धा होती हूं' ॥ १० ॥

अथैनामनुमन्त्रयते ध्रुवाद्यौरित्येतयर्चा ॥ ११ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'एनां' वधूं "ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्" ॥७॥ म० ब्रा० १, ६, ६)'—इत्येतया ऋचा' 'अनुमन्त्रयते' पतिरिति ॥११॥

भा०:—उसके पश्चात् पति वधू को 'ध्रुवा द्यौः' इस मन्त्र को पढ़ावे ॥११॥

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥

'अनुमन्त्रिता' सा वधूः 'गोत्रेण' प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती 'गुरुं' पतिम् 'अभिवादयते' ॥१२॥

भा०:—इस मन्त्र को पढ़ने वाली वधू 'अमुक गोत्रा, अमुक नाम्नी मैं, तुझे अभिवादन करती हूं' कह कर पति के दोनों पैर पकड़ प्रणाम करे ॥१२॥

सोऽस्या वाग्विसर्गः ॥ १३ ॥

'सः' कालः 'अस्याः' वध्वाः 'वाग्विसर्गः' नियमित वाक्प्रयोग—नियम विसर्जनस्येति ॥१३॥

भा०:—यहां तक वधू नियमित वाक्य (आवश्यकतानुसार बोले) रह कर इस के वाद वह नियम त्याग कर अपनी इच्छानुसार बोल सकता है ॥१३॥

तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥१४॥

'तत्प्रभृति' विवाहकर्मारम्भदिनतः 'त्रिरात्रं' त्रीण्यहोरात्राणि 'तावुभौ' दम्पती 'अक्षारलवणाशिनौ' क्षारलवणातिरिक्तभोजिनौ हविष्याशिनाविति यावत् 'सह' सहैव तिष्ठन्तावपि 'ब्रह्मचारिणौ' सङ्गमशून्यौ 'भूमौ' पल्यङ्कादि वर्जितशय्यायाम् 'शयीयाताम्' ॥१४॥

भा०:—जिस दिन पहिले विवाह कार्य में प्रवृत्त हो, उस दिन तक पति

और पत्नी दोनों ही क्षार लवण को छोड़, हविष्य भोजन करे, किन्तु ब्रह्मचर्य नष्ट न हो, * और भूमि में शयन करे ॥ १४ ॥

अत्रार्घ्यमित्याहुरागतेष्वित्येके ॥ १५ । १६ ॥

'अत्र' तिसृषु रात्रिषु यस्मिन् कस्मिन्नपि काले यथावसरं कन्यापित्रा वराय 'अर्घ्यं' अर्हणीयवस्तुजातं मधुपर्कादिकम् प्रदातव्यम् 'इत्याहुः' प्राचीनाचार्याः (१५)। 'आगतेषु' वराद्यर्चनीयजनेषु तस्मिन्नेव काले अर्घ्येषु एव अर्घ्यं दानं कर्त्तव्यम् 'इत्येके' नव्याः (१६) ॥ १५, १६ अनयोर्भोजननियमोव्यवस्थाप्यते,–

भा०:–इन तीन दिनों में जिस किसी दिन में, जिस किसी समय हो, कन्या का पिता अपने अवसरानुसार वर की 'मधुपर्क' आदि वस्तुओं से पूजा करे, यही प्राचीन मत है। किन्तु किसी २ का मत है कि जिन लोगों की पूजा करनी हो उनके आने के समय ही करे। इसी को 'अर्घ्यदान' कहते हैं ॥ १५।१६॥

हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीत श्वोभूते वा समशनीयꣳ स्थालीपाकं कुर्व्वीत तस्य देवता अग्निः प्रजापतिर्विश्वेदेवा अनुमतिरित्युद्धृत्य स्थालीपाकं व्यूह्यैकदेशं पाणिनाभिमृशेदन्नपाशेन मणिनेति भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै प्रदाय यथार्थम् ॥ १७–२१ ॥

'हविष्यं' क्षारादिवर्जितम् 'अन्नम्' 'प्रथमं' पत्नीभोजनात् पूर्वं 'परिजपितं' वक्ष्यमाणप्रकारेण विधास्यमानमन्त्रेण च (२० सू०) 'भुञ्जीत' पतिः (१७) 'वा, अथवा 'श्वोभूते' तत्परदिने 'समशनीयं' सम्यग्भोजनयोग्यं 'स्थालीपाकं' स्थाल्यां पक्वमन्नं 'कुर्वीत' (१८)। 'तस्य' अन्नस्य भोजनाय 'अग्निः प्रजापतिः विश्वेदेवाः अनुमतिः'–'इति' इमाः चतस्रो देवताः' स्तुत्याः (१९)। 'स्थालीपाकम्' 'उद्धृत्य' पाकस्थानात् 'एकदेशं' तदीयं किञ्चिदंशं स्वभोजनयोग्यं 'व्यूह्य' पात्रान्तरे निक्षिप्य अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते ॥ ८ ॥ यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु तव ॥९॥ अन्नं प्राणस्य पड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वासौ" ॥१०॥ म० ब्रा० १, ३, ८–१०' 'इति' इमान्मन्त्रान् पठन् 'पाणिना' 'अभिमृशेत्'

---

* कभी जिस कन्या का रजः प्रकाश न हुआ हो ऐसी कन्या गोभिलाचार्य के मत से एवं अन्यान्य सूत्रकार एवं स्मृतिकारादि के मत से भी सम्भोग योग्या नहीं, और इस स्थान में आचार्य ब्रह्मचर्य नष्ट होने के डर से तीन रात में भी सम्भोग निषेध करते हैं। तो इस से भी स्पष्ट प्रकाशित होता है कि रजस्वला होने ही पर कन्या विवाह योग्य उत्तम होती है अन्यथा नहीं ॥

परिवेशयेत् (२०) । ' भुक्त्वा ' स्वभोजनानन्तरम् 'उच्छिष्टं' तत् 'वध्वै' तस्यै 'प्रदाय' 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (२१) ॥ १७—२१ ॥

भा०ः—अब आये हुए नये पति एवं भार्या के भोजन की व्यवस्था कही जाती है ।—पहिला दिन तो 'अघर्या' के आस्वादन में उन की तृप्ति हो सकती, दूसरे दिन वधू अरुन्धती नक्षत्र के देखने पर्यन्त व्याकुल रहेगी, विशेषतः मार्ग में दूसरे के घर पर ऐसी व्याकुलता में पाक की सामग्री होनी भी कठिन होगी; यदि हो तो उसी दिन, अन्यथा, उस के दूसरे दिन प्रभात होने ही से, अपना अच्छे प्रकार भोजन योग्य पाक प्रस्तुत करे । पाक प्रस्तुत होने पर, अग्नि, प्रजापति, विश्वेदेवा, और अनुमति देवता क्रम से आराध्य होंगी । उस के अनन्तर अपने खाने योग्य दूसरे पात्र में ढाल कर 'अन्न पाशेन मणिना' इस मन्त्र को पढ़ कर 'परिवेशन' कर भोजन करे। पीछे खाने पर बचे अन्न वधू को देकर स्वयं यथेच्छ विचरण करे ॥ १७—२१ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २२ ॥ ३

अस्य कर्मणः 'दक्षिणा' 'गौः एकेति ॥ २२ ॥ ३

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम्।२,३

भा०ः—इस विवाह कार्य में दक्षिणा एक गौ देवे ॥ २२ ॥

गोभिलगृह्य सूत्र के द्वितीय अध्याय के तीसरे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,३॥

—:०:—

यानमारोहन्त्याᳬ सुकिᳬ शुकᳬ शाल्मलिमित्येतामृचं जपेत्॥१

'यानं' रथादिकम् 'आरोहन्त्यां' तस्यां वध्वा सुकिᳬ शुकᳬ शल्मलिं विश्वरूपᳬ सुवर्णवर्णᳬ सुकृतᳬ सुचक्रम् । आरोह सूर्ये अमृतस्य नाभिᳬ स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥११॥ (म० ब्रा० १, ३, ११)'—'इत्येताम् ऋचं 'जपेत' पतिरिति शेषः । १

भा०ः—पति के घर जाने के लिये वधू को रथ आदि सवारी पर बिठलावे एवं वधू के चढ़ते समय पति ' सुकिं शुकं शाल्मलिं ' यह मन्त्र पढ़े ॥ १ ॥

अध्वनि चतुष्पथान् प्रतिमन्त्रयेत नदीश्च विषमाणि च महावृक्षाञ्छ्मशानञ्च मा विदन् परिपन्थिन इति ॥२॥

'अध्वनि' पथि 'चतुष्पथान्, नदीश्च' 'विषमाणि च' सङ्कटस्थानानि च, 'महावृक्षान् श्मशानं च' प्राप्य "मा विदन् परिपन्थिनो या आसीदन्ति दम्पती सुगेभि दुर्गमतीता मपद्रान्त्वरातयः" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १२),—'इति

इमं मन्त्रं पठन् 'प्रति' प्रतिवारं यदा यदा उपतिष्ठेत तदा तदैव 'मन्त्रयेत' मननमीश्वरचिन्तनं कुर्यात् । २

भा०:–मार्ग में चौराहा नदी, या किसी प्रकार का सङ्कट स्थान, बड़ा वृक्ष, और श्मशान, जब २ मिले तब २ 'मा विदन् परिपन्थिनो' इस मन्त्र को पढ़ते हुए ईश्वर का चिन्तन करे ॥ २ ॥

अक्षभङ्गे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यासु चापत्सु, यमेवाग्निᳪं हरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वान्यद्द्रव्य माहृत्य यऋतेचिदभिश्रिषइत्याज्यशेषेणाभ्यञ्ज्यात् ॥ ३

'अक्षभङ्गे' रथचक्रे भग्ने, 'नद्धविमोक्षे' नद्धात् प्रच्युतेऽश्वादौ 'यानविपर्यासे' वाहनदौरात्म्येन रथस्य पश्चात् पार्श्वयोर्वा गमने सति, 'च' अपि 'अन्यासु आपत्सु' समापतितासु किंकर्त्तव्यमित्याह;–तदा 'यमेवाग्निं' लौकिकमलौकिकं (१, १, १५–१९ सू०) वा 'हरन्ति' आहरन्ति विपत्पातदर्शनसञ्जातादयः स्वजनाः पान्थास्तद्ग्राम्या वा 'तमेव, अग्निम् 'उप' समीपे 'समाधाय' सम्यक् प्रज्वाल्य तत्रैवाग्नौ 'व्याहृतिभिः' तिसृभिः आज्यतन्त्रेण 'हुत्वा' ततः 'अन्यद्रव्यं' अन्यचक्रादिकं यानान्तरं वा 'आहृत्य' समीपतो यथालभ्यं संगृह्य 'यऋतेचिदभिश्रिषे (सा० छ० आ० ३, २, १, २)'–'इति' ऋङ्मूलकं साम (गे० गा० ६, २, २२) गायन् [अनादिष्टपरिभाषयात्र साम्न एव बोधः सूत्रे ऋगादिपदानुल्लेखात्] 'आज्यशेषेण' हुतावशिष्टेनाज्येन तं चक्रादिकं यथास्थानं 'अभ्यञ्ज्यात्' म्रक्षयेत् ॥ ३ ॥

भा०:–यदि मार्ग में रथ का पहिया टूट जावे, या रथ हांकने वाला रथ से गिर जावे, या मार्ग से भिन्न, या पीछे रथ को गिरा देवे, तो इस से अशुभ होने का सन्देह करके, इस दोष की शान्ति के लिये उसी स्थान में अग्नि स्थापन कर तीन महाव्याहृति का पाठ कर आहुति देवे। यह अग्नि पूर्वोक्त विधानानुसार (प्र० १ खं० १ सू० १५–१९) संगृहीत करने से अच्छा होगा। यदि किसी कारण ऐसा न हो, तो चाहे जिस प्रकार का हो, क्षति नहीं। पीछे पहिया, या दूसरी सवारी मिलने पर 'य ऋतेचिदभिश्रिषे (सा० छ० आ० ३, २, १, २)' ऋङ्मूलकसाम (गे०गा० ६, २, २२) गान करके होमावशिष्ट घृत, उस चक्रादिक के उचित स्थान में लगा देवे ॥ ३ ॥

वामदेव्यं गीत्वाऽऽरोहेत् प्राप्तेषु वामदेव्यम् ॥ ४, ५ ॥

ततः वामदेव्यं वामदेव्यनामकं साम 'गीत्वा' 'आरोहेत्' पुनरपि रथादि यानं, पतिः वधूसहितः(४)।'प्राप्तेषु'स्वगृहेषु पुनरपि 'वामदेव्यं' गायेदितिशेषः॥४,५॥

भा०—सवारी के दोष दूर होने और दूसरी सवारी आ जाने पर। उस में वधू सहित पति के उठते समय 'वामदेव्य सामगान' करे और पीछे अपने २ घर आने पर सवारी से उतरते समय भी 'वामदेव्य' गान करे ॥ ४, ५ ॥

गृहगतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरोप्यानडुहे चर्मण्युपवेशयन्तीह गावःप्रजायध्वमिति तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युस्तस्मै शकलोटानञ्जलावावपेयुः फलानि वा॥६-९॥

ततः 'गृहागतां' पतिभवनद्वारोपनीयां तां वधूं 'पतिपुत्र-शीलसम्पन्नाः' 'ब्राह्मण्यः' तस्मात् यानात् 'अवरोप्य' अवतार्य 'आनडुहे चर्मणि'पातितगोचर्मोपरि "इह गावः प्रजायध्व मिहाश्व इह पूरुषः। इहो सहस्र दक्षिणोपि पूषा निषीदतु" ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ३, १३)'—'इति' मन्त्रं पठन्त्याः ताएव तां तत्र 'उपवेशयन्ति' (६)। तस्याः' 'उपस्थे' क्रोडे ताएव ब्राह्मण्यः 'कुमारम्' यं कमपि 'आदध्युः' स्थापयेयुः (७)। 'तस्मै' कुमाराय क्रीडार्थं 'शकलोटान्' कर्द्दमनिर्मितसुपक्वगोलकान् क्रीडनकान् 'अञ्जलौ' 'आवपेयुः' प्रदद्युः (८)। 'वा' अथवा 'फलानि' आम्रादीनि आवपेयुरित्येव (९) ॥ ६—९ ॥

भा०—इस के बाद पति के घर के द्वार पर लायी हुई उस वधू को, पति पुत्र वाली और शील सम्पन्ना ब्राह्मणीगण, सवारी से उतार कर 'इह गावः प्रजायध्वं' इस मन्त्र को पढ़ कर बिछाए हुए गो-चर्म के ऊपर उसे बिठलावे। ६। उस वधू के गोद में उन्हीं ब्राह्मणी गण में से, कोई एक हो, एक लड़के को अर्पण करे। ७। और उस बालक की अञ्जुलि में कई एक मट्टी का बना सुन्दर अग्निपक्व (गेन्द के समान) खेलने के लिये देवे। ८। या खाने के लिये आम्र आदि मधुर फल भी दे सकते हैं। ९। ६—९ ॥

उत्थाप्य कुमारं ध्रुवा आज्याहुतीर्जुहोत्यष्टाविह धृतिरिति॥१०

ततश्च तस्याः उत्सङ्गतः 'कुमारं' पूर्वदत्तम् 'उत्थाप्य' 'ध्रुवाः' ध्रुवनामतः प्रसिद्धाः 'अष्टौ' सङ्ख्याकाः 'आज्याहुतीः' आज्यतन्त्रेण आहुतीः "इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्ति रिह रमस्व मयि धृतिर्मयि स्वधृतिर्मयि रमो मयि रमस्व ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १, ४)'—'इति' एतत्प्रभृतिभिरष्टाभिर्यजुर्भिः यथाक्रमतः जुहोति' जुहुयात् पतिः ॥ १०

भा०—पश्चात्, पति उस वधू के गोद में दिये हुए बालक को उठा कर 'इहधृति' प्रभृति आठ यजुर्वेद के मन्त्रद्वारा ध्रुव नाम से प्रसिद्ध आठ आहुति, आज्य तन्त्र से प्रदान करे ॥ १० ॥

समाप्तासु समिधमाधाय यथावयसं गुरून् गोत्रेणाभि-वाद्य यथार्थम् ॥ ११ ॥ ४

'समाप्तासु' ध्रुवाहुतिषु 'समिधम्' तत्राग्नौ अमन्त्रकमेव 'आधाय' प्रदाय 'यथावयसं' वयोऽनुसारेणोत्तरोत्तरं गुरून् मान्यान् तत्रोपस्थितान् 'गोत्रेण' गोत्रोच्चारणपूर्वकम् 'अभिवाद्य' पादग्रहणेनप्रणम्य 'यथार्थम्' स्वप्रयोजनानुसारतो-विहरेत् ११ । ४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२,४

भा०—उक्त ध्रुवाहुति पूरी होने पर, उसी अग्नि में विना मन्त्र पढ़े एक समिधा डालकर पश्चात् उस स्थान में उपस्थित गुरु गण (मान्य लोगों) के वयसानुसार अर्थात् बड़ी उमर वाले पहिले, पीछे छोटी उमर वाले को इस क्रमसे पैर पकड़ २ कर अभिवादन करे और साथ २ अपना गोत्रभी कहता जावे ॥११॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेद्वितीयअध्यायकेचतुर्थखण्डकाभाषानुवादपूराहुआ २, ४ ।

—:o:—

अथातश्चतुर्थीकर्म्म ॥ १ ॥

'अथ' अनन्तरम्, 'अतः' इतआरभ्य 'चतुर्थीकर्म्म' विवाहरात्रितः चतुर्थ्यां तिथौ करणीयम् वक्ष्मीति शेषः ॥ १ ॥

भा०—इसी प्रकार विवाह की रात्रि से तीन रात्रि बीतने पर चतुर्थ दिन में जो २ कार्य करने होंगे उन्हीं का वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोत्यग्ने प्राय-श्चित्त इति चतुरग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्याः समस्य पञ्चमीं बहुवदूह्याहुतेराहुतेः स्रुवसम्पातमुदपात्रेऽवनयेत्तेनैनाꣳसकेशनखामभ्यज्य ह्रासयित्वा प्लावयन्ति ॥ २-६ ॥

'अग्निम्' 'उपसमाधाय' "अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याःपापी लक्ष्मी स्तामस्या अपजहि ॥१॥ वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या पतिघ्नी तनूस्ता मस्यां अपजहि ॥२॥ चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यातनूस्ता मस्या

अपजहि ॥ ३ ॥ सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपशव्या तनूस्ता मस्या अपजहि ॥ ४ ॥ अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीर्या पतिघ्नी या पुत्र्या या पाशव्या ता अस्या अपहत" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ४ १)'—'इति' एभिर्मन्त्रैः पतिः 'चतुः' सङ्ख्याः प्रायश्चित्ताहुतीः' प्रायश्चित्ताय वधूपापप्रशमनाय आज्यतन्त्रेण आहुतीः 'जुहोति' जुहुयात् (२)। तत्र च द्वितीयादिषु तिसृष्वाहुतिषु 'अग्ने'—इति पदस्य स्थाने क्रमेण 'वायुचन्द्रसूर्याः' ऊह्याः (३)। किञ्च 'पञ्चमीम्' 'समस्य' सर्वस्य आहुतीम् अग्न्यादिपदचतुष्टयस्य मेलनेन 'अग्निवायुचन्द्रसूर्याः'—इत्येवं सम्बुध्य अपिच 'बहुवद् ऊह्य' एकवचनस्थाने बहुवचनप्रयोगेण मन्त्रपाठं विपरिणमय्य जुहुयादित्येव (४)। 'आहुतेराहुतेः' प्रत्याहुतेरेव 'स्रुवसम्पातं' अवशिष्ट घृतधाराम् 'उदपात्रे' चमसे 'अवनयेत्' स्थापयेत् (५)। 'तेन' रक्षितसम्पातसमुदायेन 'एनां' वधूं 'सकेशनखां' आपादमस्तकां सर्वतएव 'अभ्यज्य' म्रक्षयित्वा 'ह्रासयित्वा' यानागमनादिजनितक्लेशान् शरीर व्यथारूपान् लाघवयित्वा 'आप्लावयन्ति, प्रवाहादिषु सन्तरणादिना स्नापयेयुः सख्यादयः स्वजना इति यावत् (६ ॥ २–६ चतुर्थीरात्रिकर्त्तव्यं गर्भाधानमाह;—

भा०—पति, पत्नीके पूर्वकृत पाप के प्रायश्चित्त के लिये अग्नि स्थापन कर 'अग्नेप्रायश्चित्ते' इन मन्त्रों द्वारा आज्य तन्त्र से चार आहुति देवे (२) उनमें से द्वितीय आदि आहुति में इस मन्त्रस्थ अग्नि के बदले 'वायु' 'चन्द्र' और 'सूर्य' पढ़ना चाहिये, यही इसमें विशेषता है ।३। और पांचवी आहुती में 'अग्नि', 'वायु', 'चन्द्र' और 'सूर्य' इन्हीं चार देवताओं को एककाल में सम्बोधन करे, सुतरां मन्त्रस्थ जितने एक वचन हैं, उन सब को बहु वचन करके पढ़े । ४ । इन पांच प्रायश्चित्त आहुति की प्रत्येक आहुति के अन्त में घृत के धारणापात क्रमसे चम से में रक्षित रक्खे ।५। इस रक्षित आज्य के द्वारा उस वधू के पैर से मस्तक तक सर्वाङ्ग में अच्छे प्रकार लगा देवे, उस से मार्ग की थकावट दूर होगी, पीछे सखी आदि मिल कर नदी आदि की धारा में तैरने रूप जल क्रीड़ा आदि करके नई बहू को स्नान करावे ॥ ६ ॥ २–६ ॥ इस के अनन्तर चतुर्थी रात्रि में कर्त्तव्य गर्भाधान की व्यवस्था कही जाती है ॥

ऊर्द्धं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके यदर्त्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः ॥ ७, ८ ॥

'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्प्रदानरात्रितः त्रिरात्रेऽतीते ' सम्भवः ' सम्भवति गर्भोऽस्मादिति सम्भवः सङ्गमः 'इति' एवम् 'एके' केचिदाचार्याः आहुः । एवञ्च विवाहात् प्राग् दृष्टरजस्कायाः ऋतुमत्या नवोढायाः पतिगृहे आद्यर्त्तुप्रकाशमनपेक्ष्यैव तस्यां चतुर्थ्यामेव रात्रौ गर्भाधानाय सङ्गमः कार्यः इत्येव केषाञ्चिदाचार्याणां मतम् (७) गोभिलस्य स्वमते तु,—नवोढा पत्नी पतिगृहं समागत्य 'यदा' पुनः 'ऋतुमती' सती 'उपरत—शोणिता' शोणितवेगप्रवाहशून्या 'भवति' भवेत् 'तदा' तस्मिनेव पतिगृहागताद्यर्त्तुकाले सम्भवकालः * (८)॥ इति गतं चतुर्थीकर्म, समाप्तञ्च विवाहप्रकरणम्, निर्णीतश्चाद्यगर्भाधानकालः ॥ ७, ८ गर्भाधानप्रकारमाह;—

भा०:—'सम्प्रादन रात्रि से तीन रात्रि ब्रह्मचर्य्य में व्यतीत कर' उस के अनन्तर चतुर्थ रात्रि में स्त्री प्रसङ्ग करे—यही कई एक आचार्यों का मत है। इस से उन लोगों के मत में विवाह के पूर्व ही दृष्ट रजस्का,ऋतुमती नवोढ़ा के गर्भाधान पक्ष में, पुनः पति के घर में ऋतु—प्रकाश की अपेक्षा नहीं ॥ ७ ॥ किन्तु गोभिलाचार्य का यह स्वकीय मत नहीं है; इन के मत से नवोढ़ा पत्नी, तपि के घर पर आने से पुनः ऋतुमती होने पर जिस समय उस का शोणित वेग (मासिकधर्म) न्यून होगा, वही पति के घर पर प्रकाशित आद्य ऋतु प्रथम सङ्गम काल होगा ॥७।८॥ चतुर्थी कर्म शेष हुआ और विवाह प्रकरण भी पूरा हुआ॥

दक्षिणेन पाणिनोपस्थमभिमृशेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्येतयर्चागर्भन्धेहिसिनीवालीतिचसमाप्यर्चौसम्भवतः।९,१०।५

प्रथमतः पतिः "विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते" ॥६॥ (मं० ब्रा० १ । ४ । ६) 'इत्येतयर्चा, "गर्भन्धेहि सिनीवालि गर्भन्धेहि सरस्वति। गर्भन्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ" ॥७॥ (म० ब्रा० १, ४, ७)'—(म० ब्रा०१, ४७)'—'इति च मन्त्राभ्यां स्वकीयेन 'दक्षिणेन हस्तेन' उपस्थं' पत्न्याः प्रजननदेशम् 'अभिमृशेत्' (९)। 'ऋचौ' पूर्वोक्ते 'समाप्य' पाठेन मननेन अभिमर्शनफलदर्शनेन च ततः 'सम्भवतः' मिथः सङ्गमं कुरुतः दम्पतीति (१०)। गतं गर्भाधानम् ॥ ९,१० ॥ ५

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेपञ्चमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२,५

भा०:—पहिले पति, "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" ऋक् एवं 'गर्भंधेहि सिनीवालि' ' यह ' ऋकि पाठ कर पत्नि की योनि प्रदेश मार्जन करे। इन्हीं दो

* अतएव वक्ष्यति तृतीयं "मातुरसपिण्डानग्निका तु श्रेष्ठा,,—इति दारकर्मणि अनग्निकाया एव प्राशस्त्यम्। परिशिष्टे च "ऋतुमतीं त्वनग्निकां तां प्रयच्छेत्त्वनग्निकाम्,,—इति स्फुटम् ॥

ऋचाओं का पठन, मनन और उस के साथ अभिमर्शन फल दर्शन होने पर दोनों सङ्गम करें * ॥ १० ॥

गोभिलगृहसूत्र के द्वितीय अध्याय के पांचमे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ।२,५।

—:०:—

तृतीयस्य गर्भमासस्यादिसदेशे पुंसवनस्य कालः ॥१

'गर्भमासस्य तृतीयस्य' गर्भमाससम्बन्धितृतीयस्य मासस्य 'आदिसदेशे' आद्यर्द्धस्य प्रथमपक्षस्येति यावत् सदेशे समीपे अष्टम्यभ्यन्तरे एव व्यवहारः 'पुंसवनस्य' संस्कारविशेषस्य 'कालः' ज्ञातव्यइति शेषः। १ पुंसवनप्रकारमाह;–

भा०:–जिस मास में गर्भाधान हो, उस मास से तीसरे मास के आदि पक्ष के निकट ही अर्थात् अष्टमीके भीतर पुंसवन नामक संस्कार काल जानो ॥१॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंसमन्ववमृश्यानन्तर्हितं नाभिदेशमभिमृशेत् पुमांसौ मित्रावरुणावित्येतयर्चाथ यथार्थम् ॥२–४॥

'प्रातः' समये 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उपनीता वधूः 'सशिरस्का आप्लुता' शिरः प्रभृतिसर्वाङ्गजलसिक्ता स्नाता सती 'अग्नेः' 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि तथैव 'प्रागग्रेषु' दर्भेषु पातितेषु उपरि 'प्राची प्राङ्मुखी पुरतोऽग्निं कृत्वेति फलितम् 'उपविशति' उपविशेत् (२)। ततः पश्चात् 'पतिः' 'अवस्थाय' तां वधूं क्रोड़ी कृत्येति यावत्, 'दक्षिणेन पाणिना' तस्याएव वध्वाः 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्ववमृश्य' किञ्चिदुत्तानायथास्यात्तथा पश्चादाकृष्य "पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ। पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे" ॥८॥ (म०ब्रा०१,४,८)'–'इति एतया ऋचा' स्मर्त्तव्यं देव संस्मरन् तस्याएव 'नाभिदेशम्' 'अनन्तर्हितं' वस्त्राद्यावरणशून्यं प्रकृत्य 'अभिमृशेत्' विशेषेण स्पृशेत्, शेषेण सव्येनैव हस्तेनेति गम्यते (३)। अथ तदनन्तरं 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् सः (४) ॥ २–४

भा०:–प्रातःकाल उत्तराग्र कुशासन पर उस तीन मास की गर्भवाली वधू को बैठावें एवं मस्तक आदि सर्व शरीर जल में आप्लुत कर अग्नि के पश्चिम ओर डाले हुए उत्तराग्र कुश के आसन पर बैठावे, और उस के पीठ की

* यह गर्भाधान संस्कार आश्वलायन, आपस्तम्ब, कात्यायन प्रभृति गृह्यसूत्र कारों के मत से ऋतु मती कन्या के विवाह के पीछे चौथी रात्रि में भी हो सकता है। परन्तु गोभिलाचार्य के मत से वैसी कन्या के विवाह के पीछे पति के घर फिर रजोदर्शन होने पर, उसी आद्य ऋतु अनिषिद्ध काल में कर्त्तव्य है। गर्भ ग्रहण काल मालूम हो जाने पर प्रतिगर्भ के आधान काल में यह संस्कार करे, अन्ततः पति के घर पहिले रजोदर्शन में तो अवश्य करे।

ओर अर्थात् उस को गोद में लेकर पति भी बैठे। उस के अनन्तर दहिने हाथ से वधू के दक्षिण कांधा अपने गोद की ओर कुछ, ऊपर को खींचकर रक्खे, और बायें हाथ से उस के कंधनी को खोल कर उस के नाभि प्रदेश को अच्छे प्रकार स्पर्श करे और छूते समय 'पुमां सौ मित्रा वरुणौ, इस ऋङ्मन्त्र से स्मरणीय देवताका स्मरण करे। उसके बाद स्वेच्छया विहरे॥२–४॥

अथापरम् ॥ ५

'अथ' तत्कार्य्यानन्तरम् 'अपरम्' अपि एकमस्ति कार्यं पुंसवनस्येति। तदपि पूर्वोक्तकालाभ्यन्तरे [सू० १] एव कर्त्तव्यं परं यस्मिन् दिने नाभिमर्शनं कृतं तस्मिन्नेव, तत्परदिने, तत्पर परदिने वेति नायं नियमः। ५। किन्तदपरं कार्यमिति स्फुटयति,–

भा०:–इस नाभिमर्शन कार्य्य के पीछे पुंसवन संस्कार करने में एक कार्य्य होताहै वह भी पूर्वोक्त ही कालमें होगा। (सू०१) किन्तु जिस दिन नाभि–मर्शन हो उसी दिन, या उस के दूसरे तीसरे दिन करे इस का नियम नहीं ॥ ५ ॥

प्रागुदीच्यां दिशि न्यग्रोधशुङ्गामुभयतःफलामस्रामामकृमिपरिसृप्तां त्रिःसप्तैर्यवैर्माषैर्वा परिक्रीयोत्थापयेद्यद्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि विश्वेभ्योदेवेभ्यो विश्वेभ्योदेवेभ्यस्त्वा परिक्रीणाम्योषधयः सुमनसो भूत्वाऽस्यां वीर्य्यं समाधत्तेयं कर्म करिष्यतीत्युत्थाप्य तृणैःपरिधायाहृत्यवैहायसींनिदध्याद्दृषदंप्रक्षाल्य ब्रह्मचारी व्रतवती वा ब्रह्मबन्धूः कुमारी वाऽप्रत्या हरन्ती पिनष्टि प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुताग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्ने रुदगग्रेषु दर्भेषु प्राक्शिराः संविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य दक्षिणे नासिकास्रोतस्यवनयेत् पुमानग्निः पुमानिन्द्र इत्येतयर्चाथ यथार्थम् ॥ ६–१२ ॥ ६

'प्रागुदीच्यां' ऐशान्यां दिशि सञ्जातां 'न्यग्रोधशुङ्गां' न्यग्रोधस्य वटस्य शुङ्गां अस्फुटितपत्रमिति यावत् 'त्रिः सप्तैः यवैर्माषैर्वा' एकविंशतिमाषान् एकविंशतियवान् वा वृक्षस्वामिने मूल्यं दत्त्वा तत्सकाशात् 'परिक्रीय' 'उत्थापयेत्'। शुङ्गां विशिनष्टि—'उभयतः फलाम्' यस्या उभयोः पार्श्वयोरेव फले विद्येते तादृशीं; किञ्च 'अस्रामाम्' अम्लानाम्, किञ्च ' अकृमिपरिसृप्तां' कृमिभिः पत्रकीटैः परिसृप्ता परिव्याप्ता, अतादृशीम् (६)। तत्परिक्रयणमन्त्राः सप्त । तानाह;—हे शुङ्गे ! त्वं यदि 'सौमी' सोमदेवतायाः प्रिया 'असि' तर्हि 'सोमाय राज्ञे' सोमराजप्रीत्यर्थमेव 'त्वा' त्वां 'परिक्रीणामि' १। त्वं 'यदि' 'वारुणी' वरुणदेवतायाः प्रिया 'असि' तर्हि तस्मै 'वरुणाय राज्ञे' एव 'त्वा' परिक्रीणामि २। त्वं 'यदि' 'वसुभ्यः' वस्वष्टकानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'वसुभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ३। त्वं 'यदि' 'रुद्रेभ्यः' रुद्राणामेकादशानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'रुद्रेभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ४। त्वं 'यदि' 'आदित्येभ्यः' द्वादशादित्यानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'आदित्येभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ५। त्वं 'यदि' 'मरुद्भ्यः' एकोनपञ्चाशतां मरुतां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'मरुद्भ्यः एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ६। 'यदि' 'विश्वेभ्योदेवेभ्यः' सर्वदेवप्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'विश्वेभ्योदेवेभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ७। इति सप्त परिक्रयणमन्त्राः (७)। अथोत्थापनमन्त्रः ;—हे 'ओषधयः'! यूयं 'सुमनसः' प्रसन्नाः सन्तः 'अस्यां' वध्वां 'वीर्यं समाधत्त' वीर्यसमाधानं कुरुत, किन्निमित्तमित्याह—' इयं ' वधूः ' कर्म ' गर्भप्रसवनं 'करिष्यति' तत एव वीर्यस्य प्रयोजनम्; 'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'उत्थाप्य' ताः 'तृणैः' यथालब्धैः 'परिधाय' वेष्टयित्वा 'वैहायसीं' आकाशसम्बन्धिनीं लताममरवेलेति प्रसिद्धाम् ' आहृत्य ' तदुपरि ' निदध्यात् ' स्थापयेत् (८)। ततश्च 'दृषदं' शिलापट्टकं 'प्रक्षाल्य' अपरवस्तुकणासंसर्गं यथा न स्यात् प्रक्षालनेनैवं विधाय तत्र 'ब्रह्मचारी' ऋतावन्यत्र स्वभार्यायामपि यो न सङ्गच्छते सः, 'व्रतवती वा' पातिव्रत्यं व्रतं यया पाल्यते विशेषेण सा, 'ब्रह्मबन्धूः' ब्राह्मणजातीया 'कुमारी वा' अनूढा ब्राह्मणकन्येति यावत् 'अप्रत्याहरन्ती' प्रत्याहारस्त्यागस्तमकुर्वन्ती अविश्रामेणैव झटित्येवेति यावत् अन्यथा वाय्वादियोगात् ओषधिवीर्यं नष्टं स्यादेव 'पिनष्टि' पेषणं कुर्यात्, ताः शुङ्गाः इत्यर्थादागतम् उपलेनेति च (९)। ततश्च 'प्राक्' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उपस्थिता सा वधूः 'सशिरस्का आप्लुता' सती, 'अग्नेः' 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रेषु दर्भेषु' पातितेषु 'प्राक्शिराः' पूर्वदिग्गतमस्तका भवन्ती 'संविशति' संवेशनमङ्गशयनमिश्रोपवेशनं कुर्यात्

(१०)। ततः 'पश्चात्' पतिः 'अवस्थाय' 'दक्षिणस्य पाणेः' 'अङ्गुष्ठेन' 'उपकनिष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या' अङ्गुष्ठानामिकाभ्यामिति यावत् 'अभि' अभितः सर्वतोव्याप्य 'संगृह्य' तत् पिष्टशुङ्गारसं तस्या वध्वाः 'दक्षिणे' 'नासिकास्रोतसि' नासिकारन्ध्रे 'अवनयेत्' अवक्षिपेत आघ्रापयेद्वा; "पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः।पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्"॥९॥ (म० ब्रा० १, ४, ९)—'इति' एतया ऋचा' इष्टं संस्मरन्निति शेषः (११)। अथ अनन्तरं 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः(१२)॥गतमिदं पुंसवनकर्म॥ ६-१२॥ ६ इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२,६

भा०:—ईशान कोण में जो कोई बड़ का वृक्ष हो, उस से शुङ्ग, वृक्ष के स्वामी को २१ यव, या २१ उड़द मूल्य देकर (खरीद कर) उसे तोड़े। इस शुङ्ग के दोनों ओर फल होना चाहिये, वह सूखा न हो और उस में कीड़े लगे न हों। ६। इस शुङ्ग के मोल लेते समय ७ मन्त्रों का पाठ करे जैसे; हे शुङ्गे! तुम यदि सोम देवता का प्रिय हो, तो उस राजा की प्रीति के लिये ही तुम को मोल लेता हूं। १। तुम यदि राजा वरुण देवता का प्रिय हो, तो उसी वरुण राजा के प्रीत्यर्थ तुझे मोल लेता हूं ॥२॥ तुम यदि आठो वसु का प्रिय हो, तो उन्हीं वसुओं की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं। ३। यदि एकादश रुद्रगण का प्रिय हो, तो उन्हीं ग्यारह रुद्रों के प्रीत्यर्थ तुझे मोल लेता हूं। ४। 'यदि तुम वारह आदित्य गण के प्रिय हो, तो उन्हीं वारह आदित्य गण की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं। ५। 'यदि तुभ ४९ मरुद् गण का प्रिय हो, तो उन्हीं ४९ मरुद्गण की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं ॥ ६॥ 'यदि तुम विश्वे देवा देवगण का प्रिय हो, तो उन्हीं विश्वेदेवा गण की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं" ॥ ७॥ तत्पश्चात् इन मन्त्रों को पढ़ कर उस शुङ्ग को वृक्ष से उखाड़, या तोड़ लेवे यह कह कर कि हे ओषधि गण! तुक सब प्रसन्न होकर इस वधू में वीर्य्य साधन करो, जिस्से यह वधू कष्ट रहित होकर गर्भ प्रसव करे उस। उखाड़े हुए शुङ्ग को तृण से ढाक कर अमरवेल, या सूक्ष्म जटामांसी संग्रह कर इस की रक्षा करे ॥ ८॥ अनन्तर शिल (पेषणाधारशिला) को अच्छे प्रकार धोकर उस में कोई ब्रह्मचारी (जो गृही ऋतु काल ही में अपनी भार्य्या के पास गमन करता हो, ऐसे गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी कहते हैं) या कोई पति व्रता, या ब्राह्मण वंश की कोई कुमारी, उसे अविश्राम हो पीसे। अर्थात् पीसते समय ही ओषधि का सब गन्ध हवा द्वारा खीच न जावे इस लिये शीघ्र पीस

लेवे। प्रातःकाल वधू उत्तराग्र कुशाओं पर बैठ कर माथे तक जल में गोता लगा स्नान कर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराग्र डाले हुए कुशासन पर पूर्व की ओर शिर कर आधा सोवे (जागता हुआ लेटा रहा) ॥१०॥ पति उस के पीछे रह कर अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुलि द्वारा पीसा हुआ शुङ्ग लेकर उस के दहिने नाक के छिद्र में उस का रस डाले, या सूंघावे। उसी समय "पुमानग्निः पुमानिन्द्रः" इस मन्त्र का पाठ करते हुए पति अपने इष्ट का स्मरण करे। (११) अनन्तर जहां इच्छा हो भ्रमण करे यही पुंसवन कर्म्म है ॥६-१२। ६॥ गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के छठे खण्ड का भावानुवाद पूरा हुआ॥२,६॥

अथ सीमन्तकरणम् ॥ १

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति। 'सीमन्तकरणम्' नाम कर्म, संस्कारविशेषः। तदधिकृत्य वक्ष्यतीति।१। तस्य कालं विधत्ते;—

भा०:—अब 'सीमन्तोन्नयन' नामक संस्कार का वर्णन किया जाता है॥१॥

प्रथमगर्भे चतुर्थे मासि षष्ठेऽष्टमे वा ॥२॥

'प्रथमे गर्भे' एष हि संस्कारः प्रथमे एव गर्भे कार्यः न तु प्रतिगर्भम्। तत्र च 'चतुर्थे षष्ठे अष्टमे वा मासि' कुर्यादितितत्कालविधिः।२ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते

भा०:—यह सीमन्तोन्नयन संस्कार केवल प्रथम गर्भाधान समय कर्त्तव्य है इसे प्रति गर्भाधान में करना ठीक नहीं। इस का समय चौथा 'छठा' या आठवां मास है ॥ २ ॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय युग्मन्तमौदुम्बरꣳशलाटुग्रथनमाबध्नाति अयमूर्ज्जावतो वृक्ष इत्यथ सीमन्तमूर्द्ध्वमुन्नयति भूरिति दर्भपिञ्जूलीभिरेव प्रथमं भुवरिति द्वितीयꣳ स्वरिति तृतीयमथ वीरतरेण येनादितेरित्येतयर्चाऽथ पूर्णचात्रेण राकामहमित्येतयर्चा त्रिश्वेतया च शलल्या यास्ते राके सुमतय इति कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृत स्तमवेक्षयेत् किम्पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् तं सा स्वयं भुञ्जीत वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्याभिर्वाग्भिरुपासीरन् ॥ ३–१२ ॥

'प्रातः' पूर्वाह्ने, 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उत्तराग्रीकृतपातितकुशासने उपविष्टा सती 'सशिरस्का आप्लुता' स्नाता भवती 'अग्नेः पश्चात्' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राची' प्राङ्मुखी 'उपविशति' (३)। 'पतिः' तस्या वध्वाः 'पश्चात्' 'अवस्थाय' 'युग्मन्तम्' युग्मानि फलानि यस्मिन् तादृशम् 'औदुम्बरम्' उदुम्बरगुच्छं शलाटुग्रथनम्' शलाटुनामफलविशेषस्य स्तवकञ्च "अय मूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव। पर्णं वनस्पतेऽनुत्वानुत्वा सूयताᳬंरयिः" ॥१॥ (म० ब्रा० १, ५, १) ,इति' इमं मन्त्रमुच्चरन् 'आबध्नाति' वध्वाः मस्तके कण्ठे बाहौ कट्यां नाभौ अङ्गुले वेति न नियमः (४)। 'अथ' अनन्तरम्। 'सीमन्तम्' केशरचनाविशेषम् 'ऊर्द्ध्वम् उन्नयति' उन्नयेत् पतिरेव। तत्र 'दर्भपिञ्जूलीभिः' शुष्कैः गर्भसारैश्च कुशसमूहैः 'भूः'—'इति' मन्त्रेण 'प्रथमम्' उन्नयनम्; 'भुवः'—'इति' मन्त्रेण 'द्वितीयम्' उन्नयनम्, 'स्वः'—'इति' मन्त्रेण तृतीयम्' उन्नयनम्' (५)। 'वीरतरेण' शरतृणविशेषेण "येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदृष्टिं कृणोमि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ५,२)'—'इत्येतया ऋचा' च सीमन्तमूर्द्ध्वमुन्नयति पतिः (६)। 'अथ' तदनन्तरम् "राकामहᳬं सुहवां सुष्टुतीहुवे शृणुत नः सुभगा बोधतु आत्मना। सीव्यत्वपः सूच्या च्छिद्यमानया ददातु वीरᳬं शतदायमुक्थ्यम्" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ३)'—'इत्येतया ऋचा' 'पूर्णचात्रेण' सूत्रपूर्णतर्कुणा सीमन्तोन्नयनम् (७)। 'च' किञ्च "यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि। ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्र पोषᳬंसुभगे रराणा" ॥४॥ (म०ब्रा०१,५,४)'—'इति' मन्त्रं पठन् पतिः 'त्रिश्वेतया' त्रिषुस्थानेषु श्वेतवर्णया 'शलल्या' शल्लकीकण्टकेन सीमन्तमूर्द्ध्वमुन्नयेत् (८)। ततश्च; 'स्थालीपाकः' स्थाल्यां पक्वः 'उत्तरघृतः' पाकान्ते घृतमिश्रितः 'कृसरः' तिलतण्डुलसमूहः 'कृसरः' इति कृसरलक्षणम्; 'तम्' तादृशं कृसरम् 'अवेक्षयेत्' दर्शयेत् पत्नीं पतिरिति (९)। यदा सा तं पश्यति, तदैव पतिः पृच्छेत् 'किम् पश्यसि ?—इति' 'उक्ता' पतिनैवं पृष्टा सा, "(किं पश्यसि ?)—प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ५, ५)'—'इति' इमं मन्त्रं 'वाचयेत्' पत्नीं पतिः (१०)। 'तं' कृसरं 'सा' वधूः 'स्वयं भुञ्जीत' (११)। तस्मिन्नेव भोजनकाले 'ब्राह्मण्यः' 'वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नी'—'इति' एवमादिभिः 'मङ्गल्याभिर्गीर्भिः' आशीर्वाक्यैः 'उपासीरन्' ईश्वरमिति शेषः (१२)। इति सीमन्तोन्नयनम्। ३-१२ ॥

भा०—अब सीमन्तोन्नयन संस्कार का विधि कहा जाता है, प्रातःकाल उत्तराग्र बिछाये हुए कुश के आसन पर वधू को बैठा कर माथे तक भिंगोकर

स्नान करावे। पीछे अग्नि के पश्चिम भाग में बिछाये हुये उत्तराग्र (उत्तर की ओर कुश की चोटी एवं दक्षिण की ओर उस की जड़) कुशासन पर पूर्वाभिमुख उसे बैठावे, पति भी उस के पीछे रहे। अनन्तर यज्ञ गूलर (उदुम्बर) का गुच्छा और एक शलाटुका, उस वधू के अञ्चल में, या शरीर के जिस किसी बान्धने योग्य (कटिके ऊपर) अङ्ग में बान्ध देवे। दोनों गुच्छाओं के बांधते समय 'अयमूर्ज्जावतो वृक्षः, इस मन्त्र का पाठ करे। उस के पश्चात् सारगर्भ सूखा कुशा समूल निर्म्मित पिञ्जूलि से उस वधू का केश सम्हारे 'भूः' इस मन्त्र से प्रथम वार, भवः' मन्त्र से द्वितीयवार और 'स्वः' मन्त्र से तृतीय वार सीमन्त के केश आदि पिञ्जूलि द्वारा बढ़ा देवे। 'येनादिते' इस मन्त्र का पाठ करता हुआ जिस 'शर' का बाण तैयार होता हो उसी शर से सीमन्त को बीच से चोड़ कर शोभायमान करे। 'राकामहम्' इस मन्त्र का पाठ करके जिस स्याही (शल्ल की जन्तु) के कांटे में तीन स्थान श्वेत हों ऐसे कांटे से छोटे २ केशों को ऊपर को उठा देवे। उस के अनन्तर घृत संवरा देकर आग का पका तिल तण्डुल उसे देखावे और उस के दर्शन समय उसे पति पूछे कि 'तुम उस में क्या देखती हो ?, इस के उत्तर में वधू बोले कि 'प्रजा' इत्यादि, अनन्तर उस दिन वधू उसी को भोजन करे और उस भोजन करते समय ब्राह्मणीगण इस वधू को 'वीर-प्रसविनी होओ' इत्यादि मङ्गल सूचक वाक्यों से ईश्वरोपासना करे। यही सीमन्तोन्नयन संस्कार है। ३, १२॥

अथ सोष्यन्तीहोमः ॥ १३ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति। 'सोष्यन्तीहोमः' एतन्नामकश्चापरः संस्कारः कार्यः ॥ १३। तस्य कालं विधत्ते ;—

भा०—इस सीमन्तोन्नयन संस्कार के पीछे 'सोष्यन्ती—होम, नामक और एक संस्कार करना पड़ता है ॥ १३ ॥

प्रतिष्ठिते वस्तौ ॥ १४ ॥

'वस्तौ' योनिप्रदेशे 'प्रतिष्ठिते' गर्भे समुपस्थिते सोष्यन्ती होमः कार्यः इति तत्कालनिर्देशः। १४ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते;—

भा०—जिस समय प्रसव के द्वार देश में गर्भ आ पड़े उसी समय अर्थात् प्रसव के अव्यवहित (लगेहुए) यह 'सोष्यन्तीहोम' संस्कार करना चाहिये॥१४॥

परिस्तीर्य्याग्निमाज्याहुती जुहोति या तिरश्चीत्येतयर्चा विपश्चित्पुच्छमभरदिति च पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नामेति नामधेयं गृह्णाति यत्तद् गुह्यमेव भवति ॥ १५–१७ ॥

'अग्निम् परिस्तीर्य' 'तत्र, या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सᳫं राधनी महम् ("सᳫं राधन्यै देव्यै देष्ट्र्यै ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ६)'—'इत्येतयर्चा', विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत्। परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम ॥७॥ (म० ब्रा० १, ५, ७) 'इति' अनया च 'आज्याहुती' आज्यतन्त्रेण आहुतिद्वयम् 'जुहोति' जुहुयात् (१५)। अपरञ्च 'अयं' गर्भः 'पुमान् जनिष्यते' चेत् 'असौ नाम'—'इति' 'नामधेयं' जनिष्यमाण पुत्राख्यां 'गृह्णाति' प्रकल्प्य रक्षति (१६)। 'यत् नामधेयं मनसि निश्चितम्,' 'तत्' नामधेयं 'गुह्यम्' गोप्यमेव 'भवति' भवेत्, अन्यथा कन्याजाते हासाय स्याच्छत्रूणामिति (१७)। गतोऽयं सोष्यन्तीहोमसंस्कारः। १५—१७ अथ जातकर्मोच्यते;—

भा०=पूर्व उपदेश के अनुसार अग्नि स्थापनादि "परिस्तरण" कार्य के पीछे 'या तिरश्ची' इस मन्त्र से और 'विपश्चित् पुच्छमभरत्' मन्त्र से आज्य तन्त्रद्वारा दो आहुति देवे। (१५) उस समय,—यदि पुत्र जन्म लेवे तो यही नाम रक्खूंगा इस प्रकार मन ही मन एक नाम स्थिर कर रक्खे। अर्थात् पुत्र की आशा करे (१६) परन्तु उसे प्रकाश न करे। अर्थात् प्रकाश करने से यदि पुत्र न हो तो शत्रु लोग हंस सकते हैं १५—१७ ॥

यदाऽस्मै कुमारं जातमाचक्षीरन्नथ ब्रूयात् काङ्क्षत नाभिकृन्तनेन स्तनप्रतिधानेन चेति ॥ १८ ॥

'यदा' यस्मिन् काले प्रसवगृहस्थाः धात्रीप्रभृतयः सर्वे 'कुमारं जातम्'—'इति' समाचारम् 'अस्मै' पित्रे 'आचक्षीरन्' 'अथ' तदव्यवहितमेव पिता 'ब्रूयात्'—'नाभिकृन्तनेन' नाभिलग्ननाडीच्छेदनेन 'च' अपि स्तनप्रतिधानेन' स्तनपायनेन एनं पालयितुं 'काङ्क्षत' इच्छां कुरुत यूयम् 'इति' ॥ १८ ॥

भा०:—इस के अनन्तर जात—कर्म्म संस्कार होता है जैसे; जिस समय सूतिका गृह में रहने वाली धाई प्रभृति बोल उठे कि लड़का पैदा हुआ तो इस पर पिता बोले कि 'नाभि से लगी हुई नाड़ी काटो और स्तन आदि पिला कर रक्षा करो ॥ १८ ॥

व्रीहियवौ पेषयेत्तयैवाऽऽवृता यया शुङ्गान्दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य कुमारस्य जिह्वायां निर्माष्टीयमाज्ञेति तथैव मेधाजननᳫं सर्पिः प्राशयेज्जातरूपेण वादाय कुमारस्य मुखे जुहोति मेधान्ते मित्रा-

वरुणावित्येतयर्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति च कृन्तत नाभिमिति ब्रूयात् स्तनञ्च प्रतिधत्तेति ॥ १९—२२ ॥

नाभिकृन्तनात् पूर्वकृत्यमाह;—'यया' पूर्वोक्तया 'आवृता' परिपाट्या 'शुङ्गां' पूर्वोक्तां 'पेषयेत्' 'तयैव' ब्रीहियवौ पेषयेत् (१९) पिष्टौ च ब्रीहियवौ 'दक्षिणस्य पाणेः अङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया च अङ्गुल्या अभिसङ्गृह्य' "इयमाज्ञेद मन्नमिदमायुरिदममृतम्" ॥८॥ (म० ब्रा० १, ५, ८)'—'इति' इमं मन्त्र मुच्चरन् 'कुमारस्य' तस्य 'जिह्वायां' 'निमार्ष्टि' नियच्छति (२०) । 'तथैव' तेनैव प्रकारेण दक्षिणस्य पाणेः अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां गृहीत्वेति यावत् 'मेधां ते मित्रावरुणौ मेधा मग्निर्दधातु ते। मेधां ते अश्विनौ देवा वाधत्तां पुष्करस्रजौ' ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १,-५, ९)'—'इत्येतयर्चा' 'च' अपि 'सदसस्पतिमद्भुतम् (छ० आ० २, २, ३, ७)'—'इति' अनया 'मेधाजननं सर्पिः' 'प्राशयेत्' । 'वा' अथवा 'जातरूपेण' 'हिरण्येन' हिरण्मयशलाकादिना 'आदाय' गृहीत्वा सर्पिः 'कुमारस्य' तस्य 'मुखे' 'जुहोति' जुहुयात् क्षिपेत् (२१) । एतदनन्तरम् 'नाभिम् कृन्तत'—'इति', 'स्तनं प्रतिधत्त'—'इति 'च' 'ब्रूयात्' आदिशयात् पितेति शेषः। पित्रादेशग्रहणपूर्वकमेव नाभिकृन्तनं स्तनप्रतिधानञ्चेति गतं जातकर्म ॥२२ ॥

भा०:—पहिले जो शुङ्गा पीसने का नियम कहा गया है उसीप्रकार धान्य तण्डुल और 'यवतण्डुल पीसकर नाड़ी छेदनके पूर्व ही दहिने हाथ से अनामिका और अङ्गुठे के द्वारा ग्रहण करते 'यही ईश्वर की आज्ञा है' यह मन्त्र पढ़कर उस नव वालक की जीभ में चटा देवे और बुद्धि बढ़ने की इच्छा से 'मेधान्ते मित्रावरुणौ' मन्त्र और 'सदसस्पति मद्भुतम्' (छ० आ० २, २, ३,७) मन्त्र, इन दो मन्त्रों का पाठ कर, दो वार उसी प्रकार अङ्गुठा, अनामिका द्वारा घृत भी चटावे, या सुवर्ण की शलाकादि के अग्रभाग से लड़के के मुख में देवे । अनन्तर नाड़ी काट कर स्तन पिलावे ॥१९,२२॥ यही जात कर्म्म संस्कार है॥

अत ऊर्द्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् ॥ २३।

'अतऊर्द्ध्वम्' नाभिकृन्तनात् परस्तात् 'आदशरात्रात्' दशरात्रिशेषं यावत् 'असमालम्भनम्' अस्पर्शनम् कुमारमातुरित्यशौचविधिः ॥२३॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२,७

भा०:—इस नाड़ी छेदन के पीछे से दश दिन प्रसूति स्पर्श योग्या न होगी अर्थात् ये दश दिन भर्त्ता स्वीय पत्नी को स्पर्श भी न करे ॥२३॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२॥७

जननाद्यस्तृतीयोज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिम्न्यञ्जलिकृतः पितोपतिष्ठतेऽथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत उदञ्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्मनुपृष्ठम्परिक्रम्योत्तरतोऽवतिष्ठतेऽथ जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रमीयेतपुत्रो जनित्र्या अधीत्युदञ्चं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥१—५॥

'जननात्' जन्मतः आरभ्य 'यः' 'तृतीयः' 'ज्यौत्स्नः' ज्योत्स्नायुक्तः पक्षः, 'तस्य' पक्षस्य 'तृतीयायां' तिथौ 'प्रातः' 'कुमारं' 'सशिरस्कम् आप्लाव्य' शिरसि जलदानेन स्नापयित्वा 'अस्तमिते' सूर्ये 'वीते' विगते च 'लोहितिम्नि', 'पिता' कुमारजनकः 'अञ्जलिकृतः' पुत्रग्रहणाय प्रसारिताञ्जलिद्वयः सन् 'उपतिष्ठते' उत्थितस्तिष्ठेत (१)। 'अथ' तदनन्तरं 'माता' कुमारप्रसूतिः 'शुचिना' शुभ्रेण निर्मलेनेति यावत् 'वसनेन' 'कुमारम्' 'आच्छाद्य' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां दिशि गत्वा 'उदञ्चं' उत्तानम् 'उदक्शिरसं' कुमारं 'पित्रे' कुमारजनकाय तस्मै 'प्रयच्छति' प्रयच्छेत् (२)। दत्त्वा च सा 'अनुपृष्ठं परिक्रम्य' स्वपतिपृष्ठदेशेनागत्य 'उत्तरतः' उत्तरस्यां सुतरां पत्युर्वामभागे 'अवतिष्ठते' अवस्थिता भवेत् (३)। 'अथ' दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः "यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ। वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्र मघं निगाम्"॥१०॥ यत् पृथिव्या अमृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳरिषम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापतिः। यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि" ॥१२॥ (म० ब्रा० १, ५, १०—१२) 'जपति' जपेत (४) जपित्वा च 'उदञ्चं' उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रसूत्यै 'प्रदाय' प्रदानं कृत्वा समाप्तं ज्यौत्स्नोपस्थानमिति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५)।२—५

भा०:—जन्म से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार को मस्तक पर्य्यन्त धोकर स्नान करावे। अनन्तर सूर्य्यास्त के पीछे अर्थात् ऐसे समय जब कि सूर्य्य मण्डल की लालिमा पर्यन्त दीख न पड़े, उस नवकुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जुलि पसार कर खड़ा हो और नवकुमार की माता उस कुमार को साफ वस्त्र से ढांक कर अपने स्वामी के दक्षिण ओर आकार इस बालक को उत्तर शिरा और उत्तानभाव से (चित्त) उस की अञ्जुलि में प्रदान करे। स्वयं अपने पीठ पर होकर वाम दिशा आकर युग्म रूप से अवस्थित हो। पीछे इस बालक के साथ पिता 'यत्ते सुसीमे'

एवं से 'यथा अयं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि' पर्य्यन्त तीन मन्त्रों का पाठ करे। अनन्तर गृहीत पुत्र को उस की माता को पुनः प्रदान करे और प्रयोजन के अनुसार अन्य कार्य्य करे, या विश्राम करे ॥ १—५ ॥

अथ येऽत ऊर्द्ध्वं ज्यौत्स्नाः प्रथमोद्दिष्टएव तेषु पितोपतिष्ठतेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसं यददश्चन्द्रमसीति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम् ॥६। ७॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति। 'अतः' जननात् तृतीयज्यौत्स्नातः 'ऊर्द्ध्वं' उपरिष्टात् परस्तादिति यावत्, 'ये' 'ज्यौत्स्नाः' ज्योत्स्नायुक्ताः कालाः शुक्लपक्षाः, 'तेषु' ज्यौत्स्नेषु कालेषु 'प्रथमोद्दिष्टे' प्रथमागते ज्यौत्स्ने जननाच्चतुर्थे शुक्लपक्षे, यस्यां कस्यामप्येकस्यां तिथौ सम्भवतश्चन्द्रोदये 'पिता' कुमारजनकः 'अपामञ्जलिं पूरयित्वा' 'चन्द्रमसम् अभिमुखः' सन् 'उपतिष्ठते' उपतिष्ठेत उत्थितस्तिष्ठेत (६)। ततश्च "यदहश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्। तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳरुदम्" ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ५, १३) 'इति' अनेन 'यजुषा' छन्दःशून्यमन्त्रेण 'सकृत्', 'तूष्णीं' अमन्त्रकं 'द्विः' द्विवारम् 'उत्सृज्य' गृहीतोदकाञ्जलिमिति यावत्; समाप्त मव्मर्जनं कृत्य मिति मत्वा 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः ॥६, ७॥ अथ नामधेयं विधत्ते;—

भा०:—पूर्वोक्त इस तृतीय शुक्लपक्ष के पीछे जो प्रथमोपस्थित ज्यौत्स्ना अर्थात् जन्म से चतुर्थ शुक्ल पक्ष, उस की प्रतिपदा से पूर्णिमा पर्य्यन्त १५ रात्रि के जिस किसी रात्रि में चन्द्रोदय समय कुमार का पिता खड़ा होकर चन्द्रमा के सम्मुख हो 'यदहश्चन्द्रमसि' मन्त्र पढ़ कर एकवार एवं अपर दोवार विना मन्त्र साकल्य में तीन अञ्जलि जल छोड़ देवे ॥ ६, ७ ॥

जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम् ॥८

'जननात्' जननदिनमारभ्य 'दशरात्रे शतरात्रे संवत्सरे वा' 'व्युष्टे' अतीते एकादशदिनादौ 'नामधेयकरणम्' कुमारस्येति ॥८॥ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते;—

भा०:—जन्म दिन से दश दिन, या १०० दिन, या सम्वत्सर बीतने पर ग्यारहवें दिन में नवकुमार का नाम करण करे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चादग्ने रुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङुपविशत्यथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य-दक्षिणतउदञ्चं कर्त्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसमनुपृष्ठं परिक्रम्यो-

स्तरतउपविशत्युदगग्रेष्वेव दर्भेष्वथ जुहोति प्रजापतये तिथये नक्षत्राय देवतायाइति तस्य मुख्यान् प्राणान्त्सम्मृशन्कोऽसि कतमोऽसीत्येतंमन्त्रं जपत्याहस्पत्यं मासंप्रविशासावित्यन्तेच मन्त्रस्य घोषवदाद्यन्तरस्थन्दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतन्नाम दध्यादेतदतद्धितमयुगदान्तंस्त्रीणाम्मात्रे चैव प्रथमं नामधेयमाख्याय यथार्थङ्गौर्दक्षिणा ॥ ९—१८ ॥

'अथ' प्रक्रमार्थः । 'यः' पुरुषः पिता पुरोहितो वा 'तत्' नामधेयं कर्म 'करिष्यन् भवति', सः 'अग्नेः अश्चात्, उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राङ् मुखः सन्' 'उपविशेत् (९) । 'अथ' तदनन्तरं 'माता' दक्षिणतः दक्षिणस्यां कर्तुर्दक्षिणभागे गत्वा 'शुचिना वसनेन कुमारम् आच्छाद्य' 'उदक्शिरसम्' उत्तरशिरस्कम् किञ्च' उत्तानं शिशुं 'कर्त्रे' नामधेयकर्मणोऽनुष्ठात्रे प्रयच्छति (१०) । दत्त्वा च 'अनुपृष्ठं परिक्रम्य' सा 'उत्तराग्रेषु दर्भेषु' 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि कर्तुर्वामभागे 'उपविशति' उपविष्टा भवेत् (११) । 'अथ' तदनन्तरं, क्रोड़ीकृतकुमारः सः 'प्रजापतये' प्रजापतिदेवतामनुकूलयितुं तथैव 'तिथये', तथैव 'नक्षत्राय', 'जुहोति' हवनं कुर्यात् (१२)। एवं होमानन्तरं 'तस्य' कुमारस्य 'मुख्यान् प्राणान्' मुखगतश्वासान् 'सम्मृशन्' अङ्गुलीभिः स्पृशन् 'कोऽसि कतमोऽसि एषोऽस्यामृतोऽसि आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥१४॥ सत्वाह्ने परिददात्वहस्त्वारात्र्यै परिददातु रात्रि स्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वामासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ' ॥१५॥ (म० ब्रा० १, ५, १४—१५)'—इत्येतं मन्त्रं 'जपति' जपेत् (१३) । 'मन्त्रस्य' तस्य 'आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ'—'इति' अत्र 'च' अपि 'अन्ते' चरमे असौ इत्यस्य स्थाने 'कृतं' नवरचितं 'नाम' आह्वानाद्यर्थव्यवहार्यं पदं 'दध्यात्' स्थापयेत् व्यवहर्योदिति । तच्च नाम 'घोषवदाद्यम्' आदितएव घोषसंज्ञकाक्षरयुक्तम्, 'अन्तरन्तस्थं' अन्तस्थसंज्ञकाक्षरमध्यं, 'दीर्घाभिनिष्ठानान्तं' दीर्घसंज्ञकाभिनिष्ठानसंज्ञकाक्षरयोरन्यतरावसानकं भवेत् (१४) । 'एतत्' नाम 'अतद्धितं' तद्धितप्रत्ययरहितमेव कार्यम् (१५) । 'स्त्रीणाम्' कन्यानां तु 'अयुगदान्तम्' अयुग्माक्षरान्तं दान्तव्यतिरिक्तञ्च नाम दध्यादित्येव तत्र विधायम् (१६) । 'च' पुनः तत् 'नामधेयं' 'मात्रे एवं' प्रथमं ' आख्याय' परिज्ञाप्य नामधेयकरणं समाप्तमिति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेदिति (१७)। अस्य कर्मणः 'गौः' एका 'दक्षिणा' देयेति (१८) । समाप्तं नामधेयकरणम् ।२—१८

भा०—यह नामकरण संस्कार जो करे सो पिता, या पुरोहित अग्नि की पश्चिम में उत्तराग्र डाले हुए कुश के आसन पर पूर्वमुख बैठे कुमार की प्रसूति, साफ वस्त्र में शिशु को ढांक कर ले आवे और नामकरण संस्कार करने के लिये प्रवृत्त कुमार के पिता, या अपर ब्राह्मण के दहिने ओर आकर उत्तर शिरा और उत्तानभाव से उसे देकर नामकरण करने में प्रवृत्त पिता या ब्राह्मण के पीठ के रास्ते आकर कुशपुञ्ज के ऊपर बैठे। अनन्तर इस नामधेय कारी कुमार को गोद में ले कर पहिले प्रजापति देवता की तुष्टि के लिये होम करे' पीछे जिस तिथि में कुमार का जन्म हुआ है, उस तिथि का नाम ले कर दूसरी आहुति प्रदान करे, उसके वाद जिस नक्षत्र में कुमार का जन्म हुआ है उसका नाम कहकर तीसरी आहुति देवे। फिर उस बालक के मुख में हाथ देकर श्वास, स्पर्श कर "कोऽसि कतमोसि" मन्त्र पढ़कर एवं इस मन्त्र के पाठ समय दो स्थान में स्थित 'असौ' पदके वदले नूतन नाम रक्ख कर व्यवहार करे। इस नामके आदि अक्षर घोष वर्ण, मध्यमें अन्तस्थ वर्ण, एवं अन्त्य वर्ण दीर्घ या विसर्ग होगा। विशेषतः इस नाम में तद्धित न रहे। कन्या सन्तान का नाम युग्म अक्षर अन्त में, और दकारान्त न हो यही देखना चाहिये। इस प्रकार नाम युक्त मन्त्र के दोनों स्थान में 'असौ' पद के स्थान में मिला कर पाठ समाप्त होने पर उस नाम का सब से पहिले उस की प्रसूति को अवगत करावे। इस प्रकार नामकरण संस्कार शेष कर, पिता, या पुरोहित यथा प्रयोजन अन्यान्य कार्य करे। या विश्राम करे। नामकरण संस्कार की दक्षिणा एक गौ देवे।

कुमारस्य मासिमासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्वस्वग्नीन्द्रौ द्यावापृथिवी विश्वान्देवाꣳश्च यजेत दैवतमिष्ट्वा तिथिं नक्षत्रञ्च यजेत ॥ १९–२० ॥

'कुमारस्य' नवजातस्य 'संवत्सरे' प्रथमे 'मासि मासि' प्रति जन्मतिथौ, 'वा' अथवा 'सांवत्सरिके' जन्मतिथावेव प्रथमे एव च' अथवा 'पर्वसु' पौर्णमास्यामावास्यासु प्रथमे संवत्सरे एव 'अग्नीन्द्रौ' 'द्यावापृथिवी' 'च, अपि विश्वान् देवान्' 'यजेत' यागेनेष्टं भावयेत् (१९) 'दैवतमिष्ट्वा' अग्नीन्द्रादियागं प्रकृत्य 'तिथिं' जन्मनः 'च' अपि 'नक्षत्रं' जन्मन एव 'यजेत' (२०)। गतमिदं पौष्टिकं कर्म जन्मतिथिकृत्यं वा। १९, २० अथ मूर्द्धाभिघ्राणम्;—

भा०:—प्रथम वर्ष प्रति मास की जन्मतिथि में किम्वा प्रति पूर्णिमा

और अमावास्या पर्व्व में अग्नीन्द्र, द्यावापृथिवी, और विश्वेदेवा देवता की अर्चना करे एवं इस प्रकार देवार्चना के पीछे तिथि और नक्षत्र की भी अर्चना करे। यही जन्मतिथिकृत्य है ॥ १९, २० ॥

विप्रोष्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेद् यदा वा पिता मइति विद्यादुपेतस्य वाङ्गा दङ्गात् सथंस्रवसीति पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामीत्यभिजिघ्रय यथार्थमेवमेवावरेषां यथाज्येष्ठं यथोपलम्भं वा स्त्रियास्तूष्णीं मूर्द्धन्यभिजिघ्रणम् ॥ २१-२५ ॥ ८ ॥

'विप्रोष्य' प्रवासादागत्य, 'वा' अथवा 'यदा' यस्मिन् काले 'मे पिता इति विद्यात्' बालकः तदैव, 'वा' अथवा 'उपेतस्य' सन्निहितस्य यदैव सन्निहितो भवेत तदैव, ' ज्येष्ठस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं पाणिभ्यां परिगृह्य ' "अङ्गादङ्गात् सथंस्रवसि हृदयादधिजायसे। प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥१६॥ अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे। वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥१७॥ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। आत्मासि पुत्र मामृथाः स जीव शरदः शतम्" ॥ १८ ॥ (१, ५, १६, १८),-'इति' तृचं 'जपेत्' (२१), ततः "पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥१९॥ ५ (१, ५, १९)'-'इति' इमं मन्त्रं पठन् ' अभिजिघ्रय ' आघ्राय समाप्तं मूर्द्धाघ्राणं कर्मेति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् (२२)। 'अवरेषां' तत्कनिष्ठानामपि पुत्राणाम् 'एवमेव' मूर्द्धाघ्राणं कर्त्तव्यम् (२३)। तत्र च ' यथाज्येष्ठं ' ज्यैष्ठानुक्रमेणैव मूर्द्धाघ्राणं कार्यम्। 'वा' अथवा 'यथोपलम्भं' येन क्रमेण पितृसन्निधौ ते उपस्थिताःस्युस्तेनैव क्रमेणेति (२४)। 'स्त्रियाः' कन्यायाः ' मूर्द्धानि ' मस्तके 'अभिजिघ्रणं आघ्राणग्रहणं ' तूष्णीम् ' अमन्त्रकमेव कार्यम् (२५)। समाप्तं मूर्द्धाघ्राणम्। द्विर्वचनं क्षुद्रकर्मप्रकरणसमाप्तिद्योतकम् ॥ २१-२५ ॥ ८

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥२,८

भा०:-पिता जिस समय प्रदेश से अपने घर आवे, तब या जिस समय पुत्र "मेरा पिता यही है ऐसा समझ ले, या जिसी समय निकट आकर उपस्थित हो,उसी समय 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' इन तीन मन्त्रों को पढ़कर हाथ से बड़े पुत्र का मस्तक पकड़ कर 'पशूनांत्वां' मन्त्र पढ़ कर सूंघे; पीछे यथेच्छ विचरे। अपर पुत्रादि का मस्तक भी इसी प्रकार सूंघे। जो जिस के पीछे उत्पन्न

हुआ, हो उसे उसके पीछे या जो जिस समय निकट आवे तदनुसार मूर्ध्वाघ्राण करे। कन्या के मूर्ध्वाघ्राण में मन्त्र पाठ न करे ॥ २१–२५ । ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के अष्टमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,८॥

—:०:—

अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ॥१॥

'अथ' प्रकरणान्तरतां द्योतयति। 'अतः' आरभ्य 'चूडाकरणं' कर्म वक्ष्मीति। तच्च 'तृतीये वर्षे' कार्यमिति चूडाकरणकालः ॥१॥ तस्येतिकर्त्तव्यतां विधत्ते;–

भा०:–यह चूड़ा करण कार्य बालक वा बालिका के तृतीय वर्षकीआयु में करे ॥१॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति तत्रैतान्युपक्लृप्तानि भवन्त्येकविꣳशतिर्दर्भपिञ्जूल्य उष्णोदककꣳस औदुम्बरः क्षुरआदर्शो वाक्षुरपाणिर्नापित इति दक्षिणत आनडुहो गोमयः कृसरः स्थालीपाको वृथापक्व इत्युत्तरतो-ब्रीहियवैस्तिलमाषैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्तादुपनिदध्युः कृसरोनापिताय सर्वबीजानि चेति ॥२-७॥

'शालायाः' 'पुरस्तात्' पूर्वस्मिन् भागे 'उपलिप्ते' स्थाने 'अग्निः उप समाहितः भवति' (२)। 'तत्र' 'एतानि' अनुपदं वक्ष्यमाणानि 'उप क्लृप्तानि' आसाद्य सज्जितानि 'भवन्ति' (३)। तान्येवाह–'एकविंशतिः दर्भपिञ्जूल्यः', 'उष्णोदककंसः' उष्णोदकसहितकांस्यपात्रम्, 'औदुम्बरः' उदुम्बरकाष्ठनिर्मितः 'क्षुरः' 'वा' अथवा 'आदर्शः' दर्पणः, 'क्षुरपाणिर्नापितः'–'इति' चत्वारि वस्तूनि सम्पाद्य 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां अग्नेः स्थाप्यानीति (४)। किञ्च 'आनडुहः गोमयः' वृथापक्वः' अमन्त्रपक्वः 'कृसरः स्थालीपाकः' 'इति' द्वे वस्तुनी सम्पाद्य 'उत्तरतः' उत्तरस्यां अग्नेरेव सर्वत्र पूर्वाभिमुखएव कर्त्ता स्तुतरां कर्त्तुर्वामभागे (५)। 'ब्रीहियवैः' मिश्रितैः 'तिलमाषैः' मिश्रितैरेव 'पृथक्' 'पात्राणि' 'पूरयित्वा' 'पुरस्तात्' अग्नेरेव पूर्वस्यां परस्तादिति यावत्, 'उपनिदध्युः' स्थापयेयुः (६)। एषु च उक्तः 'कृसरः' 'च' अपि 'सर्वबीजानि' ब्रीहियवैस्तिलमाषैश्च पूरितपात्राणि 'नापिताय' तस्मै देयानि (७) ॥ २–७ ॥

भा०:–जिस स्थान में चूड़ा कर्म करना हो, उसे गोमय से लीप कर पूर्व भाग में यथा विधि अग्नि स्थापन करे (२) ये सब संग्रह कर उस स्थापन में उपस्थित करे (३) जैसे–इक्कीस दर्भपिञ्जू, गर्म जल से भरा कांसे का पात्र,

गूलर के काष्ठ का छुरा, या दर्पण, एवं लोहे का छुरा सहित नापित, ये चार वस्तु दक्षिण दिशा में उपस्थित रक्खे (४) सांढ़ का गोवर, अनन्त्र पक्व कृसर अर्थात् सिद्ध तण्डुल, ये वस्तु उत्तर में रक्खे (५) पूर्व दिशा में एक पात्र में धान्य, यव एवं दूसरे पात्र में तिल और माष (उड़द) रक्खे, (६) ये कृसर और धान्यादिपूर्ण दोनों पात्र नापित को देवे ॥ २-७ ॥

अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ॥८॥

'अथ' तदनन्तरम् । 'माता' वालकस्य, 'शुचिना वसनेन कुमारम् आच्छाद्य, अग्नेः पश्चात् उदगग्रेषु' 'प्राची' प्राङ्मुखी सती 'उपविशति' ॥ ८ ॥

भा०:-उस के अनन्तर बालक को माता बालक को साफ वस्त्र में लपेट कर अग्नि के पीछे उत्तराग्र रक्खे हुए कुशासन पर पूर्व मुख हो बैठे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन् भवति पश्चात् प्राङवतिष्ठते ॥९॥

'अथ' तदनन्तरम् । 'यः' पुरुषः 'तत्' चूडाकरणं नाम संस्कारकार्यं 'करिष्यन् भवति' पिता पुरोहितोवा' सः 'पश्चात्' उपविष्टायाः सपुत्रायाः, 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् 'अवतिष्ठते' अवस्थानं कुर्यात् ॥९॥

भा०:-पीछे पिता, या पुरोहित, जो कोई चूडाकरण संस्कार करने को प्रवृत्त हो, वह उस के पश्चात् भाग में पूर्वाभिमुख हो कर बैठे ॥ ९ ॥

अथ जपत्यायमगात् सविता क्षुरेणेति सवितारं मनसा ध्यायन् नापितं प्रेक्षमाण उष्णेन वाय उदकेनैधीति वायुं मनसा ध्यायन्नुष्णोदककꣳसं प्रेक्षमाणो दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय दक्षिणां कपुष्णिकामुन्दत्याप उन्दन्तु जीवस इति विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसीत्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षत आदर्शं वौषधे त्रायस्वैनमिति सप्तदर्भपिञ्जूलीर्दक्षिणायां कपुष्णिकाया मभि शिरोग्रा निदधाति ता वामेन पाणिना निगृह्य दक्षिणेन पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्वाऽऽदर्शं वाऽभिनिदधाति स्वधिते मैनꣳहिꣳसीरिति येन पूषा बृहस्पतेरिति त्रिः प्राञ्चं प्रोहत्यप्रच्छिन्दन् सकृद् यजुषा द्विस्तूष्णीमथायसेन प्रच्छिद्यानडुहे गोमये निदधाति ॥ १०-१७ ॥

'अथ' तदनन्तरम्। 'नापितं प्रेक्षमाणः' 'सवितारं मनसा ध्यायन्', "आय मगात् सविता क्षुरेण ॥१॥ (म०ब्रा०१,६,१)'—'इति' इमं मन्त्रं 'जपति' जपेत्(१०) "उष्णेन वायउदकेनेधि ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १,६, २)'—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'वायुं मनसा ध्यायन् उष्णोदककंसं प्रेक्षमाणः' भवति सः (११)। "आप उन्दन्तु जीव से" ॥३॥ (म० ब्रा० १, ६, ३)'—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना अप 'आदाय' 'कपुष्णिकां' शिरःपोषिकां शिरःपार्श्ववर्त्तिकेशजुटिकां 'उन्दति' क्लेदयति (१२)। "विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ४)'—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'औदुम्बरं क्षुरमादर्शं वा' 'प्रेक्षते' (१३)। "ओषधे त्रायस्वैनम्" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ६, ५)'—' इति ' इमं मन्त्रं पठन् ' अभिशिरोग्राः ' शिरोऽभिमुखाग्राः ' दर्भपिञ्जूलीः ' ' दक्षिणायां कपुष्णिकायां ' ' निदधाति ' धारयति (१४)। ' ताः ' कपुष्णिकासहिता दर्भपिञ्जूलीः ' वामेन पाणिना ' 'निगृह्य दृढतया गृहीत्वा "स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः" ॥६॥ (१, ६, ६)—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' 'औदुम्बरं क्षुरम् आदर्शं वा' 'गृहीत्वा" अभिनिदधाति ' यत्नतो धारयेत् (१५)। ततश्च तेनैवौदुम्बरेण क्षुरेण दर्पणेन वा 'प्राञ्चं' प्राग्गतं चालयन् परन्तु 'अप्रच्छिन्दन्' यथा च केशान् न छिन्द्यादेवं कृत्वा त्रिवारं 'प्रोहति' कथङ्कारं वपनं कर्त्तव्यमिति सवितर्कं पश्यति। तत्र च 'सकृत्' "एकवारं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे" ॥७॥ (म०ब्रा०१,६,७)'—'इति' अनेन 'यजुषा' गद्यात्मकमन्त्रेण' 'द्विः' वारद्वयं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेवेति (१६) 'अथ' तदनन्तरम् 'आयसेन' लौहमयेन क्षुरेण सपिञ्जूलीं दक्षिणकपुच्छिकां 'प्रच्छिद्य' पूर्वासादिते 'आनडुहे गोमये, 'निदधाति' स्थापयति (१७)॥१०—१७॥

भा०:—अनन्तर, पिता या पुरोहित जो कोई कार्य करे, वे इस क्षुरहस्त नापित को देख कर मन ही मन जगत् प्रसविता देवता को ध्यान कर 'आयगमात्' इस मन्त्र का पाठ करे॥१०॥ गर्म जल के साथ कांसे के पात्र में देखकर मन ही मन वायु देवता का ध्यान कर 'उष्णेन वाय' इस मन्त्र को पढ़े ॥११॥ दहिने हाथ से 'कपुष्णिका' * ग्रहण कर 'आप उन्दन्तु' इस मन्त्र का पाठ करके उसमें वही गर्म जल सीच कर गीला करे॥१२॥ 'विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि' इसमन्त्रकापाठ करते हुए उसमें वही गर्म जल सीच गुलर के काठ का क्षुरा या दर्पण देखे ॥ १३ ॥

* मस्तक के ऊपर दोनों पार्श्व के केशों को कपुष्णिका कहते अर्थात् 'क' शब्द का अर्थ शिर, एवं केशादि उस के पोषक होने से 'क—पुष्णिका' नाम हुआ ॥

'ओषधे त्रायस्वैनं' इस मन्त्र का पाठ कर सात दर्भ–पिञ्जूली नीचे को जड़ एवं ऊपर को फुनगी इस भान्ति उस कपुष्णिका में धारण करावे ॥१४॥ पीछे उसी दर्भ पिञ्जूली के साथ दहिने कपुष्णिका आदि वांये हाथ में रक्ख कर 'स्वधितेमैनंहिंसीः' यह मन्त्र पढ़कर दहिने हाथ में उस गूलर के काष्ठ का छुरा या दर्पण लेकर उसी कपुष्णिका में अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १५ ॥ एवं उस को पूर्वाभिमुख कर तीनवार चला कर किस प्रकार छेदित होगा, तर्क करके देखे। उस तीनवार के चलाने में एकवार 'येन पूषा' अपर दो वार में किसी मन्त्र के पाठ करने की आवश्यकता नहीं। इस गूलर के छुरा, या दर्पण चलाने में केश छिन्न नहीं होता॥१६॥ अनन्तर लोहे के छुरे से उसी दर्भ पिञ्जूलीके साथ दक्षिणकपुष्णिका को छेदकर सांढ़ के गोवर में स्थापन करे।१७।

एतयैवावृता कपुच्छलम् ॥१८॥ एतयोत्तरां कपुष्णिकाम् ॥ १९ ॥ उन्दनप्रभृति त्वेवाभिनिवर्त्तयेत् ॥ २० ॥

'एतया एव आवृता' कथितपरिपाट्यैव 'कपुच्छलं' शिरःपुच्छसदृशं पश्चात्केशकलापम् आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनडुहे गोमये निदधाति ॥ १८ ॥ 'एतया' परिपाट्या उत्तरां कपुष्णिकाम्, अपि आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनडुहे गोमये निदधाति ॥ १९ ॥ कपुच्छलच्छेदने उत्तरकपुष्णिकाच्छेदने च 'उन्दनप्रभृति' पूर्वोक्तछेदनादि गोमये निधानान्तं (१२–१७ सू०) कर्मजातम् 'अभिनिवर्त्तयेत् निष्पादयेत्; न तत्पूर्वतनं [illegible]थैतत्परतनञ्च तत्र पृथक्त्वेनानुष्ठेयम् २०

भा०:–पूर्वोक्त प्रकार से कपुच्छल को लोहे के छुरे से काटे ॥ १८ ॥ उत्तर 'कपुष्णिका' कटवाने में भी यही नियम समझना ॥ १९ ॥ 'कपुच्छल' काटन में और उत्तर 'कपुष्णिका' काटने में दोनों ही स्थान गर्म जल से भिंगाना आदि सम्पूर्ण कार्य भिन्न २ करना होगा, उस के पूर्व, या पीछे का कार्य सब, प्रत्येक वार काटने के लिये भिन्न २ न होंगे ॥२०॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेत् त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ॥ एतयैवावृता स्त्रियास्तूष्णीम् मन्त्रेण तु होमः ।२१–२४।

इत्थं बालकस्य कपुष्णिकाद्वयं कपुच्छलञ्च छेदयित्वा उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषमगस्त्यस्य त्र्यायुषम् । यद्देवानां त्र्यायुषं तत्ते अस्तु त्र्यायुषम्' ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ८)'–'इति' इमं मन्त्रं 'जपेत्' (२१) 'स्त्रियाः' कन्याया अपि कपुष्णिकादिच्छेदनम् 'एतया' 'आवृता' परिपाट्या 'एव' कार्यम् (२२)। तत्रायं विशेषः–'तूष्णीम्' असन्त्र-

कमेव सर्वम् (२३)। तत्राप्ययं विशेषः— 'मन्त्रेण तु होमः' चूडासंस्काराय होमस्तु तत्रापि मन्त्रेणैव कार्यः (२४) ॥ २२—२४ ॥

भा०:—इसी प्रकार दोनों कपुष्णिका और कपुच्छल काटने पर दोनों हाथ से लड़के के माथे को पकड़ कर 'त्र्यायुषं जमदग्नेः'—इस मन्त्र का जप करे ॥२१॥ कन्या को चूड़ा कर्म भी ठीक इसी प्रकार इसी नियम से होगा परन्तु मन्त्र रहित, किन्तु चूड़ा कर्म्म का होम, मन्त्र के साथ होगा ॥२२—२४॥

उदगग्नेरुत्सृप्य कुशलीकारयन्ति यथागोत्रकुलकल्पमानडुहे गोमये केशान् कृत्वाऽरण्यꣳ हृत्वा निखनन्ति स्तम्बे हैके निदधति यथार्थं गौर्दक्षिणा ॥ २५—२९ ॥ ९

'अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्मिन् 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेनोपविश्य यथागोत्रकुलकल्पं' गोत्रकुलानुरूपं सशिखं शिखाशून्यं वा, पञ्चचूडं वा (तथाच—"वासिष्ठाः पञ्चचूडाः स्युस्त्रिचूडाः कुण्डपायिनः" किञ्च "सशिखं वपनं कार्यमास्नायाद्ब्रह्मचारिणाम् । आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत्"—इति । एवञ्च वसिष्ठगोत्राणां पञ्चचूडं मुण्डनम्, कुण्डपायिनां त्रिचूडं मुण्डनम्, कौथुमानामासमावर्त्तनात् सशिखं वपनञ्चेति) बहुवचनं साधारणविषयपेक्षम् (२५) मुण्डयित्वा च तान् 'केशान्' 'आनडुहे गोमये कृत्वा' 'अरण्यं' 'हृत्वा' नीत्वा 'निखनन्ति' मृण्मध्ये प्रोथयन्ति (२६) 'एके' आचार्या आहुः—'स्तम्बे ह' झिंटिवृक्षादिकुञ्जे एव 'निदधति' स्थापयन्ति तान् केशानिति (२७) इति गतं चूडाकर्मेति 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् (२८) अस्य च चूडाकर्मणः 'दक्षिणा' 'गौः' एकैव (२९) २५—२९ ॥९॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २,९

भा०:—इस प्रकार दोनों कपुष्णिका काटे जाने पर बालक वहां से हटकर अग्नि के उत्तर भाग में बैठे और आत्मीय लोग नापित से गोत्र और कुलानुसार पांच, या तीन शिखा, या शिखारहित, या शिखासहित मुण्डन करावे, * ॥२५॥ मुण्डन कराने पीछे केशादि को वन मे लेजाकर भूमि में गाड़ देवे ॥२६॥ कोई २ आचार्य्य कहते हैं कि उसे वन में लेजाकर किसी सघन वन स्थल में फेकदेवे ॥२७॥ इसप्रकार चूड़ाकर्म समाप्त होने पर अपनी इच्छानुसार जहां चाहे जावे ॥ २८ ॥ इस चूड़ाकर्म की दक्षिणा एक गौ होगी ॥ २५—२९ ॥

* इस लिये जिन लोगों का गोत्र वसिष्ठ है उन को ५ शिखारख कर शिर मुड़ाना चाहिये 'एवं जिन का गोत्र 'कुण्डपायी, है उन्हें ३ चूड़ा रख कर मुण्डन कराना चाहिये और जिन की कौथुमी शाखा है वे वेद की समाप्ति पीछे समावर्त्तन होने तक शिखा भी मुण्डन करा लेवें किन्तु जो लोग बहुत समय तक ब्रह्मचर्य्य रखना चाहें एवं समावर्त्तन का विचार न हो, तो उन्हें शिखा रक्षा पूर्वक मुण्डक कराना चाहिये ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीयअध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,९॥

गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् ।१। गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् ।२। गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ।३। आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालोभवत्याद्वाविंशात् क्षत्रियस्याचतुर्विंशाद्वैश्यस्य ।४।

'गर्भाष्टमेषु' गर्भमासतो गणनया ये अष्टमाब्दकालास्तेषु यस्मिन् कस्मिन्नपि शुभदिने 'ब्राह्मणम्' ब्राह्मणजातीयकुमारम् 'उपनयेत्' वक्ष्यमाणप्रकारेण संस्कृत्य कृत्स्नवेदाध्ययनाय गुरावन्तिकं प्रापयेत् ॥ १ ॥ 'गर्भैकादशेषु' 'क्षत्रियम्' उपनयेत् ॥ २ ॥ उपनयेदित्येव ॥ ३ ॥ 'ब्राह्मणस्य' 'आ षोडशवर्षात्' षोडशाब्दवयः समाप्तिं यावत्, 'क्षत्रियस्य' 'आ द्वाविंशात्' द्वाविंशाब्दान्तं यावत्, 'वैश्यस्य' 'आ चतुर्विंशात्' चतुर्विंशाब्दान्तं यावत् 'अनतीतः कालो भवति' उपनयनस्येति॥४

भा०:—जिस मास में गर्भ हुआ हो उस मास से गिनने पर जो वर्ष अष्टम हो, उस वर्ष के जिस किसी शुभ तिथि में ब्राह्मण कुमार को उपनीत करे अर्थात् संस्कार पूर्वक वेदाध्यायनार्थ उपयुक्त गुरु के समीप नीत करे (लावे)॥१॥ क्षत्रिय कुमार को गर्भ मास से गिन कर ग्यारहवें वर्ष में आचार्य्य के पास लावे (अर्थात् उपनयन करे) ॥ २ ॥ वैश्य के लड़के को, गर्भमास से गिनति में जिस वर्षमें १२ बारहवां वर्ष हो उसी वर्ष के उपयुक्त मास तिथि में उपनयन करे ॥ ३ ॥ ब्राह्मण कुमार को १६ वर्ष की अवस्था पूरी होने तक उपनयन काल अतीत न होगा अर्थात् यदि गर्भ से ८ म वर्ष में उपनयन न कर सके तो सोलह वर्षकी अवस्था पर्य्यन्त जिस किसी समय जिस किसी उपयुक्त तिथि में उपमयन करे इसमें हानि नहीं। क्षत्रिय कुमार के २२ वर्षकी अवस्था पर्यन्त एवं वैश्य के लड़केको २४ वर्ष की उमर तक उपनयन हो सकता है ॥ ४ ॥

अत ऊर्द्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ५ ॥

'अतऊर्द्ध्वं' ब्राह्मणस्य षोडशाब्दात् परं, क्षत्रियस्य द्वाविंशाब्दात् परं, वैश्यस्य चतुर्विंशाब्दात् परम्। अर्थतः एतावत् कालमप्यनुपनीताश्चेत् तर्हि 'पतितसावित्रीकाः' व्रात्यापरपर्यायाः 'भवन्ति' ॥ ५ ॥

भा०:—उक्त काल के पीछे अर्थात् ब्राह्मण कुमार १६ वर्ष की अवस्था के पीछे, क्षत्रियकुमार २२ वर्षकी अवस्था पीछे, वैश्यकुमार २४ वर्ष की अवस्था पीछे, सावित्री पतित अर्थात् सावित्री (गायत्री) मन्त्र के उपदेश योग्य नहीं होते ॥५॥

नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्विवहेयुः ॥ ६ ॥

'एतान्' पतितसावित्रीकान् 'न उपनयेयुः' न अध्यापयेयुः, न याजयेयुः'

किञ्च 'एभिः सह' न विवहेयुः' कन्योद्वाहसम्बन्धं न कुर्युः। इति गतः कालनियमः।६।

भा०:—उक्त सावित्रीपतित लोगों को पुनः उपनयन नहीं हो सकता। ऐसों को कोई अध्ययन भी न करावे, कोई यज्ञ भी नहीं करावे, इन का विवाह भी समाज में निषिद्ध समझे। यही उपनयन काल का नियम है ॥६॥

यदहरुपैष्यन्माणवकोभवति प्रगएवैनं तदहर्भोजयन्ति कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ्कुर्वन्त्यहतेन वाससाऽऽच्छादयन्ति ॥ ७ ॥

'माणवकः' अनधीतबालकः 'यदहः' यस्मिन्नहनि 'उपैष्यन्' उपनीतोभविष्यन् भवति, 'तदहः' तस्मिन्नहनि 'प्रगे एव' प्रातरेव 'भोजयन्ति' मात्रादयः, यान् कानप्याहार्यान् प्रातराशमात्रं वा तं माणवकमिति शेषः। ततः 'कुशलीकारयन्ति' मुण्डयन्ति। ततः 'आप्लावयन्ति' स्नापयन्ति। ततः 'अलङ्कुर्वन्ति' शोभयन्ति। ततः 'अहतेन वाससा आच्छादयन्ति'। सर्वदैव तं माणवकम् मात्रादय इति। ७॥

भा०:—जिस दिन अनुपनीत बालक का उपनयन होवे, उस दिन प्रातःकाल उसे प्रातराश (दोपार दिन से पहिले का भोजन) या और अन्यखाद्य भोजन करावे। पीछे उस को मुण्डित कर स्नान करावे एवं, भूषणादि पहनावे और उसे अखण्ड वस्त्र से आवृत करे ॥ ७ ॥

क्षौमशाणकार्पासौर्णान्येषां वसनानि। ८। ऐणैयरौरवाजान्यजिनानि। ९।

'एषां' ब्राह्मणादीनां त्रयाणां 'वसनानि' परिधेयानि 'क्षौमशाणकार्पासौर्णानि' कुर्युः।८। एषां 'अजिनानि' उत्तरीयचर्माणि 'ऐणेयरौरवाजानि' कर्त्तव्यानि।९

भा०:—बालक को पहनने योग्य वस्त्रः रेशमी, शण, कपास, या ऊनी चाहिये ॥ ८ ॥ एवं बालक के लिये अजिन अर्थात् उत्तरीय ऐणेय, रौरव, और बकरे के चर्म का होगा ॥ ९ ॥

मुञ्जकाशताम्बल्योरशनाः।१०। पार्णवैल्वाश्वत्थादण्डाः ११

एषां 'रशनाः' कटिबन्धनरज्जवः 'मुञ्जकाशताम्बल्यः' कर्त्तव्याः। १०। एषां 'दण्डाः' हस्तग्राह्याः 'पार्णवैल्वाश्वत्थाः' कर्त्तव्याः। ११।

भा०:—बाकल के लिये कमर कस—मुञ्ज, काश, या मजीठ' का होगा ॥ १० ॥ और दण्ड पलाश, बेल, या पीपर का होगा ॥ ११ ॥

क्षौमं शाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्या-

विकं वैश्यस्यैतेनैवेतराणि व्याख्यातान्यलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ॥ १२–१४ ॥

पूर्वोक्तानां क्षौमादीनां मध्ये,–ब्राह्मणस्य' 'क्षौम' तसरादि प्रसिद्धं 'वा' अथवा 'शाणं' शणसूत्रमयं 'वसनं' परिधेयं कार्यम् । 'क्षत्रियस्य' 'कार्पासं सूत्रमयं वसनं कार्यम् । 'वैश्यस्य' 'आविकं' अव्यूर्णामयं वसनं कार्यम् । 'एतेनैव' वसननियमकथनप्रकारेणैव'इतराणि द्रव्याणि' अजिनरशनादण्डरूपाणि'व्याख्यातानि' कथितानीवेति । तथाच पूर्वसूत्रेषु (९, १०, ११) यथाक्रमतोऽव्यवस्था ब्राह्मणस्य–'ऐणेयं' कृष्णसारमृगचर्म अजिनम्, 'मौञ्जी' मुञ्जमयी रशना 'पार्णः' पलाशकाष्ठीयश्च दण्डः । क्षत्रियस्य—'रौरवं' रुरुमृगचर्म अजिनम्, 'काशी' काशमयी रशना, 'वैल्वः' विल्वकाष्ठीयश्च दण्डः । वैश्यस्य–'आजं' अजामृगचर्म अजिनम्, 'ताम्बली' शणमयी रशना, 'आश्वत्थः' अश्वत्थकाष्ठीयश्च दण्डः । 'वा' अथवा 'अलाभे' ब्राह्मणादीनाम् क्षौमैणेयादीनामप्राप्तौ 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां 'सर्वाणि' क्षौमादीनि ऐणेयादीनि मौञ्ज्यादीनि पार्णादीनि च द्रव्याणि यस्य यथालाभतो ग्राह्याणि ॥ १२–१४ ॥

भा०:–उन में से ब्राह्मण को पहनने के लिये कपड़ा–रेशमी, या शण का, क्षत्रिय के लिये कपास का, वैश्य के लिये ऊनी होगा । मृग–छाला भी इसी प्रकार क्रम से ब्राह्मण के लिये कृष्णसार नामक मृग का चर्म, क्षत्रिय के लिये रुरुमृग का और वैश्य के लिये बकरी का चर्म होगा । ब्राह्मण के लिये मुंजका कमर कस, क्षत्रिय के लिये काश का, वैश्यके लिये शण का होगा । और ब्राह्मण के लिये पलाश का दण्ड, क्षत्रिय के लिये विल्व का, वैश्य के लिये पीपर का होगा । यदि समयानुसार यथानियम ब्राह्मणादि के यथा योग्य वसन आदि दुर्घट होवें तो, सबही वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब प्रकार के वसन आदि व्यवहार कर सकेंगे । अर्थात् उक्त क्षौम (रेशमी) आदि चार व्यवहार करे जब, जिस समय, जिस किसी प्रकार का, वसन सुलभ पावे, उस समय वही ब्राह्मण आदि निर्विशेष व्यवहार कर सकेंगे, अजिनादि के विषय में भी समयानुसार इसी प्रकार यथा लाभ व्यवस्था करनी उचित है ॥ १३–१४ ॥

पुरस्ताच्छालायाउपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितोभवति ॥१५॥ अग्ने व्रतपतइति हुत्वा पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङाचार्योऽवतिष्ठते । १६ । अन्तरेणाग्न्याचार्यौ माणवकोऽञ्जलिकृतोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेषु दर्भेषु ॥ १७ ॥

'शालायाः पुरस्तात्' 'उपलिप्ते' स्थाने 'अग्निः उपसमाहितः भवति' ॥ १५ ॥ तत्र चाग्नौ 'आचार्यः' वेदाध्यापकः कश्चित् माणवकः प्रतिनिधिर्भवन् "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यास मिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ९ ॥ वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ १० ॥ सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ११ ॥ चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२ ॥ व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ९–१३)–' इति ' एभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः 'हुत्वा' 'अग्नेः पश्चात् उदग्रेषु दर्भेषु' 'प्राङ्' प्राङ्मुखः सन् 'अवतिष्ठते' अवतिष्ठेत। १६। 'अन्तरेणाग्न्याचार्यौ' अग्न्याचार्ययोः मध्ये 'माणवकः' 'आचार्यम् अभिमुखः' 'अञ्जलिकृतः' उदकग्रहणोपयुक्तः कृताञ्जलिः सन् 'उदगग्रेषु दर्भेषु' अवतिष्ठेत ॥ १७ ॥

भा०:—उपनयनार्थ अग्नि यज्ञशाला के पूर्वभाग में लीपे हुए स्थान में स्थापित करे ॥ १५ ॥ उस अग्नि में आचार्य्य अर्थात् एक व्यक्ति वेदाध्यापक लड़के के प्रतिनिधि स्वरूप होकर "अग्ने व्रतपते" प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति प्रदान कर अग्नि के पश्चिम उत्तराग्र कुशों पर बैठे ॥१६॥ अग्नि और आचार्य के मध्यस्थल में डाले हुए उत्तराग्र कुशाओं पर आचार्य के सम्मुख और कृताञ्जलि हो लड़का बैठे ॥ १७ ॥ १५–१७ ॥

तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान् ब्राह्मणोऽपामञ्जलिं पूरयत्युपरिष्टाच्चाचार्य्यस्य ॥ १८, १९ ॥

'तस्य' तादृशावस्थस्य माणवकस्य 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां तिष्ठन् कश्चित् 'मन्त्रवान्' अधीतवेदः 'ब्राह्मणः' तस्यैव माणवकस्य 'अञ्जलिं' 'अपां' दानेन 'पूरयति'। 'उपरिष्टात्' ततः परस्तात् 'आचार्यस्य' 'च' अपि अञ्जलिं पूरयति अपां दानेनेति ॥ १८–१९ ॥

भा०–उस लड़के की दक्षिण में रह कर कोई वेदपाठी ब्राह्मण, उस की अञ्जलि जलसे भर देवे। उसके बाद आचार्यकी अञ्जलिभी जलसे भरे ॥१८, १९॥

प्रेक्षमाणोजपत्यागन्त्रा समगन्महीति ब्रह्मचर्य्यमागामिति वाचयति कोनामासीति नामधेयं पृच्छति तस्याचार्यः।२०–२२

'आचार्यः' 'प्रेक्षमाणः' माणवकमिति यावत् "आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं

युयोतन। अरिष्टाः सञ्चरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥१४॥ अग्निष्टे हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्। अर्यमा हस्तमग्रहीन्मित्रस्त्वमसि कर्मणा"॥१५॥ (अग्निराचार्यस्तव) (म० ब्रा० १,६,१४-१५) 'इति' द्व्यृचं 'जपति' स्वयम्। "ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व" ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १६)—'इति' इमामृचं 'वाचयति' माणवकम्। "को नामासि? असौ नामास्मि" ॥१७॥ (म० ब्रा० १, ६, १)—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'तस्य' माणवकस्य नामधेयं 'पृच्छति' ॥ २०—२२ ॥

भा०—आचार्य, उस लड़के के प्रति देखकर दो मन्त्रोंका स्वयं पाठ करे, 'ब्रह्मचर्यमागाम्' लड़के से पाठ करावे एवं 'को नामासि' मन्त्र को पढ़ते हुए उस लड़के का नाम पूछे ॥ २०—२२ ।

अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं वा नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येक उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिꣳसाङ्गुष्ठं गृह्णाति देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याꣳ हस्तं गृह्णाम्यसाविति ॥ २३—२६ ॥

'आचार्यः' 'अभिवादनीयं' अभिवादनाय हितं 'नामधेयं' द्वितीयजन्मसूचकं नूतनं नाम 'कल्पयित्वा' अमुकनामाहमस्मीति तन्माणवकनामैव तन्माणवकं वाचयित्वा (२३), 'अपामञ्जलिं गृहीतमुदकाञ्जलिम्' 'उत्सृज्य' परित्यज्य, "देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याꣳ हस्तं गृह्णाम्यसौ" ॥१८॥ (म०ब्रा०१,६,१८,),—'इति' (१) इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' साङ्गुष्ठं दक्षिणं पाणिं' 'गृह्णाति' (२६)। तच्च द्विजत्वसूचकं नामधेयं कीदृशं कर्त्तव्यमित्याह;—'देवताश्रयं' वेदगर्भब्रह्मव्रतेत्यादिकं, 'वा' अथवा 'नक्षत्राश्रयं' आश्विन-रौहिणेत्यादिकं (२४), 'वा' अथवा 'एके' आचार्याः 'गोत्राश्रयं' वेद—पैल्वेत्यादिकम् 'अपि' नामधेयम् आहुरिति शेषः (२५) ॥ २३—२६ ॥

भा०:—पीछे आचार्य्य स्वयं अभिवादन समय में कथनीय द्वितीय जन्मसूचक एक नवीन नाम कल्पना कर उसे लड़के को "मैं अमुक नाम वाला गुरो तुम को अभिवादन करता हूं" कहवा कर लिये हुए जलाञ्जलि को छोड़ कर "देवस्य ते"—इस मन्त्र का पाठ करते हुए दहिने हाथ से बालक के अंगुठे के साथ दहिना हाथ ग्रहण करे। वह नाम देवताश्रित, या नक्षत्राश्रित अथवा गोत्राश्रित होगा (देवताश्रित जैसे—वेदगर्भ, ब्रह्मव्रत, प्रभृति, नक्षत्राश्रित जैसे आश्विन, रौहिण प्रभृति; गोत्राश्रित जैसे—वैद, पैल्व प्रभृति) ॥ २३-२६ ॥

अथैनं प्रदक्षिणमावर्त्तयति सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्वासाविति ॥२७॥ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमꣳसमन्ववमृश्यानन्तर्हितां नाभिमभिमृशेत् प्राणानां ग्रन्थिरसीति ॥ २८ ॥

'अथ' अनन्तरम् । 'एनं' माणवकम् सूर्यस्यावृत्त मन्वावर्त्तस्वासौ ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० १६, १९),–'इति' मन्त्रं पठन् 'प्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'आवर्तयति' प्राङ्मुखं करोति, आचार्यएव ॥ २७ ॥ दक्षिणेन पाणिना' माणवकस्य 'दक्षिणांसम्' 'अन्ववमृश्य' स्पृशन्नेव "प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥ २० ॥ (म० ब्रा० १, ६, २०)'–'इति' मन्त्रं पठन् 'अनन्तर्हितां' वस्त्राच्छादनशून्यां 'नाभिम्' 'अभिमृशेत्' संस्पृशेत् आचार्यएव ॥२८॥

भा०:–अनन्तर इस बालक को प्रदक्षिण क्रम से पूर्वाभिमुख कर 'सूर्य्यस्य' इस मन्त्र का पाठ करे ॥२७॥ पश्चात् आचार्य्य "प्राणानां ग्रन्थिरसि" मन्त्र पढ़ते हुए दहिने हाथ से उस बालक को दहिने कांधे पर होकर वस्त्रादि आवरण शून्य नाभि छूए ॥ २८ ॥

उत्सृप्य नाभिदेशमहुरइति । २९ । उत्सृप्य हृदयदेशं कृशनइति । ३० । दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमꣳसमन्वालभ्य प्रजापतये त्वा परिददाम्यसाविति ॥ ३१ ॥

माणवकस्य 'नाभिदेशम्' 'उत्सृप्य' हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा "अहुर इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥ २१ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २१)'–'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः । ॥ २९ ॥ माणवकस्य 'हृदयदेशं' 'उत्सृप्य' हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा कृशन इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥२२॥ (म० ब्रा० १, ६, २२)'–'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः॥३० दक्षिणेन पाणिना' माणवकस्य 'दक्षिणमंसम्' 'अन्वालभ्य' स्पृष्ट्वा "प्रजापतये त्वा परिददाम्यमुम्" ॥२३॥ (म० ब्रा०१, ६, २३)'–'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः॥३१

भा०–बालक के नाभिदेश में हाथ चलाकर आचार्य 'अहुरः' इस मन्त्र का पाठ करे ॥ २९ ॥ इसी प्रकार हृदयदेश में हाथ चला कर 'कृशनः' मन्त्र पढ़े ॥३० ॥ फिर आचार्य दहिने हाथ से बालक के दहिने कांधे को स्पर्श कर 'प्रजापतये त्वा' मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

सव्येन सव्यं देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसाविति।३२। अथैनꣳसंप्रेष्यति ब्रह्मचार्य्यस्यसाविति समिधमाधेह्यपोऽशान कर्म्मकुरु मा दिवा स्वाप्सीरिति ॥ ३३–३४ ॥

'सव्येन' वामेन पाणिना, माणवकस्य 'सव्य' वाममंसं स्पृष्ट्वा देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसौ" ॥२४॥ (म०ब्रा०१,६,२४)'-'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥३२॥ 'अथ' तदनन्तरम्। आचार्यः,'एनं' माणवकं त्वमेतन्नामकः,अद्यप्रभृति "ब्रह्मचारी असि" (म० ब्रा० १, ६, २५)'-'इति' हेतोः 'समिधम् आधेहि अग्नौ प्रतिदिनमेव समिदाधानं कुरु, 'अपोशान कर्म' यथास्थानं यथाप्रयोजनञ्च शौचाचमनादि च कुरु, 'मा दिवा स्वाप्सीः' दिवानिद्राञ्च मा कुरु,-'इति' समिधमाधेह्यपोशान कर्म कुरु मा दिवा स्वाप्सीः ॥२६॥ (म० ब्रा० १, ६, २६) एतत्त्रितयोपदेशबोधकं मन्त्रम् पठन् 'सम्प्रेष्यति' उपदिशति। ३२-३४

भा०-इसी प्रकार वांये हाथ से बालक के वांये कांधे को स्पर्श कर 'सवित्रेत्वा' मन्त्र को पढ़े ॥३२॥ उस के पश्चात् आचार्य, इस बालक को "तुम आज से इस नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मचारी होते हो, प्रतिदिन सायं प्रातः अग्नि में समिधादान करना और शौचाचार युक्त रहना, दिनमें न सोना" ये तीन उपदेश देवे ॥३३, ३४॥

उदङ्ग्नेरुत्सृप्य प्राङाचार्य्य उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु ॥ ३५ ॥ प्रत्यङ्माणवको दक्षिणजान्वक्तोऽभिमुखआचार्य्यमुदगग्रेष्वेव दर्भेषु ॥ ३६ ॥

'आचार्यः' 'अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्या उदगग्रेषु दर्भेषु 'प्राङ्' प्राङ्मुखः सन् 'उपविशति' उपविशेत् ॥ ३५ ॥ माणवकः' तत्रैव 'उदगग्रेष्वेव दर्भेषु' 'दक्षिणजान्वक्तः' भूमिगतदक्षिणजानुकः 'आचार्यमभिमुखः' 'प्रत्यङ्' पश्चिममुखः सन् उपविशेदित्येव ॥ ३६ ॥

भा०-पश्चात् आचार्य अग्नि के उत्तर दिशा में उत्तराग्र रक्खे हुए कुशों पर पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ३५ ॥ बालक भी उसी स्थान में उत्तराग्र रक्खे हुए कुशाओं पर अपना दहिना जांघ(जानु)भूमि में लगा कर आचार्य के सम्मुख बैठे ॥३६॥

अथैनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयतीयं दुरुक्तात् परिबाधमानेत्यृतस्य गोप्त्रीति च ॥ ३७ ॥

'अथ, तदनन्तम्। आचार्यः 'एनं' माणवकं 'त्रिःप्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'मुञ्जमेखलां' मुञ्जमयीं रशनां 'परिहरन्' परिधापयन् "इयं दुरुक्तात्परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती मआगात्। प्राणापानाभ्यां बलमाहरन्ती स्वसा-देवी सुभगा मेखलेयम्" ॥ २७ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २७)'-'इति' मन्त्रं, ऋतस्य गोप्त्री तपसः परस्पी घ्नती रक्षः सहमाना अरातीः। सा मा समन्तमभिपर्येहि-

भद्रे धत्तारस्ते मेखले मा रिषाम" ॥२८॥ (म० ब्रा० १, ६, २८)'—'इति' मन्त्रं 'च' 'वाचयति'। अत्रैव यज्ञोपवीतपरिधापनव्यवहारश्च, परं कौथुमानां सूत्रकारानुल्लेखादकृतेऽपि न दोष इति नव्याः। वस्तुतो वेदाध्ययनायाचार्यसमीपे नयनमेवोपनयनं, यज्ञोपवीतधारणन्तु दैवकार्यानुष्ठानार्थमेव सूत्रकारेण विहितमिति यदायदैव दैवकार्यं कर्त्तव्यं भवेत् तदा तदैव धार्यं स्यादिति न क्षतिः, शिखापरिरक्षणन्तु सर्वथैव कार्यमेवान्यथा दैवकार्यकाले कुतआयास्यतीति॥३७॥

भा०—आचार्य, उस बालकको मूंज की बनीहुई मेखला, तीन फेरा करके पहना कर 'इयं दुरुक्तात्' और 'ऋतस्य' गोप्त्री इन दो मन्त्रों को पढ़ावे ॥३७॥

अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवीत्विति। ३८। तस्माअन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चशऋक्शइति महाव्याहृतीश्च विहृता ओंकारान्ताः॥ ३९-४०॥

'अथ' तदनन्तरम्। माणवकः 'भोः!' 'अधीहि' अध्यापय, 'भवान् मे सावित्रीम् अनुब्रवीतु'—'इति' प्रार्थनावाक्यद्वयं कथयन् 'उपसीदति' शरणागतो भवति। ३८। ततश्च 'तस्मै' माणवकाय, प्रथमं 'पच्छः' पादं पादं कृत्वा, ततः 'अर्द्धर्चशः' अर्द्धर्चमर्द्धर्चं कृत्वा, तदन्ते च 'ऋक्शः' "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्" ॥ २९ ॥ पूर्णामृचमावर्त्तयित्वा 'इति' एवमेव 'अन्वाह' अनुक्रमेण ब्रूयात् (३९) 'च' अपि 'विहिताः' विभिन्नीकृताः (१) 'ओंकारान्ताः' 'महाव्याहृतीः' "भूर्भुवस्वः"(मं०ब्रा० १। ६।)इति अनुब्रूयात् ततः ओं इत्यस्याप्युपदेशः कार्य इत्यर्थः॥ ३९, ४०॥

भा०:—अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़, नम्रता पूर्वक प्रार्थना करे कि—'हे गुरो! मुझे वेद पढ़ावें, एवं सावित्री उपदेश करें' ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार बालक कर्त्तृक वेदाध्ययन एवं उसका आरम्भ सूचक सावित्री मन्त्र के प्रथम उपदेश प्रार्थित होने पर आचार्य उसे पहिले एक २ चरण करके, पुनः आधी २ ऋचा, फिर सम्पूर्ण ऋचा बार २ आवृत्ति करा देवे। तदनन्तर "भूः, भुवः, और स्वः"—इन तीन महा व्याहृतियोंको अलग२ एवं ॐकारभी अभ्यास करावे ॥३९,४०॥

वार्क्षञ्चास्मै दण्डं प्रयच्छन् वाचयति सुश्रवसं मा कुर्विति। ४१

'च' ततः 'अस्मै' माणवकाय 'वार्क्षं' पलाशवृक्षावयवं दण्डं 'प्रयच्छन्' सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वꣳसुश्रवः सुश्रवाः। देवेष्वेव महꣳसुश्रवःसुश्रवा ब्राह्मणेषु भूयासम्" ॥ ३१ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३१).—'इति' मन्त्रं 'वाचयति' माणवकमेव। ४१

भा०:—पश्चात् आचार्य, इस माणवक के हाथ में पलाश वृक्ष का दण्ड देकर "सुश्रवसः सुश्रवसं मा कुरु" इस मन्त्र का पाठ करावे ॥ ४१ ॥

अथ भैक्षं चरति मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्यो वा सन्निहिताः स्युराचार्याय भैक्षं निवेदयति ॥ ४२—४४ ॥

'अथ' उपनयनानन्तरं 'भैक्षं' भिक्षार्थं 'चरति' अटति (४२) 'अग्रे' 'मातरमेव' भिक्षेतेति शेषः। 'च' अपि मातुरेव 'अन्ये द्वे सुहृदौ' ततः परं भिक्षेत। 'वा' अथवा 'यावत्यः' स्त्रियः 'सन्निहिताः' तत्रोपस्थिताः स्युः, ताः सर्वाएव मात्रादिक्रमेण प्रथमं भिक्षेत। पुरुषभिक्षणस्य नात्रोल्लेखइत्यपि ज्ञेयम् (४३)। संगृहीतञ्च तद् 'भैक्षं' भिक्षान्नं सर्वमेव 'आचार्याय' 'निवेदयति' उत्सृजति (४४)

भा०:—इसप्रकार उपनयन होने पर बालक भिक्षाचरण करे। पहिले माता से भिक्षा मांगे, तदनन्तर माता के दो सुहृद् के निकट, या उस स्थान में जितनी स्त्रियां उपस्थित हों, माता से आरम्भ कर सब ही के निकट भिक्षा ग्रहण करे *। सब भिक्षा को संग्रह कर आचार्य को निवेदन करे ॥ ४२—४४ ॥

तिष्ठत्यहःशेषं वाग्यतः ॥ ४५ ॥

भिक्षाचरणान्तकर्मयापितदिवाबहुभागो माणवकः 'अहःशेषं' तद्दिनावशिष्टांशं 'वाग्यतः' संयतवाक् सन् 'तिष्ठति' तिष्ठेत् अवस्थितिं कुर्यात् ॥ ४५ ॥

भा०:—इन कार्यों के करने में बालक का प्रायः सारा दिन बीत जायेगा, जो कुछ दिन का भाग शेष रह जावे, उसको चुपचाप स्थिरता से विश्राम करते हुए बितावे ॥ ४५ ॥

अस्तमिते समिधमादधात्यग्नये समिधमाहार्षमिति ॥ ४६ ॥

'अस्तमिते' दिवाकरे अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिधस्येवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन धनेनान्नाद्येन समेधिषीय (स्वाहा) ॥ ३२ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३२)—'इति' मन्त्रं पठन् 'समिधम्' समित्काष्ठैकम् 'आदधाति' अग्नाविति शेषः ॥ ४६ ॥

भा०:—पीछे सूर्यास्त होने पर "अग्नये समिध माहार्षम्" मन्त्र को पढ़ते हुए अग्नि में एक समित् काष्ठ डाले ॥ ४६ ॥

---

* पुरुष के निकट भिक्षा मांगने का कोई उल्लेख न होने से जान पड़ता है कि भिक्षा देना कार्य गृहिणी ही का है। साधारणतः भी भिक्षुक लोक 'गृहस्थ के घर पर "भिक्षा दो माई" बोल कर भिक्षा मांगा करते। काशी में ब्रह्मचारी गण भी गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित होकर "भवति भिक्षां देहि" इस वाक्य द्वारा भिक्षा मांगते हैं, इस लिये पिता आदि के निकट भिक्षा प्रार्थना और ग्रहण व्यवहार, पिता आदि के भिक्षा दान वाञ्छा की सफलता मात्र के लिये है ॥

त्रिरात्रमक्षारलवणाशी भवति ॥४७॥ तस्यान्त सावित्रश्चरुः ४८ यथार्थम् ॥ ४९ ॥ गौर्दक्षिणा ॥५० ॥ १० ॥

'त्रिरात्रं' तद्दिनप्रभृति दिनत्रयम् 'अक्षारलवणाशी' क्षारलवणभिन्नभोजी 'भवति' भवेत् ॥४७॥ 'तस्य' दिनत्रयस्यान्ते चतुर्थाहे 'सावित्रः' सवितृदेवताकः 'चरुः' पक्तव्यः होतव्यश्चेति सुतरामागतः ॥४८॥ अनन्तरं 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरणविश्रामादिकं कुर्यात् ॥ ४९॥ उपनयनसंस्कारस्यैतस्य 'दक्षिणा' 'गौः' एकैवेति समाप्तमुपनयनम् ॥ ५० ॥ १० ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥२,१०

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयः प्रपाठकः ॥ २ ॥

भा०:—उपनयन दिन से तीन दिन पर्यन्त क्षार लवण न खावे ॥ ४७ ॥ इन तीन दिन के पीछे चरु—पाक करके सविता देवता के उद्देश से आहुति प्रदान करे ॥ ४८ ॥ इस प्रकार उपनयन संस्कार शेष होने पर अन्य कार्य जो हो, अपनी इच्छानुसार करे ॥ ४९ ॥ इस उपनयन संस्कार की दक्षिणा एक गौ मात्र है ॥ ५० ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के दशमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ॥२,१०॥

और गोभिलगृह्यसूत्र का द्वितीय प्रपाठक भी समाप्त हुआ ॥ २ ॥

———:o:———

अथ तृतीयप्रपाठकः ।

अथातः षोड़शे वर्षे गोदानम् ।१। चूडाकरणेन केशान्तकरणं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरद्योतनाय । 'अतः' उपनयनकालतः षोडशे वर्षे तथाच यस्य गर्भाष्टमेऽब्देभूतमुपनयनं तस्य गर्भचतुर्विंशाब्दे, एवं यस्य नवमादि षोडशाब्दान्ते एवोपनयनं तस्य पञ्चविंशादि द्वात्रिंशाब्दान्ते 'गोदानम्' नाम संस्कारविशेषं कार्य्यम् ।१। अस्मिंश्च कर्मणि केशवपनं कर्त्तव्यम्, तच्च 'केशान्तकरणं' 'चूडाकरणेन' पूर्वोक्तेन 'व्याख्यातम्' कथितम् ; चूडाकरणवत् कर्त्तव्यमित्यर्थः॥२॥

भा०:—उपनयन काल से सोलहवें वर्ष में अर्थात् जिस का गर्भ काल से गिनती कर आठवें वर्ष में उपनयन हुआ है, उस के गर्भ से २४ वें वर्ष में, और जिस का नवम आदि १६ वर्ष की अवस्था में उपनयन हुआ हो उस का २५ वर्ष से ३२ वर्ष की उमर में गोदान संस्कार करे ॥ १ ॥ इस समावर्त्तन कार्य में जो केश कटाना पड़ता है वह पूर्वोक्त चूडाकरण के नियमानुसार होगा ॥२॥

ब्रह्मचारी केशान्तान्कारयतेसर्व्वाण्यङ्गलोमानिसंहारयते ३,४॥

'ब्रह्मचारी' ब्रह्मवेदः, तद्ग्रहणाचारविशिष्टः आद्याश्रमी, यदैव 'केशान्तान् कारयते' तदैव 'सर्वाणि अङ्गलोमानि संहारयते' कक्षवक्षोपस्थशिखाकेशानपि वापयेदित्यर्थः । ३, ४ ॥

भा०:—ब्रह्मचारी अर्थात् वेदाध्ययनाचार युक्त आद्याश्रमी जिस समय केश कटावे । उस समय कक्ष, (बग़ल) वक्ष, (छाती) उपस्थ, (लिङ्ग) और शिखा पर्य्यन्त के रोम कटावे ॥ ३, ४ ॥

गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य अविमिथुनं वैश्यस्य गौर्वैव सर्वेषाम् ॥ ५–८ ॥

अस्य हि गोदानकर्मणः 'दक्षिणा' 'गोमिथुनं' गोद्वयम् आचार्याय देयम् 'ब्राह्मणस्य' कर्त्ता ब्राह्मणश्चेदित्यर्थः (५) । 'क्षत्रियस्य' अश्वमिथुनम्' अश्वद्वयं गोदानकर्मणः दक्षिणा (६) । 'वैश्यस्य' 'अविमिथुनं' मेषद्वयं दक्षिणा (७) । 'वा' अथवा 'गौः एव' 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दक्षिणा (८) । तथाहि ब्राह्मणब्रह्मचारी, वैश्यब्रह्मचारी च स्वस्वाचार्याय गोद्वयमेव दक्षिणा वेदाध्यापनस्यदेयेति । ५–८ ॥

भा०:—इस गोदान संस्कार (समावर्त्तन) की दक्षिणा ब्राह्मण यदि ब्रह्मचारी हो, तो अपने आचार्य्य को दो गौ, ॥५॥ यदि क्षत्रिय हो, तो छः घोड़े देवे ॥ ६ ॥ और वैश्य होतो दो भेड़ा देवे ॥७॥ या ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही गौ ही दक्षिणा देवें ॥ ८ ॥

अजः केशप्रतिग्राहाय ॥ ९ ॥

'केशप्रतिग्राहाय' केशप्रतिग्रहकर्त्रे नापिताय 'अजः' पुमान् छागः एकएव दक्षिणा देया सर्वजातिब्रह्मचारिभिरिति ॥ ९ ॥

भा०:—केश लोम आदि कटवाने पर जो केशादि को फेंकता है अर्थात् नापित उसे, उस के परिश्रमार्थ एक छाग देवे ॥ ९ ॥

द्वितीयाश्रमग्रहणस्य वर्षाधिककालाऽपक्षास्तीति ज्ञायेत एव चेत्, आचार्याय गोदक्षिणादानानन्तरमपि "अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमपि"—इति ब्रह्मचर्याश्रमएवावलम्बनीयइति पुनरपि आचार्यान्तिकमुपनीतोभवेत्, तस्यैवाचार्यस्यान्तिके स्थितो ब्रह्मापरपर्यायवेदालोचनयास्योद्वाहकालं प्रतीक्षेतेति । तत्रोपनयनेतिकर्त्तव्यतामाह ;–

भा०:–[यदि ब्रह्मचारी को समावर्त्तन के अनन्तर गृहस्थाश्रम (विवाह) ग्रहण

करने में एक वर्ष से अधिक विलम्ब जान पड़े, तो आचार्य को दक्षिणा देने पर भी 'एक क्षण अनाश्रमी न रहे' के अनुसार उसी ब्रह्मचर्य्याश्रम का अवलम्ब लेना चाहिये, इस लिये पुनः आचार्य्य के समीप उपनीत हो। अर्थात् पूर्ववत् नियम से अचार्य्य के निकट रहकर ब्रह्म के अर्थात् वेद की आलोचना करते हुये अपने विवाह की प्रतीक्षा करे। यह दोवार उपनयन किस रीति से होगा सो अग्रिम सूत्र से कहते हैं]

उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातं न त्विहाहतं वासो नियुक्तं नालङ्कारः ।१०–१२। नाचरिष्यन्तꣳ सम्वत्सरमुपनयेत् ।१३।

'उपनयनेन' पूर्वोक्तेनैव 'उपनयनम्' एतदपि 'व्याख्यातम्' कथितम् (१०)। विशेषस्तु 'इह' उपनयने 'अहतं वासः' न नियुक्तम्' (११) । किञ्चेह 'अलङ्कारः' अपि न नियुक्तः इत्येव (१२) । १०–१२ ॥ एतदुपनयननिषेधमाह;– एतदुपनयनतः 'संवत्सरम्' अपि 'अचरिष्यन्तं' ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठान मकरिष्यन्तं ब्रह्मचारिणं 'न उपनयेत्' पुनरुपनीतीभवनस्य प्रयोजनं नास्तीति भावः। समाप्तं गोदानम् ॥ १३ ॥ ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यावस्थायां यथा यथाचरणं कर्त्तव्यं, यद् यच्च व्रतमनुष्ठेयम्, अतस्तद्वक्तुमारभते;–

भा०:–पूर्वोक्त उपनयन कथन द्वारा यह कहा गया है कि विशेष इस उपनयन में अखण्ड वस्त्र एवं अलङ्कार की आवश्यकता नहीं ॥ १०-१२॥ इस उपनयन के पीछे एक वर्ष काल भी जो ब्रह्मचर्य्य व्रत का अनुष्ठान न करना निश्चित हो, अर्थात् समावर्त्तन के पीछे एक वर्ष के मध्य ही में जिसके विवाह होने की सम्भावना हो, उस को इतने कम दिन के लिये पुनः उपनीत होने की आवश्यकता नहीं ॥ १३ ॥ अब ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य्यावस्था में क्या २ कर्त्तव्य हैं, सो कहते हैं:–

वार्क्षꣳ स्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ॥ १४ ॥ आचार्य्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ १५ ॥

उपनयनकाले यदा माणवकाय ' वार्क्षं दण्डं प्रयच्छन् ' तदैव ' आदिशति' अनुसूत्रवक्ष्यमाणान् उपदेशानिति ॥१४॥ ते चोपदेशाइमे;–(१) 'अधर्म्माचरणात् अन्यत्र ' अधर्माचरणमाचार्यस्य नानुकरणीयम् अधर्मोपदेशश्च न श्रवणीयः, ततोऽन्यत्र सदा सर्वथैव 'आचार्याधीनो भव' आचार्याज्ञाकारी आचार्याभिमतानुगामी च भव , इति प्रथमोपदेशः ॥ १५ ॥

भा०:–उपनयन काल में जब माणवक को दण्ड प्रदान करे उस समय

वक्ष्यमाण सूत्रों द्वारा कहे हुए उपदेशादि देवे ॥१४॥ आचार्य्य का यदि कोई अधर्म्माचरण देखो, तो उस का अनुकरण न करना, और आचार्य्य यदि अधर्म्म करने कहें तो, उसे भी न करना; अधर्म्माचरण को छोड़ कर सर्वथा आचार्य्य, जब जो करने कहें, उस समय वही करो, एवं सततकाल आचार्य्य के मतानुगामी रहने की चेष्टा करो ॥ १५ ॥

क्रोधानृते वर्जय ॥१६॥ मैथुनम् ॥१७॥ उपरि शय्याम् ॥१८॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि ॥ १९ ॥

(२,३) 'क्रोधानृते' क्रोधम्, अनृतम् मिथ्याव्यवहारञ्च 'वर्जय' सत्यपि क्रोधकारणे क्रोधकार्यं विवादादिकं मा कुरु, किञ्च मिथ्याभाषणादिकमपि न कार्यम् ॥ १६ ॥ (४) 'मैथुनं स्त्रीसङ्गं वर्जय इत्येव सर्वत्र ॥ १७ ॥ (५) 'उपरि शय्यां' गुरुशय्यातः उच्चैः शयनं वर्जय । इति पञ्चमोपदेशः ॥ १८ ॥ (६,७,८) कौशीलवं नृत्यगीतवादित्राद्यनुष्ठानम्, गन्धः घृष्टमलयजादिको माल्याद्युत्थश्च, अञ्जनं चक्षुषोः शोभासम्पादकम्; एतान्यपि त्रीणि वर्जय। अत्रापि यथा चाध्यायनस्य व्याघातकरो मनोजाविर्भावः स्यादेवं कौशीलवादिकं वर्जयेत्, न तु सामादिगीतवादित्रचर्चां, नापि गुरुप्रसादगन्धमाल्यादिं, न च रोगाद्युपशमनायाञ्जनव्यवहारंवर्जयेत।अतएवमनुनाऽभ्यधायि"यःस्रग्व्यपिद्विजोऽधीते"इत्यादि १९

भा०:–क्रोध के कोई कारण होने पर भी क्रोध प्रकाश पूर्वक विवादादि न करना एवं झूठ बोलनादि कर्म भी न करना ॥१६॥ स्त्री प्रसङ्ग न करना ।१७। गुरु की शय्या की अपेक्षा अपनी शय्या ऊंची न करना ॥ १८ ॥ जिससे मनोविकार उत्पन्न हो, ऐसा नृत्य, गीत, बाजा, आदि की चर्चा, चन्दन, और मालादिगन्ध का व्यवहार एवं आंखों में अञ्जन धारण आदि न करना ॥ १९ ॥

स्नानम् ।२०। अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ॥२१॥

(९) 'स्नानम्' जलक्रीडापूर्वकं, वर्जय ॥ २० ॥ (१०,११,१२) 'अवलेखनं' 'मुखशोभनालकातिलकादि' 'दन्तप्रक्षालनं' दन्तमलदूरीकरणायैव यावदावश्यकं तदतिरिक्तं दन्तशोभादिसम्पादनाय तुत्थरञ्जनादिनोपसेवनम्, 'पादप्रक्षालनं' आवश्यकातिरिक्तम्; इमानि च त्रीणि वर्जय ॥ २१ ॥

भा०:–जल क्रीड़ा पूर्वक स्नान न करना ॥२०॥ अलका तिलक द्वारा मुख को सुन्दर करना, तुत्थकादि द्वारा दांत रंगना एवं आवश्यकता के अतिरिक्त बहुत देर तक पैर न धोना ॥ २१ ॥

क्षुरकृत्यम् ॥ २२ ॥ मधुमांसे ॥ २३ ॥ गोयुक्तारोहणम् ॥ २४ ॥ अन्तर्ग्रामउपानहोर्धारणम् ॥ २५ ॥

(१३) 'क्षुरकृत्यम्' क्षुरेण केशलोमादिनां वापनं वर्जय। पूर्वं यदुक्तं ब्रह्मचारीत्यादि सूत्रद्वयं केशवपनव्यवस्थापकं तत् समावर्त्तनाङ्गभूतं बोध्यम्। ॥ २ ॥ (१४,१५) 'मधु' सारघम् वर्जय। २३। (१६) गोयुक्ते शकटादौ आरोहणं वर्जय ॥ २४ ॥ (१७) 'अन्तर्ग्रामे' ग्राममध्ये 'उपानहोः' चर्मपादुकयोः 'धारणं' वर्जय। २५।

भा०:—क्षुर (अस्तरा) के द्वारा केश, लोम, आदि का मुण्डन न करावे ॥२२॥ * मधु मक्खियों द्वारा एकत्र किया शहत एवं मांस भी न खावे ॥ २३ ॥ गौ द्वारा जो सवारी चलायी जावे, उस पर भी न चढ़े ॥ २४ ॥ ग्राम के मध्य हो कर जूता न पहने ॥ २५ ॥

स्वयमिन्द्रियमोचनमिति ॥ २६ ॥ मेखलाधारणभैक्षचर्यदण्डधारणसमिदाधानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते नित्यधर्माः ॥ २७ ॥

(१८) 'स्वयमिन्द्रियमोचनम्' हस्तमैथुनञ्च वर्जयेत्येव। 'इति' इमेऽष्टादश वर्जनीया गताः। २६। कर्त्तव्यानुपदिशति;— (१–५) मेखलाया धारणम्, भिक्षाचारिणोभावावलम्बनम्, दण्डस्य धारणम्, समिधः आधानम्, उदकानामुपस्पर्शनपूर्वकमीश्वरोपासनम्, प्रातरुत्थायैव गुरुजनेभ्योऽभिवादनम्, 'इति एते' पञ्च व्यवहाराः नित्यधर्माः प्रतिदिनकर्त्तव्याः ।२७। ब्रह्मचारिणां चत्वारि वेदव्रतान्यनुष्ठेयानि गोतमेनोक्तानि चाचार्योऽप्ययमाह;—

भा०:—हस्त मैथुन ** न करना। ये, १८ उपदेश समाप्त हुए ॥२६॥ मेखला धारण, भीख मांग कर पेट भरना, दण्ड धारण, समिदाधान, जल से हाथ पैर धोकर ईश्वरोपासना, एवं प्रातः ही उठ कर गुरु जनों को अभिवादन, ये पांच कर्म प्रति दिन कर्त्तव्य हैं ॥ २६, २७ ॥ समावर्त्तन के पीछे ब्रह्मचारी को और ४ व्रत करना चाहिये सो कहते हैं।

गोदानिकव्रातिकादित्यव्रतौपनिषदज्यैष्ठसामिकाः संवत्सराः ॥ २८ ॥

---

* इस के पूर्व ३ य सूत्र में जो केश मुण्डन की व्यवस्था कही गयी है, वह समावर्त्तन संस्कार में कर्त्तव्य द्वितीय सूत्रोक्त ही का विशेष विधिमात्र है ॥ ** यह दुर्गुन आज कल—स्कूल एवं कालिज के लड़कों में अधिकांश पाया जाता है इस का कारण शिक्षा का अभाव है ॥

'संवत्सराः, पूर्वोक्ताः उपनयनतः षोडशसंख्याकाः, गोदानिकादिकाः भवेयुरित्यर्थः। तत्र षोडशाब्देषु, केचनाब्दाः 'गोदानिकाः' स्युः, अत्र वेदग्रन्थानां सर्वेषामेवाध्ययनं समाप्यम्। केचनाब्दाः 'व्रातिकाः' स्युः विशेषतोऽऽरण्यसंहितोक्तव्रतपर्वणामेवानुशीलनं कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'आदित्यव्रतौपनिषदाः स्युः, अत्र आदित्यव्रतसाम्नामुपनिषद्ब्राह्मणस्य चानुशीलनं प्रधानतः कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'ज्यैष्ठसामिकाः' स्युः अत्र तु ज्येष्ठसाम्नां त्रयाणामेवानुशीलनं प्रधानतः कार्यमिति। यद्यपीमे षोडशैवाब्दाः गोदानिकाः परन्तत्राप्युत्तराब्दानां व्रातिकादिविशेषपरिचयसत्त्वादाद्याब्दानां कतिपयानां तदभावात् केचनाब्दाः प्रथमादयः सामान्यतो गोदानिका इत्येवाख्यायन्ते, पराब्दाश्च विशेषतो व्रातिकेत्यादिभिः प्रसिद्धाः। यथा च सामवेदीय आर्च्चिकः सर्व्वएव छन्दोमय स्तथापि उत्तरदलस्य उत्तरार्च्चिकइति विशेषनामप्रसिद्धेः पूर्वस्य तु 'छन्दः' इत्येव। यथापि ज्योतिःशास्त्रे, ग्रहादीनां सर्वेषामेव दशाकालानां बहुत्वेऽपि निजभोग्या वर्षाः मासा वा तत्र स्वल्पाएव भवन्तीति ॥ २८ ॥

भा०:—उपनयन से १६ वर्ष ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन कर ब्रह्मचारी कर्त्तव्य वेदाध्ययनादि सम्पूर्ण होने पर आचार्य्य को दक्षिणा स्वरूप दो गौ दान देकर अपने घर लौट जाता, इसी कारण २४ वर्ष के वयस में कर्त्तव्य उस संस्कार को 'गोदानिक' एवं 'समावर्त्तन' कहते हैं। इस १६ वर्ष के बीच, ४ व्रत करने पड़ते हैं और उस के अनुयायी ही यह षोडशाब्द चार नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। उन में से जो कई एक वर्षों में वेद ग्रन्थ समस्त का अध्ययन सामान्यतः समाप्त होगा उसे गोदानव्रत एवं उस कई एक वर्ष को उस का अनुयायी 'गोदानिक अब्द' कहते हैं। उस के पश्चात् जो कई एक वर्ष में पुनः "अरण्य संहिता" के व्रत पर्व का विशेष अनुशीलन करना होता, उस कई एक वर्ष को 'व्रातिकाब्द' कहते। अनन्तर जो कई एक वर्ष में "आदित्य व्रत" साम आदि और उस के साथ उपनिषद् ब्राह्मण का विशेष अनुशीलन करना पड़ता, उस कई एक वर्ष को "आदित्य व्रतौपनिषद् अब्द" कहते। इसी प्रकार शेष के जिस वर्ष में, या कई एक वर्ष में ज्येष्ठसाम आदि का विशेष अनुशीलन किया जाता, उस कई एक वर्ष को "ज्येष्ठसामिक अब्द" कहते। यद्यपि वस्तुतः ये षोडशाब्द ही "गोदानिक" हैं, किन्तु जिस प्रकार सामवेदीय आर्च्चिक ग्रन्थ का आद्यन्त सब ही छन्दोमय होने पर भी उत्तर दल का 'उत्तरा' यह विशेष नाम रहने से पूर्व दल मात्र को ही 'छन्दः' कहते; उसीप्रकार इस स्थान में भी उत्तराब्द आदि का व्रतादि विशेष नाम रहने से प्रथमादि कई

एक वर्ष मात्र को 'गोदानिक शब्द कहते। ज्योतिष शास्त्र में भी ग्रहों की दशा समधिक काल होने पर भी प्रथम कई एक वर्ष, या कई एक मास मात्र उस ग्रह की 'अपनीदशा' कह कर परिचित होती ॥ २८ ॥

तेषु सायं प्रातरुदकोपस्पर्शनम्। ॥ २९ ॥ आदित्यव्रतन्तु न चरन्त्येके ॥ ३० ॥

'तेषु' गोदानिकादिषु चतुर्ष्वेव व्रतेषु 'सायंप्रातः' 'उदकोपस्पर्शनम्, आचमनादिपूर्वकमीश्वरोपासनं कार्यम् ॥ २९॥ 'एके' 'आदित्यव्रतन्तु' न 'चरन्ति' उपनिषद्व्रतमेव केवलमाचरन्ति न पुनरादित्यव्रतयुक्तं तदिति भावः ॥३०॥

भा०:—इन्हीं गोदानिक आदि चार व्रतों में सायङ्काल एवं प्रातःकालमें आचमन आदि करके यथोक्त रीति से ईश्वरोपासना करे ॥२८॥ अनेक लोग "उपनिषद्" व्रत के साथ "आदित्यव्रत" का अनुशीलन नहीं करते ॥ ३० ॥

ये चरन्त्येकवाससो भवन्त्यादित्यञ्च नान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्षशरणाभ्यांनापोऽभ्यवयन्त्यूर्द्ध्वं जानुभ्यामगुरुप्रयुक्ताः ।३१-३३-१

'ये' तु 'चरन्ति' चरेयुः, ते 'एकवाससः' उत्तरीयहीनाः 'भवन्ति' भवेयुः तावत्कालमिति तेषां प्रति प्रथमोपदेशः । 'च' पुनः 'वृक्षशरणाभ्याम् अन्यत्र' 'आदित्यं न अन्तर्दधे' वृक्षच्छायां गृहे च भवत्येवादित्यान्तर्धानम् ततोऽन्यत्र आदित्यान्तर्धानाय छत्रादिकं न व्यवहरेयुरिति द्वितीयः। 'अगुरुप्रयुक्ताः' गुरुभिः विशेषकाकार्यार्थमननुज्ञाताः 'जानुभ्यामूर्द्ध्वम् अपः' जानुदघ्नाधिकान्युदकानि 'न अभ्यवयन्ति' नावतरन्ति गंभीरनदीपारं न गच्छेयुरिति तृतीयोपदेशः । ३१—३३ । १

इति सामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३,१

भा०:—जो लोग 'आदित्यव्रत' के साथ 'उपनिषद्व्रत' अवलम्ब करते हैं, उन को निम्न लिखित तीन व्रत अवलम्बन करना चाहिये। प्रथम—जब तक इस व्रत का अनुष्ठान करे, उत्तरीय वस्त्र का व्यवहार न करे, एक ही वस्त्र से निर्वाह करे। द्वितीय, तब तक, घर एवं वृक्ष के अतिरिक्त सूर्य को तिरोहित (छिपावे) न करे अर्थात् छाते आदि का व्यवहार न करे। तृतीय, तब तक, गुरु की विशेष आज्ञा विना, जानु परिमाण जल से समधिक जल में न जावे ॥३१—३३॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीयअध्यायकेप्रथमखण्डकाभाषानुवादसमाप्तहुआ ॥ ३ । १ ॥

———○:—:0:—:○———
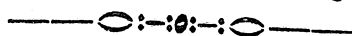
द्वादशमहानाम्निकाःसंवत्सरा नवषट् त्रय इति विकल्पः । १-३

'महानाम्निकाः' महानाम्निसामानुशीलनसाध्याः 'संवत्सराः' द्वादश, नव, षट, त्रयः'-'इति विकल्पः' अस्ति। इमे च काम्यव्रतसाधना द्वादशादिका अब्दाः गोदानिकषोडशाब्दतोऽतिरिक्ता ज्ञेयाः । १-३ ॥

भा०:-"महानाम्नी" नाम से प्रसिद्ध सामानुशीलन-साध्य व्रत करे, वह १२, ९, ६, या ३ वर्षों में पूरा होगा। ये द्वादश आदि वर्ष, पूर्वोक्त १६ वर्ष से अतिरिक्त है। जो लोग इस काम्यव्रत के अनुष्ठान करने की इच्छा करें, वे, षोडशाब्द में गोदानादि चारो व्रत अनुष्ठान करके अवश्य कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य्य समाप्त कर और यथा सामर्थ्य १२, ९, ६ वा ३ वर्ष और भी ब्रह्मचर्य्य करें। इस व्रत का फल आगे कहा जावेगा ॥ १-३ ॥

संवत्सरमप्येके । ४ ।व्रतन्तु भूयः पूर्वैश्चेच्छ्रुतामहानाम्न्यः।५,६

'संवत्सरम्' 'अपि' तस्य साम्नोऽनुशीलनम् 'इति' 'एके' आचार्या वदन्ति ।४

'तु' अपि 'व्रतम्' एकवार्षिकमेवेदम् 'भूयः' बहु मन्येत, यदि 'चेत्' 'पूर्वैः' व्रतप्राक्कालैः 'महानाम्नयः' 'श्रुताः' अनुशीलिताः स्युः । ५, ६ ॥ एतत्काम्यकर्मणोबह्वादरताबोधनाय वेदश्रुतं लौकिकप्रवादं दर्शयति ;-

भा०:-कोई २ आचार्य्य कहते हैं कि एक ही वर्ष इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४ ॥ यदि इस व्रत के अनुष्ठान के पूर्व "महानाम्नीसाम" की रीत्यनुसार शिक्षा हो जावे, तो यही एक वर्ष व्रत यथेष्ठ है ॥ ५, ६ ॥

अथाहि रौरुकि ब्राह्मणं भवति कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्वरीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति ॥ ७-९ ॥

'अथापि' 'रौरुकि ब्राह्मणं' रौरुकिनामब्राह्मणोक्तं लौकिकप्रवादवचनं 'भवति' अस्ति। किन्तत् ? इत्युच्यते-'ह' निश्चयं पुरा 'मातरः' 'कुमारान्' स्वपुत्रान् 'पाययमानाः' स्तन्यमिति यावत् आहुः स्म' उक्तवत्यः । किमुक्तवत्यः तदाह "हे 'पुत्रकाः !' यूयं 'शक्वरीच्छन्दोमूलकमहानाम्नीनां 'व्रतम्' अनुशीलननियमं 'पारयिष्णवः' 'भवत'-'इति' ।७-९।।इदानीं तद्व्रतकालेष्वनुष्ठेयानाह-

भा०:-"रौरुकिब्राह्मण" (ग्रन्थ) में एक लौकिक प्रवाद है कि मातृगण अपने पुत्रादिक को स्तन्य पान कराते २ कहती हैं कि "हे वत्स ! शक्वरी व्रतानुष्ठान के नियम को पार करने में समर्थ होओ" । महानाम्नी साम की अस्थि स्वरूप पद्य मन्त्र आदि शक्वरी छन्द है ।॥ ७, ८, ९ ॥

तास्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनम् । १० नानुपस्पृश्य भोजनं

प्रातः । ११ सायमुपस्पृश्याभोजनमासमिदाधानात् ॥१२॥

(१) 'तासु' शक्करीषु शक्करीसाधनायेति यावत् । 'अनुसवनम्' प्रतिसन्ध्यम् 'उदकोपस्पर्शनम्' जलैर्हस्तपादादिकं विधूयेश्वरोपासनं कर्त्तव्यमिति प्रथमनियमः ॥१०॥ (२) प्रतिसन्ध्यम् 'अनुपस्पृश्य' ईश्वरोपासनायोदकस्पर्शनमकृत्वा 'प्रातर्भोजनम्' अपि न कर्त्तव्यम् ॥ ११ ॥ (३) 'सायम्, 'उपस्पृश्य' अपि 'आसमिदाधानात्' समिदाधानात् प्राक् 'अभोजनं' भोजनं न कर्त्तव्यम् ॥ १२ ॥

भा०:—उस महानाम्नी व्रत में प्रत्येक सन्धिकाल में जल से हाथ पैर आदि धोकर ईश्वरोपासना करे ॥ १० ॥ प्रति सन्धाकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल स्पर्श आदि किये विना "प्रातराश" (प्रातःकालीन भोजन) भी न करे ॥ ११ ॥ सायंकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल न ग्रहण करके भी समिदाधान के पहिले भोजन न करना अर्थात् सन्ध्योपासन और समिदाधान समाप्त करके 'सायमाश' (सन्ध्या का भोजन) भोजन करे ॥ १२ ॥

कृष्णवस्त्रः ।१३। कृष्णभक्षः । १४ । आचार्याधीनः । १५ । अपन्थदायी । १६ । तपस्वी । १७ । तिष्ठेद्दिवा । १८ । आसीत नक्तम् । १९ । वर्षति च नोपसर्पेच्छन्नम् ॥ २० ॥

(४) कृष्णवर्णं रञ्जितमपि वा मलदूषितमेव वस्त्रं व्यवहरेत् । १३ । (५) कदर्याकदर्याविचारेणैवान्नादिकं भक्षणीयम् । १४ (६) आचार्यस्य अधीनः सर्वतआज्ञाकारी भवेदिति शेषः । १५ (७) पथिकेभ्यः पन्थादानशीलो न भवेत् तथाच स्नातकव्रतमाचरेदिति भावः । १६ (८) भवेदित्येव । तपस्वित्वञ्चाग्रिमसूत्रत्रिकेण स्फुटीभविष्यति । १७ (क) 'दिवा' अहनि 'तिष्ठेत्' इत्येव ; नोपविशेत् शयनकथा तु दूरपराहता । १८ (ख) 'नक्तम्' रात्रौ 'आसीत' शयनोपवेशने कुर्वीत, न च तिष्ठेदिति नियमः । १९ (ग) 'वर्षति च' पर्जन्ये छन्नं' मनुष्यादिभिर्निर्मितं गृहादिकं 'न उपसर्पेत्' नाश्रयेत, वृष्टिषिक्तएव भवेदित्याशयोऽथवा वृक्षादिच्छायावलम्बनेऽपि न दोषः । २० ॥

भा०:—काला, रंगा हुआ (किसी रंग में) या मलिन वस्त्र व्यवहार करे॥१३॥ भला, बुरा, विचार न करके जिस समय जो भोजन मिले, उसी को खावे ॥१४॥ सर्वथा आचार्य्य का आज्ञाकारी हो ॥ १५ ॥ अपरापर पथिक गण को रास्ता देने में वाध्य (मजबूर) न हो अर्थात स्नातक व्रतानुष्ठान कारी होवे ॥१६॥ तपस्वी होवे । "तपस्वी" का लक्षण ३ सूत्रों में आगे कहेंगे ॥ १७ ॥ दिन में खड़ा रह कर काल काटे, सोने की बात तो दूर रहे, बैठे भी नहीं ॥ १८ ॥

रात्रि काल में बैठे या सोवे, परन्तु खड़ा न हो ॥१९॥ मेह वर्षने पर पानी से भींगने के भय से मनुष्यादि निर्मित गृहादि का आश्रय न करे; प्रत्युत दिन में खड़ा होकर, एवं रात्रि में बैठ, या सोकर, पानी वर्षते में भींगते, अथवा विशेष क्लेश बोध होने पर, वृक्ष आदि नैसर्गिक छाया भी अवलम्बन करे, तो हानि नहीं २०

वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्कर्य इति । २१ । विद्योतमानं ब्रूयादेवꣳरूपाः खलु शक्कर्यो भवन्तीति । २२ । स्तनयन्तं ब्रूयान्मह्या महान् घोष इति ॥ २३ ॥

(९) 'वर्षन्त' पर्जन्य मभिलक्ष्य 'आपः' इमाः अपि 'शक्कर्यः' शक्करिछन्दोरूपाएव 'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २१ (१०) 'विद्योतमानं' वलाहकमभिलक्ष्य 'एवंरूपाः खलु शक्कर्यः भवन्ति'-'इति' एवं 'ब्रूयात्' ।२२। (११) 'स्तनयन्तं' गर्जन्तं घनघटामण्डल मभिलक्ष्य 'मह्याः' महत्याः शक्कर्याएव 'महान् घोषः 'इति' एवं 'ब्रूयात्' ॥ २३ ॥

भा०:-पानी वर्षते देख कर बोले कि "ये जल धारा समस्त शक्करी छन्दोमय मन्त्र हैं", विजुली देख कर-"शक्करी छन्द सब भी निश्चय इसी प्रकार हैं"। मेघ गर्जन सुनकर बोले कि 'ये बड़े २ शब्द अवश्यही महती शक्करीछन्द केहैं'। २१-२३।

न स्रवन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् ।२४। न नावमारोहेत् ।२५। प्राणसꣳशये तूपस्पृश्यारोहेत् ॥ २६ ॥

(१२) 'स्रवन्तीं' नदीम् 'अनुपस्पृश्य' उपस्पर्शन मकृत्वैव 'न अतिक्रामेत् पन्थानमिति । २४ (१३) 'नावं न आरोहेत्, सन्तरणेनैव नदीपारादिकं गच्छेदिति भावः । २५ (१४) 'प्राणसंशये' यत्र सन्तरणेन पारादिगमने प्राणसंशयः स्यात्, तत्र ' तु' 'उपस्पृश्य' जलम् 'आरोहेत्' नावमिति ॥ २६ ॥

भा०:-रास्ते-में यदि स्रोतस्वती नदी अनति दूरपर बांये, या दहिने मिले, उस को विना स्पर्श किये न जावे । नौका पर सवार न हो, तैर कर ही नदी पार आदि गमन करे । जिस स्थान में तैर कर पार आदि जाने से प्राण का भय हो, तो वहां जल स्पर्श करके नौका में बैठ कर पार जावे ॥ २४-२६ ॥

तथा प्रत्यवरुह्य । २७ । उदकसाधवो हि महानाम्न्य इति ।२८। एवं खलु चरतः कामवर्षी पर्जन्यो भवति ॥ २९ ॥

'प्रत्यवरुह्य' नौतइति यावत् 'तथा' एव उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम् । २७ । महानाम्नीव्रते कथमेवं कर्त्तव्यमित्याह-'हि' यतः 'महानाम्न्यः' ऋचः 'उदकसाधवः'

उदकव्यवहारेणैव साधनीया भवन्ति अतः एतद्व्रतसाधनाय सर्वथैवोदकव्यवहारो विधेय इति भावः ॥ २८ ॥ तेन किम्फलमित्याह;—'एवम्, उक्तप्रकारेण 'चरतः' जनस्य 'खलु' निश्चयमेव 'पर्जन्यः' कामवर्षी भवति'। एवञ्च व्रतमिदं काम्यमिति फलितम् ॥ २९ ॥

भा०:—नौका से उतरते समय भी उसी प्रकार जल स्पर्श करे। महानाम्नी ऋग् आदि जिस कारण जल व्यवहार द्वारा ही साधनीय है, इस लिये इस व्रत में सब प्रकार से जल का व्यवहार कर्त्तव्य कहा गया है, इस प्रकार आचरण करने वाले के पक्ष में पर्जन्य (मेघ) निश्चय ही कामवर्षी होते। अर्थात् इस प्रकार व्रतानुष्ठान सिद्ध—व्यक्ति के वृष्टि की इच्छा करने पर वृष्टि हो ही गी। इस लिये इस को "काम्य—कर्म" कहते हैं ॥२७—२९ ॥

अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु ॥ ३० ॥

'वा' अथवा 'कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु' पूर्वोक्तेषु 'अनियमः' कर्त्तव्यतया नियमो न स्वीकर्त्तव्यः, असमर्थश्चेदकृतेऽपि कस्मिंश्चिन्नियमे न क्षतिरित्यर्थः ॥३०॥

भा०:—या, असमर्थ होने के कारण पूर्वोपदिष्ट कृष्ण वस्त्र धारण आदि नियम प्रतिपालन न करने में दोष नहीं ॥ ३० ॥

तृतीये चरिते स्तोत्रीयामनुगापयेदेवमितरे स्तोत्रीये सर्व्वा वाऽन्ते सर्वस्य ॥ ३१—३३ ॥

यावत्कालमेतद्व्रतमाचरितव्यम्भवेत्, तस्य 'तृतीये' अंशे 'चरिते' 'स्तोत्रीयां' प्रथमामृचम् 'अनुगापयेत्' आचार्यः। व्रतानुष्ठेयकाल-तृतीय-भाग-गते आचार्यस्तं व्रतिनमाद्यर्ङ्मूलकं सामाध्यापयेदित्यर्थः (३१) 'इतरे' द्वितीय-तृतीये अपि 'स्तोत्रीये' ऋचौ 'एवम्' तृतीयांशानुसारत एवानुगापयेत्। एवं हि व्रतकालस्य मध्यम तृतीयेंऽशेऽतीते मध्यमर्ङ्मूलकं सामाध्यापयेत् किञ्चान्तिमतृतीयेंऽशेऽन्तिमर्ङ्मूलकं साम चाध्यापयेदिति पर्यवसितार्थः (३२) 'वा' अथवा 'सर्वस्य' व्रतकालस्य 'अन्ते' एकदैव 'सर्वाः' स्तोत्रीयाः अनुगापयेत्, महानाम्नीसाम पूर्णमेवाध्यापयेदिति यावत् (३३) ॥३१—३३॥ यद्विहितं महानाम्नीसामानुगापनं तत्रेति कर्त्तव्यतामाहः—

भा०:—यह महानाम्नी व्रत जब तक अनुष्ठेय हो, उसके एक तृतीयांश समय बीतने पर, आचार्य इस व्रती को प्रथम ऋग् गान का अभ्यास करावे, पीछे और एक तृतीयांश समय बीतने पर मध्यम ऋग् का गान उपदेश करे, अनन्तर शेष तृतीयांश बीतने पर शेष ऋग् का भी गान करावे, या समस्त

व्रतकाल शेष होने पर एक ही वार में तीनों ऋचाओं का गान करावे, अर्थात् समस्त महानाम्नी साम का उपदेश अन्त में एक ही समय प्रदान करे॥३१-३३॥

उपोषिताय सम्मीलितायानुगापयेत् ॥ ३४ ॥

'उपोषिताय' वक्ष्यमाण (३७) विध्यनुगतभोजनशून्याय किञ्च 'सम्मीलिताय' वक्ष्यमाण (३५) विध्यनुगतवसनबद्धनेत्राय एव ब्रह्मचारिणे 'अनुगापयेत्' शक्करी स्तोत्रीयास्तिस्रः, आचार्यः ॥ ३४ ॥ सम्मीलनप्रकार माहः—

भा०:—३७ वें सूत्र में कहे अनुसार अभोजन और ३५ वें सूत्र में कहे अनुसार आंख बन्द करना; ब्रह्मचारी को आचार्य्य शक्करी छन्द के तीन स्तोत्रीय गान करावे, इसी गान को महानाम्नी—साम कहते हैं ॥ ३४ ॥

कंसमपां पूरयित्वा सर्व्वौषधीः कृत्वा हस्ताववधाय प्रदक्षिणमाचार्य्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ॥ ३५ ॥

'कंसं' पात्रमेकम् 'अपां' प्रदानेन 'पूरयित्वा' तत्रोदकपूर्णकांस्यपात्रे 'सर्वौषधीः, व्रीह्यादीः सप्त 'कृत्वा' क्षिप्त्वा, तत्रैव 'हस्तौ' ब्रह्मचारिणः 'अवधाय' निमग्नौ कारयित्वा 'आचार्यः' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'अहतेन वसनेन' तस्यैव अक्षिणी 'परिणह्येत्' बद्धे कुर्यात् । इत्थमेव सम्पाद्यं तस्य सम्मीलनम् ॥३५॥

भा०:—आचार्य्य, एक कांसे का पात्रजल पूर्णकर उस में धान्य आदि सात प्रकार की औषधि डालकर उस में ब्रह्मचारी के दोनों हाथ को डुबाकर रक्खे और इसी अवस्था में उस की दोनों आंखों को अखण्ड वस्त्र से बान्ध देवे । इस प्रकार मुद्रित नेत्र होगा । एवं इसी क्रिया का नाम 'परिणहन' है ॥३५॥

परिणहनान्ते वाऽनुगापयेत् । ३६ । परिणद्धो वाग्यतो न भुञ्जीत त्रिरात्रमहोरात्रौ वा ॥ ३७ ॥

'परिणहनान्ते' 'वा' च 'अनुगापयेत्' ब्रह्मचारिणं महानाम्नीसाम आचार्यः । ३६ । 'परिणद्धः' सः 'वाग्यतः' भवेत् किञ्च 'त्रिरात्रम् अहोरात्रौ वा, यथासामर्थ्यं 'न भुञ्जीत' भोजनं न कुर्वीत ॥ ३७ ॥ परिणहनोपवासविकल्पमाह;—

भा०:—इस प्रकार 'परिणहन' अर्थात् आंख बान्धने पर आचार्य्य ब्रह्मचारी को महानाम्नी साम का अध्ययन करावे ॥ ३६ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से परिणद्ध ब्रह्मचारी संयतवाक् हो अपनी शक्ति अनुसार तीन रात, या एक दिन रात भोजन न करे ॥ ३७ ॥ अब परिणहन पूर्वक उपवास का अनुकल्प कहते हैं ।

अपिवाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तभयाच्छ्वोभूतेऽरण्येऽग्निमुपस-

माधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेदग्नि माज्यमादित्यं ब्रह्माणमनड्वाहमन्नमपोदधीति स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यमिति एवं त्रिः सर्वाणि ॥ ३८—४२ ॥

'अपि वा' अथवा 'आ अस्तमयात्' सूर्यास्तकालादारभ्य 'अरण्ये तिष्ठेत्' अरण्यस्थितिं कुर्वीत (३८)। ततः 'श्वोभूते' प्रभातायां रजन्यां 'अरण्ये, एव तत्र 'अग्निम्' 'उप समाधाय' यथाविधि प्रज्वाल्य तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ ब्रह्मचारी 'व्याहृतिभिः, भूर्भुवःस्वरिति 'हुत्वा' (३९) 'अथ' अनन्तरम्, आचार्यः 'एनम्' ब्रह्मचारिणं 'अग्निम्' आज्यम्, आदित्यं, ब्रह्माणम्, अनड्वाहम्, अन्नम्, अपः, दधि'—इति' अष्टौ 'अवेक्षयेत्' दर्शयेत् (४०)। तत्र च 'स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यम्'—'इति' इमं मन्त्रं पाठयेत् (४१)। 'एवं' उक्तलक्षणं मन्त्रं 'त्रिः' त्रिवारं 'सर्वाणि' वस्तूनि प्रति पाठयेदित्येव। तथाच एतन्मन्त्रस्य त्रिस्त्रिः पाठेनैव अग्न्यादीनामवेक्षणमिति निष्पन्नम् (४२)। ३९—४२॥

भा०:—अथवा सूर्य्यास्त समय से वन में रहे। अनन्तर निशा-प्रभात समय उसी वन में यथाविधि अग्नि जलाकर, उसी जलती आग में व्याहृति मन्त्र से हवन प्रदान करे। फिर आचार्य्य उसे अग्नि, आज्य, आदित्य, ब्राह्मण, वृषभ, अन्न, जल, और दधि—ये आठ माङ्गलिक वस्तु क्रमशः दिखलावे एवं प्रत्येक वस्तु के देखते समय तीन २ वार स्वः देखा—ज्योतिः देखा कहवावे ॥३८-४२॥

शान्तिं कृत्वा गुरुमभिवादयते। ४३। सोऽस्य वाग्विसर्गः॥४४॥

सर्वकर्मशेषे 'शान्तिं कृत्वा' शान्तिपाठं पठित्वेति यावत् 'गुरुम्' आचार्यम् 'अभिवादयते'। ४३ 'सः' अभिवादनकालएव'अस्य' व्रतिनः 'वाग्विसर्गः' वाचां विसर्गो यत्र तादृशः ॥ ४४ ॥

भा०:—समस्त कर्म की समाप्ति में शान्ति पाठ कर आचार्य्य को अभिवादन करे ॥ ४३ ॥ गुरु को अभिवादन करने पर्य्यन्त ब्रह्मचारी संयतवाक् रहे एवं अभिवादन के पश्चात् 'संयतवाक् का नियम छोड़ देवे ॥ ४४ ॥

अनड्वान् कंसो वासो वर इति दक्षिणाः प्रथमे विकल्प आच्छादयेद्गुरुमित्येके। ४५, ४७ ॥

'अनड्वान्' वृषभः, 'कंसः' कांस्यपात्रम्, 'वासः' वसनम्, 'वरः' गौः 'इति' चतस्रः 'दक्षिणाः' महानाम्निव्रतस्येति शेषः (४५)। तत्र च 'प्रथमे' अनडुद्द्रव्ये एव'विकल्पः'विकल्पतः कंसादीना मन्यतमोऽव्यवस्थेयः (४६)।'एके'आचार्याः 'तु''गुरुम् आच्छादयेत्'—वासोभिरिति शेषः—इत्येव विदधतीति (४७)। ४५-४७

भा०:—इस महानाम्नी व्रत के साथ वृषभ, कांस्यपात्र, वसन, और गौ दक्षिणा देवे। इन में से कांस्यपात्र आदि तीन वस्तु गौ का ही विकल्प है। इस से वृषभ ही प्रकृत दक्षिणा है। कांस्य प्रभृति तीनों वस्तु साध्यानुसार व्यवस्था कियी है। अर्थात् जिस को गौ न हो, वह कांस्यपात्र, इस के अभाव में वसन, इस के अभाव में गौ। कोई २ आचार्य्य कहते हैं कि गुरु को सर्व्वाङ्ग वस्त्र द्वारा आवृत्त करे ॥ ४५—४७ ॥

ऐन्द्रः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादृचंसाम यजामह इत्येतयर्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति चोभाभ्यां वा अनुप्रवचनीयेष्वेवम्॥४८,४९

महानाम्निकव्रतकृत्यमुक्त्वेदानीं सर्वव्रतसाधारणशेषकर्त्तव्यानि क्रमाद् विधत्ते;

'ऐन्द्रः' इन्द्रदेवताकः 'स्थालीपाकः' पक्तव्यइति यावत्। 'तस्य' स्थालीपाकान्नस्य भागैकम् 'ऋचं साम यजामहे (४, २, ३, १०)'—'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'सदसस्पतिमद्भुतम् (२,२,३,४,)'—'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'उभाभ्याम्' एव ऋग्भ्याम् 'जुहुयात्' (४८)। 'एवम्' उक्तप्रकारो विधिः 'अनुप्रवचनीयेषु' सर्वसामाध्ययनेष्वेव बोध्यः, न तु महानाम्निसामाध्ययनार्थएवेति ॥४८,४९

पूर्वत्र (२प्र० १०ख० १६सू०) व्रतग्रहणकाले ये मन्त्रा विहिताः, व्रतसमाप्तिकाले तेषामेव पाठपरिवर्त्तनेन व्यवहारो विधीयते;—

भा०:—इन्द्र देवताक स्थाली पाक चरु प्रस्तुत करे। एवं इस चरु को यथाभाग ग्रहण कर "ऋचं साम यजामहे" (४,२,३,१०) मन्त्र पाठ करते हुए अथवा "सद सस्पतिमद्भुतम्" (२,२,३,७) मन्त्र पाठ करते हुए किंवा दोनों मन्त्र का पाठ कर होम करके ॥४८॥ जो कोई साम ग्रन्थ अध्ययनकरे उन सबही ग्रन्थ की समाप्ति में यह होम करे, केवल महानाम्नी साम ही के लिये नहीं। ४८,४९।

महानाम्नी व्रत में जो २ कर्त्तव्य है सो २ कहकर अब साधारण व्रतों के अन्त में जो विशेष कर्त्तव्य है उसे कहते हैं:—

[पूर्व (प्र० २ खं० १० सू० १६) व्रत ग्रहण काल में जो मन्त्र आदि कहे गये हैं, कुछ पाठ बदल कर वे ही सब व्रत समाप्ति काल में भी विहित हैं।]

सर्वत्राचार्षं तदशकं तेनारात्समुपगामिति मन्त्रविशेषः ।५०।

'सर्वत्र' व्रतान्तेषु 'मन्त्रविशेषः' पाठपरिवर्त्तनकृतः कर्त्तव्य इति कानि च तानि पाठपरिवर्त्तनानि ? इत्याह—'अचार्षम्', 'तदशकम्' 'तेनारात्सम्' 'उपागाम्' 'इति' इमानि। तानि च मन्त्रब्राह्मणोक्तेषु 'अग्ने व्रतपते (१,६,९-१३)' इत्येवमादिषु पञ्चसु बोध्यानि ॥ ५० ॥

भा०:—व्रत समाप्त होने पर पूर्वोक्त मन्त्र (म० ब्रा० १,६,९–१३) क्रिया आदि भूतकाल के रूप में व्यवहृत करे ॥ ५० ॥

आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेषो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ॥५१॥

'आग्नेये' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'अजः' एकः आचार्याय देयः। 'ऐन्द्रे' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'मेषः' एकः आचार्याय देयः। 'पावमाने' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'गौः' एका आचार्याय देया। इति 'पर्वदक्षिणाः' गेयगाननाम-गानग्रन्थीय-पर्वनाम-परिच्छेदानामध्ययन-निमित्ता दक्षिणाः आचार्यलभ्याः, ताश्च ब्रह्मचर्यावस्थायां दातुमसमर्थश्चेत् गृहस्थाश्रमप्रवेशकाले एव दातव्याः तत्र च न दोषश्रुतिः । ५१। गुरुकुलात् पितृगृहे प्रत्यागतस्य गुर्वादिभोजनं विधत्ते ;–

भा०:—आग्नेय पर्व अधीत होने पर, आचार्य को एक छाग दक्षिणा देवे, ऐन्द्र पर्व पढ़ चुकने पर, एक भेड़ा एवं पावमान पर्व पढ़ लेने पर एक गौ दक्षिणा देवे। इस को पर्वदक्षिणा कहते। अर्थात् गेयगान नामक सामवेदीय गान ग्रन्थ का पर्व नाम से प्रधान परिच्छेदत्रय के पढ़ाने की दक्षिणायें हैं, यदि इसे ब्रह्मचर्यावस्था में प्रदान न कर सके तो गृहस्थाश्रम के प्रवेश काल में भी इस ऋण को चुका देवे तो हानि नहीं ॥ ५१ ॥

प्रत्येत्याचार्य्यं सपर्षत्कं भोजयेत्सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ५२,५३

'प्रत्येति' गुरुकुलात् स्वगृहे प्रत्यागतः 'सपर्षत्कं' पुत्रादिपरिजनसहितम् 'आचार्यं' 'भोजयेत्'। तदिदं भोजनं स्वगृहे आचार्यादिकमानीय आचार्यगृहे गत्वा वेति न नियमः (५२)। किञ्च 'सब्रह्मचारिणः' सतीर्थाः समानकालव्रत चारिणश्च 'उप' समीपे स्वगृहे 'समेतान्' निमन्त्रणाहूतान् 'च' अपि भोजये-दित्येव (५३) ॥ ५२, ५३ ॥

भा०—गुरुकुल से अपने घर वापिस होने पर गुरु पुत्रादि गुरु परिजन के साथ गुरुको भोजन करावे। (यह भोजन, चाहे अपने घर हो, या गुरु के ही घर पर हो) परन्तु निज सहपाठी आदिक को और समकाल ब्रह्मचर्य समाप्तकारी गण को भी उसी समय अपने घर पर निमन्त्रण कर भोजन करावे ॥ ५२, ५३ ॥

ज्येष्ठसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापनकल्पो व्याख्यातः॥५४॥

'ज्येष्ठसाम्नः' 'अनुगापनकल्प' अध्यापनप्रकारः 'महानाम्निकेन एव' कथितः। ज्येष्ठसाम च महानाम्निकमिव उपोषितमुपनद्धाक्षमरण्यगं वाध्याप-येदित्यर्थः। ५४ अथेदानीं कौथुमानां चिरप्रतिपाल्यनियमानाह;–

भा०—ज्येष्ठसाम के पढ़ाने की प्रणाली महानाम्निकसाम की नाईं है। अर्थात् ज्येष्ठसाम के अध्ययन में भी विद्यार्थी को उपवास रहकर, आंख बांध कर, या वन जाना पड़ता है ॥ ५४ ॥ कौथुम शाखाध्यायियों के प्रतिपाल्य नियम कहते हैं ।

तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति । ५५ न शूद्रामुपेयात् ।५६ न पक्षिमांसं भुञ्जीत। ५७ एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत्५८

'तत्र' समावर्त्तनात् परम् 'एतानि' नित्यव्रतानि' सर्वथैव प्रतिपाल्यनियमाः 'भवन्ति' । ५५ (१) शूद्रां न उपेयात्' शूद्रायाः पाणिग्रहणं न कुर्यात् । ५६ (२)। 'पक्षिमांसं न भुञ्जीत' विहिताविहितस्य कस्यापि पक्षिणो मांसं न अद्यात्५७ (३)। 'एकाधान्यम्' एक देशं एकवस्त्रं च वर्जयेत्' चिरमेकविधशस्यमेव नाद्यात्, सर्वदैव निरन्तरमेकदेशे एव वासं न कुर्यात् किञ्च आच्छिन्नमेकमेव वस्त्रं न परिदध्यात् अपितु कदाचित् धान्यं' कदाचिद्वा गोधूमं, कदाचिद्वा यवं भक्षेत्, एवं वर्षमध्ये एकवारमपि देशाटनं कर्त्तव्यमेव, किञ्च परिहितवस्त्राणि सदैव परिवर्त्य प्रक्षालनादिना पुनर्गृह्णीयादिति ।५८ ॥

भा०—समावर्त्तन के अनन्तर वक्ष्यमाण नियमों का अवश्य पालन करे॥५५॥ (१)शूद्रा कन्या से विवाह न करे॥५६॥(२)चिड़ियेका मांस न खावे॥५७॥(३)एक प्रकार का धान्य, एकदेश, और एक वस्त्र, त्याग करे । अर्थात् प्रतिदिन एक ही प्रकार का अन्न न खावे; कभी धान्य, कभी गेहूं, कभी यव व्यवहार करे ; बहुत दिनों तक निरन्तर एक ही देश में न रहे, अन्ततः वर्ष में एकवार भी देश पर्यटन करे; एवं एक वस्त्र जब तक न फटे , तब तक अत्याज्यरूप व्यवहार न करे, वरन सर्वदा ही बदलते हुए धुलाकर पुनः ग्रहण करे ॥५८॥

उद्धृताभिरद्भिरुपस्पृशेत् ॥ ५९ ॥

(४)'उद्धृताभिः अद्भिःउपस्पृशेत्' तत्क्षणमेवोदकान्युद्धृत्यतैरेव हस्तमुखप्रक्षालनादिकं कुर्यात् न तु पूर्वोद्धृतैः । एतेन च शीतकाले उष्णवारिलाभः, ग्रीष्मे च शीतवारिलाभः सुकरो भवेत्, विषकीटपतनादिदोषशङ्कापि न स्यादिति भावः ॥ ५९ ॥

भा०—(४)जिस २ समय हाथ,पैर, मुख आदि धोनेकी आवश्यकता हो, उस उस समय कूप आदि से जल भर लेवे, या भरवा लेवे, इस से शीतकाल में गर्म जल एवं ग्रीष्मकाल में शीतल जल सुगमता से मिलेगा और जल में विषकीट आदि पड़ने की भी शंका न रहे गी ॥ ५९ ॥

आदेशनात् प्रभृति न मृण्मयेऽश्नीयात् न पिबेच्छ्रव-णादित्येके । ६१, ६२ । २

(५) 'आदेशनात् प्रभृति' सावित्र्युपदेशादारभ्य 'मृण्मये न अश्नीयात्' किञ्च मृण्मये 'पिबेत्' अपि 'न'। 'एके' आचार्यास्तु 'श्रवणात्' गुरुमुखात् वेदाध्ययनश्रवणसमाप्तिर्यदा भवेत्, ततः प्रभृत्येव मृण्मये न अश्नीयात् न च पिबेदित्याहुः । ६०–६२ ।

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेद्वितीयखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ३, २

भा०—जिस दिन 'सावित्री' दीक्षा हो, उस दिन से मट्टी के वर्त्तन में भोजन, या पान न करे। कोई २ आचार्य कहते हैं कि जब तक आचार्य के निकट वेद श्रवण करे, तब तक ऐसा न करने से भी चल सकता है, अनन्तर वेदाध्ययन समाप्ति कर घर आने पर्यन्त, मट्टी के पात्र में भोजन, या मट्टी के पात्र में जल पान छोड़ देवे ॥ ६०, ६१, ६२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीयअध्यायके द्वितीयखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३॥ २

अथ महानाम्नी साम ॥

(प्रथम स्तोत्रीयानुगानम्)

१— २ १र २ १ १र १ १ २
ए२। विदामघवन्विदाः। गातुमनुशꣳशिषः। दाइशा
२ ५ १र— १ र २ र र १
३१ उवा २३। ई ३४ डा। ए२। शिक्षाशचीनाम्पताइ।
२र र १र — १ २ २ ५ २र
पूर्वीणाम्पूरू २। वसा ३१ उवा २३। ई ३४ डा। आ-
१ — १ २ २ ५
भिष्ट्रमभा २ इ। ष्टिभिरा ३१ उ वा २३। ई ३४ डा।
१र ᳲ २ २ ५ १ १र
स्वर्णाꣳशू २ :। हा ३ २ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। प्राचे। तन
र १ २ २ १र — १ १ १ २ २ १र
प्रचेतया। इन्द्रा। द्युम्नाय ना२ इषाइ। इडा। इन्द्रा। द्युम्नायन
— १ १ १ २ २ १र — १ १ १र र
२ इषाइ। अथा। इन्द्रा। द्युम्नायना२इषाइ। इडा। एवा हि
र र र र र २ २ ३ २ १ २ ४
शक्रोरायेवाजायवा १ ज्री ३ वाः। शविष्ठ वज्रिन्ना ३। जा
५ १ १ १ २
साइ। मꣳहिष्ठ वज्रिन्ना २ ३ हो। जा सा ३२ उवा ३ २।

इढ् इडा २ ३ ४ ५। आ या। हि पिब मा २ त् सुवा। इ
डा २ ३ ४ ५ ॥—

(द्वितीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २। विदारायेसुवीरियाम् । भुवो वाजानाम्पतिर्व-
शाꣳ २। अनुआ ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। ए २। मꣳ
हिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसाइ। यः शविष्ठः शूरा २ णा ३ १ उवा २ ३।
ई ३ ४ डा । योमꣳहिष्ठ मघो २। ना ३ १ उवा २ ३।
ई ३ ४ डा। अꣳशुर्नशोचा २ इः। हा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा।
चाइ। कित्वो अभिनोनया। ईन्द्रो। विदेतमू २ स्तुहाइ। इ
डा। ईन्द्रो। विदेतमू २ स्तुहाइ। अथा। ईन्द्रो। विदेतमू २
स्तुहाइ। इडा ईशेहिशक्रस्तमूतये हवा १ मा ३ हाइ। जेता-
रमपरा ३। जाइताम्। सनः स्वर्षदता २ ३ होइ। द्वा इषा
३ १ उवा २ ३। इढ् इडा २ ३ ४ ५। क्रातुः। छन्द ऋता २
म्बृहात। इडा २ ३ ४ ५ ॥

महानाम्नी साम ॥

(तृतीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २। इन्द्रन्धनस्य सातयाइ। हवामहे जेतारमपरा

– १ २ २ ५ १– १ २
२। जितमा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। ए२। सनः स्वर्ष
१ १ – १ २
दति द्विषाः। सानः स्वर्षदता २ इ। द्विष आ ३ १ उवा २
२ ५ १र – १ २
३। ई ३ ४ डा। पूर्वस्य यत्तआ २। द्रिव आ ३ १ उवा २
२ ५ २ १ र ३ २ २ ५
३। ई ३ ४ डा। अंशुम्र्मदाया २। हा ३१ उवा २३। ई ३४ डा।
१ २ र र १ २ १ – १ १
सून्नआधेहिनोवसाउ। पूर्त्तीः। शविष्ठशा२स्य ताइ। इडा।
१ २ २ १ – १ १ १ २ २ १
पूर्त्तीः। शविष्ठशा २ स्यताइ। अथा। पूर्त्तीः। शविष्ठशा२स्य
१ १ र र २ २ २ १र
ताइ। इडा। वशीहिशक्रोनूनं तन्नव्यंसा१न्या३साइ। प्रभो
१ र ४ ५ १ र १ १ २
जनस्यवा ३। त्राहान्। समयेर्षु व्रवा २३ होइ। वाहा ३१ उवा
१ १ १ १ १ १ र २र १ १र – १ १
२३। इठूउडा २ ३ ४ ५। शूरो। योगोषुगा२ च्छता ३। इडा।
१ २ २ १र – १ १ १ १ १ १
साखा। सुशेवो २ द्वयुः। इडा २ ३ ४ ५ ॥—

(पञ्चपुरीय पदानुगानम्)

१ २ २ र १ १ १ १ १ १ १ २र
आइवा। हियेवा २ ३ ४ ५। होइ। हो। वाहा ३१ उ
२ ५ १ २ २ १ १ १ १ १ १ १ २र
वा २३। ई३४डा। आइवा हियग्ना २ ३ ४ ५ इ। होइ। हो। वा
२ ५ १ २ २ १ १ १ १ १
हा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। आइवा। हि इन्द्रा २ ३ ४
१ १ १ २ २ ५ १ २
५ होइ। हो। वाहा ३ १ उवा २ ३। इ ३ ४ डा। आइवा
२ १ ३ ३ ३ ३ १ १ २र २ ५
हि पूषा २ ३ ४ ५ न्। होई। हो। वाहा ३१ उवा २ ३। ई ३४ डा।

१ २ २ र१ १ १ १ १ २र
आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उवा
२ ५ १ ५ २ र१ १ १ १ १ १ १
२ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ः । होइ । हो।
२र २ ५
वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ॥ १ ॥

प्रौष्ठपदीᳬहस्तेनोपाकरणम् ॥ १ ॥

"हस्तेन प्रौष्ठपदीं" हस्तनक्षत्रयुतां भाद्रपदीयां यां कामपि तिथिं प्राप्य तदैव "उपाकरणं" नाम वेदाध्यापनारम्भसूचकं कर्म वक्ष्यमाणेतिकर्त्तव्यताकं कर्त्तव्यम् । उप समीपे आक्रियन्ते अध्ययनाय शिष्याः येन कर्मणा तत् । १ अत्रोपाकरणे :—

भा०:—भाद्रमास के जिस किसी तिथि के पूर्वान्ह में हस्ता नक्षत्र युक्त हो, उसी दिन 'उपाकरण' कर्म करे * ॥ १ ॥

व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणाᳬ सावित्र्यनुवचनं यथोपनयने॥२

(१) 'व्याहृतिभिः' भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रत्रिकैः 'हुत्वा' आज्यमेव 'शिष्याणां' वेदाध्ययनारम्भंकर्त्तुमुपस्थितानां नवानां 'सावित्र्यनुवचनं सावित्रीनामर्चोऽध्यापनं कर्त्तव्यम् । एतच्च 'यथा उपनयने' कृतम्, तथैवात्रापि पादशोऽर्द्धर्चशऋक्—शइति यावत् ॥ २ ॥

भा०:—भूः, भुवः, और स्वः इन तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए तीनों आहुति देवे (वेदाध्ययन का आरम्भ करने के लिये समुपस्थित नये छात्रों को उपनयन में उपदेश होने की नाईं पहिले पाद २, फिर आधी२ ऋचा और अन्त में समस्त ऋक् आवृत्ति क्रम से सावित्री मन्त्र का अभ्यास करावे **॥२॥

सामसावित्रीञ्च । ३ सोमᳬराजानंवरुणमिति । ४ ॥

(२) 'च' अपि 'सावित्रीम्' ऋचमाश्रित्य गीतं ग्रन्थाध्यापनारम्भसूचकं 'साम' अनूच्यात् अनुवाचयेत् शिष्यान् । आदौ तावदाचार्यो भागशोब्रूयात्तदनु तथैव तत्साकमेव शिष्याः सर्वएव मिलित्वा ब्रूयुरिति यावत् । ३ (३) 'च' अपि

---

* जिस क्रिया के द्वारा वेद के नूतन पाठ का अध्ययन और अध्यापन आरम्भ किया जाता, उस अनुष्ठान को 'उपाकरण' कहते हैं । यह 'उपाकरण' आचार्य एवं छात्र दोनों ही को समान कर्त्तव्य है, सुतरां सब ही मिल कर करते हैं । ऋग्वेदी और यजुर्वेदियों को यह 'उपाकरण' श्रावण मास में होता है एवं किसी २ के मत से कौथमियों को भी श्रावण ही मास में होता हैं । अतएव इस अनुष्ठान को 'श्रावणी' भी कहते हैं ॥

** वेदों के अध्यापन आरम्भ काल में सर्वदा ही सावित्री पाठ और तत् समागम कर्त्तव्य एवं उसी प्रकार व्यवहार भी है । यदि थोडे ही दिन में उपनीत होजावे तो सावित्री साम का अभ्यास छूट जा सकता है सुतरां यह सावित्री अन्यून उन के लिये विशेष आवश्यक है ।

'सोमं राजानं वरुणम्' (छ० आ० १, २, ५, १)' 'इति' ऋच मनूच्यात् तन्मूलकं साम च (गे० गा० ३, १, १) । ४

भा०:–एवं यह सावित्री ऋक् अवलम्बन पूर्वक गीत साम भी एक २ भाग कर, आचार्य, निज कृत उच्चारण के पीछे और सङ्ग २ उस छात्र को पढ़ाते हुए अभ्यास करावे॥३(३) 'सोमꣳ राजानं (छँ, आँ १,२,५,१) ऋक् एवं यह ऋङ् मूलक साम (गेँ, गाँ ३, १, १) इस प्रकार क्रम से अभ्यास करावे ॥४॥

आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम् ।५॥

(४) ततः सर्वेमिलित्वा 'छन्दसः' छन्दोनामसामवेदीयार्चिकग्रन्थस्य 'आदितः आरभ्य सर्वमेव भागद्वयं यावदधीतं वा अधीयीरन् सामवेदसंहितायाः सामशून्यायाः समग्रायाः यावदधीताया वा पारायणं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।। 'अधीत्य' पारायणे समाप्ते 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनमपरापरं कार्यं कर्त्तव्यम् । ५ ॥

भा०:–(४)अनन्तर छन्दोनामक (आर्चिक)* ग्रन्थ के पूर्व और उत्तर दोनों भाग ही आद्यन्त (या जिन का जहां तक पढ़ा है) सब मिल कर पाठ करें। उसी प्रकार वेद पारायण समाप्त होने पर यथा प्रयोजन अन्य कार्य करे ॥५॥

अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तङ्करम्भिणमिति । ६ ।

(५) अनुवचनेऽध्ययने च समाप्ते 'धानावन्तङ्करम्भिणम् (छ० अङ्क ३, १, २, ७)'–'इति' इमा मृचं पठित्वा 'अक्षतधानाः' भ्रष्टयवा एव धाना उच्यन्ते तत्र चाक्षतत्वं मृग्यम्, ता एव 'भक्षयन्ति' आचार्यादयः । ६ ॥

भा०–(५)वेद परायण के अनन्तर 'धानावन्तङ्करम्भिणम्' इस मन्त्र का पाठ करते हुये अभग्न भुनाहुआ यव सब लोग भक्षण करें ॥६॥

दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोअकारिषमिति । ७ आचान्तोदकाः । ८ खाण्डिकेभ्योऽनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत्॥९

(६) ततश्च 'दधिक्राव्णोअकारिषम् (छ० आ० ४, २, २, ७) 'इति' ऋचं पठित्वा 'दध्नः प्राश्नन्ति' तएवेति । ७ (७) अनन्तरम् 'आचान्तोदकाः' उदकैः कृताचमनाः ते सर्वे भवेयुः (भूयुः)।८ (८) ततः 'खाण्डिकेभ्यः' अधीतवेदखण्डेभ्यः पुरातनछात्रेभ्यः इति यावत् । 'अनुवाक्याः' अनुवाकश्चएव 'अनुगेयाः' स्वगानानुरूपगायकाः 'कारयेत्' आचार्यः ॥ ९ ॥

भा०–(६)तदनन्तर 'दधिक्राव्णोअकारिषम्' मन्त्र पाठ करके सब लोग दही खावें ॥ ७ ॥ (७) उस के पश्चात् सब लोग आचमन कर यथा स्थान सुस्थभाव से

---

* यही साम वेद का मूल ग्रन्थ अर्थात् संहितास्थि है। इसी का अवलम्बन कर गेय गान प्रभृति गान ग्रन्थ सब बने हैं एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसी का व्यवस्थापक है इत्यादि इत्यादि ।

वैठें ॥ ८ ॥ (८) पीछे, आचार्य, जिन छात्रों ने जहां तक पढ़ा हो, उन को उस के परे से अध्ययन आरम्भ करावें ॥ ९ ॥

सावित्रमहः काङ्क्षन्ते । १० उदगयने च पक्षिणीं रात्रिम् ॥११॥

'सावित्रमहः' यद्दिने सावित्र्युपदेशोऽनुवचनं वा तद्दिनं 'काङ्क्षन्ते' वाञ्छन्ति आचार्याः वेदाभ्यासतो विश्रामायेति ।१०। 'च' अपि तदेव सावित्रमहः उपनयननिबन्धनं वक्ष्यमाणमुत्सर्गनिमित्तं वा 'उदगयने' चेद् भवेत्, तर्हि 'पक्षिणीं रात्रिं' तद्दिनमारभ्य परदिनावशेषपर्यन्तं विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इति ११

[यहां जिस प्रकार वेदों का 'उपाकरण' कहा गया, उसी प्रकार उत्तरायण में वेदों की 'उत्सर्ग' क्रिया की भी व्यवस्था कियी जावेगी]

भा०—जिस दिन यह 'उपाकरण' क्रिया हो, उस दिन, दही खाकर एवं आचमन करलेने पर नये विद्यार्थियों को विश्राम देवे ॥ १० ॥ उस उत्तरायण में छात्रों को पक्षिणी (एक दिन और एक रात एवं उस के पर का दिन) विश्राम देने की व्यवस्था करे अर्थात् क्या वेद, क्या वेदाङ्ग, सम्बन्धी नया वा पुराना पाठ अध्ययन या अध्यापन कुछ भी न करे ॥ ११ ॥

उभयत एके त्रिरात्रम् । १२ । आचार्याणाञ्चोदकोत्सेचनमुभयत्र ॥ १३ ॥

'एके' तु आचार्याः, 'उभयतः' दक्षिणायनोत्तरायणेतदुभयकाले एव तथा च वेदोपाकरणे वेदोत्सर्गे च कर्मणि सम्पन्ने 'त्रिरात्रं' काङ्क्षन्ते विश्रामायेति ।१२ (९) 'उभयत्र' उपाकरणे उत्सर्गे च 'आचार्याणां' वेदशाखाप्रचारकाणां नामतः 'उदकोत्सेचनं' जलाञ्जलिक्षेपणां तर्पणमिति यावत् कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ १३ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते—कि 'उपाकरण' और 'उत्सर्ग' इन दोनों क्रियाओं में छात्रोंको तीन रात्रि विश्राम देवे ॥ १२ ॥ (९) 'उपाकरण' और उत्सर्ग, इन दोनों क्रियाओं में जलाञ्जलि क्षेपण पूर्वक आचार्योंका नाम स्मरण करके (स्वीय) तृप्तिसाधन करे ॥ १३ ॥

श्रवणामेकउपाकृत्यैतमासावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते ।१४ तैषीमुत्सृजन्ति ॥१५॥

'एके' आचार्याः 'श्रवणां' श्रावणीं पौर्णमासीं प्राप्य 'उपाकृत्य' 'आसावित्रात्' सहितृदेवताकं भाद्रपदीयं हस्तनाम नक्षत्रमभिव्याप्य 'एतंकालं' 'काङ्क्षन्ते' अध्ययनाध्यापनविश्रामायेति । इत्युपाकरणम् ।१४ अथोत्सर्गः ।—'तैषीं' तिष्यनामनक्षत्रयुतां पौषीं पौर्णमासीमिति यावत् प्राप्य 'उत्सृजन्ति' वेदा-

ध्यापनत्यागसूचक मुत्सर्जनं नाम कर्म कुर्वन्ति आचार्या एवेति । इदमेवोदगयनीयं प्रत्युपाकरणम् ॥ १५ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते हैं कि—श्रावणमास की पूर्णिमासी को यह 'उपाकरण' करना चाहिये एवं उसी दिन से भाद्रमास के हस्तानक्षत्र युक्त तिथि पर्यन्त छात्रोंको विश्राम देवे ॥ १४ ॥ पौषकी पूर्णमासी को वेदाध्यापन का 'उत्सर्ग' अर्थात् कई एक मासके लिये नया पाठ अध्यापन छोड़देवे । इस को 'प्रत्युपाकरण' (कर्म) कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राङ्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य या आपोऽनवमेहनीयास्ताअभ्येत्योपस्पृश्यच्छन्दाꣳस्यृषीनाचार्य्यांश्च तर्पयेयुः ।१६

एतस्मिन्नुदगयनीये सम्पन्ने च पक्षिणीं त्रिरात्रं वा विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इत्युक्तं पुरस्तात् । तत्र च विश्रामावसरे 'ग्रामात्' स्ववासभूमेः 'प्राक् वा' पूर्वस्यां—दिशि वा 'उदक् वा' उत्तरस्यां दिशि वा निष्क्रम्य', 'या आपः' 'अनवमेहनीयाः' मेहनस्पर्शिन्यो मेहनीयाः ततोऽवाचीनाः अवमेहनीयाः, न ताहृश्यः, मेहनोद्र्ध्वगता नाभिदघ्ना इति यावत् ; 'ताः' आपः 'अभ्येत्य, 'उपस्पृश्य' 'छन्दांसि' छन्दोनामान्युल्लिख्य, 'ऋषीन्' मन्त्रद्रष्टृषिनामान्युल्लिख्य, 'आचार्यान्' स्व-स्व-शाखाकारनामादीन्युल्लिख्य 'च' तर्पयेयुः जलाञ्जलिदानैः स्मरणतः स्वात्मतृप्तिं सम्पादयेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

भा०—यह 'उत्सर्ग' क्रिया पूरी होने पर 'पक्षिणी' या तीन रात सब प्रकार अध्ययन का विराम रक्खे, यह पूर्व ही व्यवस्था कियी गयी है' । उस विरामकाल में,—स्व २ वास ग्राम के पूर्व, या उत्तरभाग में, जाकर, कम से कम नाभि—प्रमाण—जल वाले जलाशय में गोता मार कर उपस्पर्श पूर्वक छन्दोनामक सब उल्लेख करते हुए और मन्त्र द्रष्टा ऋषियों का नामोल्लेख करते एव अपनी २ शाखा प्रवर्त्तकादि आचार्यों का नामोल्लेख करते हुये जलाञ्जलि देकर (अपनी) तृप्ति सम्पाद न करे ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रत्युपाकरणऽभ्रानाध्याय आपुनरुपाकरणाच्छन्दसः१७

'तस्मिन्' उक्तलक्षणे 'प्रत्युपाकरणे' उत्सर्गापरपर्याये कर्मणि सम्पन्ने ततः प्रभृति 'आ पुनरुपाकरणात्' भाद्रपदीयहस्तनाम नक्षत्रयुक्तकालं यावत् 'छन्दसः' सामवेदीय-छन्दोग्रन्थमात्रस्य 'अभ्रानध्यायः' अभ्रनिमित्तकोवक्ष्यमाणलक्षणोऽनध्यायोभवति, अत्र चानध्यायकाले अधीतानामपि छन्दोग्रन्थानामभ्यासं विचारादिकञ्च वर्जनीयम् । १७ उक्ताभ्रानध्यायमेव स्फटयति ;

भा०–'इस प्रकार 'प्रत्युपाकरण कर्म, सम्पन्न होने पर्यन्त पुनः उपाकरण न होने पर्यन्त, इन कई एक महीने (नया पाठ तो होगा नहीं अधिकन्तु मेघ निमित्तक अनध्याय भी होगा, इस अनध्याय में पुरातन पाठ का अभ्यास या विचारादि भी वर्जनीय है। किन्तु यह "आभ्रानध्याय" छन्दोग्रन्थ मात्र के लिये है ॥ १७ ॥

विद्युत्स्तनयित्नुपृषितेष्वाकालम् ॥ १८ ॥

विद्युत् गर्जनपूर्वदृश्यज्योतिः, स्तनयित्नुर्मेघमाला, पृषितावृष्टिबिन्दवः, एतत्-त्रितयमेकदैव दृश्येत चेत् तदा आ कालम् यत्कालिकी घटना, तत्परदिवसीय-तावत्कालं यावत् अनध्यायश्छन्दोऽध्ययनस्येति। अयमेवाभ्रानध्याय उच्यते।१८

भा०–बिजुली, मेघमाला, और वृष्टि देखने पर आ–काल अभ्रानध्याय होगा। अर्थात् अभ्रनिमित्तक उपद्रव जिस समय उपस्थित हो, उस के पर दिन उसी समय तक छन्दोग्रन्थ की चर्चा भी न करे ॥ १८ ॥

उल्कापातभूमिचलनज्योतिषोरुपसर्गेषु। १९ निर्घाते च ॥२०॥

उल्कापाते, भूमिचलने, ज्योतिषोः सूर्यचन्द्रयोः उपसर्गे ग्रहणादौ च आ कालमेवानध्यायः सर्वेषामेव ग्रन्थानाम्। १९। 'च' अपि 'निर्घाते' मेघोदये विमलाकाशे वा स्थिते वज्रपाते आ कालमेवानध्यायः ॥ २० ॥ अथ सार्वकालिकसाधारणानध्यायानाह ;–

भा०–उल्कापात, भूकम्प, और सूर्य और चन्द्र ग्रहण के पर दिवसीय उसी समय तक अनध्याय होगा। यह अनध्याय सब ही ग्रन्थों का जानो ॥ १९ ॥ वज्र गिरने पर भी उस के पर दिन के उसी समय तक अनध्याय होगा। यह भी सब ग्रन्थों के लिये है ॥ २० ॥

अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन्। २१ पौर्णमासीषु च ॥ २२ ॥

'अष्टकामावास्यासु' सर्वास्वेव वेदं वेदाङ्गानि च 'न अधीयीरन्' एष नित्यानध्यायः। २१ 'पौर्णमासीषु' 'च' 'न अधीयीरन्' एषोऽपि नित्यानध्यायः ॥२२॥

भा०–प्रति अमावास्या एवं प्रत्येक अष्टमीतिथिको सबप्रकार अनध्याय होगा २१ प्रति पूर्णिमा तिथि में इसीप्रकार जबतक तिथि रहे अनध्याय होगा २२

तिसृषुकार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामाषाढ्याञ्चाहोरात्रम् ॥२३॥

'कार्त्तिक्यां फाल्गुन्याम् आषाढ्याम्'–इत्येतासु 'तिसृषु' 'अहोरात्रम्' तद्दिनं तद्रात्रिश्च नाधीयीरन्नित्येव। २३ अथ नैमित्तिकानध्याया उच्यन्ते;–

भा०–विशेषतः कार्त्तिकी, फाल्गुणी, और आषाढ़ी पूर्णिमा को एक दिन

एवं एक रात्रि सब प्रकार अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

सब्रह्मचारिणि च प्रेते । २४ स्वे च भूमिपतौ ॥ २५ ॥

'सब्रह्मचारिणि' सतीर्थे 'प्रेते' 'च' मृते अहोरात्रम् नाधीयीरन् । २४ 'च' अपि 'स्वे' भूमिपतौ भूस्वामिनि प्रेते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥ २५ ॥

भा०—एक गुरु के शिष्य के मृत्यु होने पर भी एक दिन रात सब प्रकार अनध्याय होगा ॥ २४ ॥ भूस्वामी के मरने पर भी एक दिन रात सब प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २५ ॥

त्रिरात्रमाचार्य्ये । २६ उपसन्ने त्वहोरात्रम् । २७ गीतवादित्ररुदितातिवातेषु तत्कालम् । २८ शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र२९

'आचार्ये' स्वे एव प्रेते 'त्रिरात्रम्' नाधीयीरन् । २६ 'उपसन्ने' शिष्ये प्रेते 'तु' "अहोरात्रम्' एव नाधीयीरन् । २७ गीतं, वादित्रं, रुदितं, अतिवातो झञ्झा, एषु सत्सु 'तत्कालम्' यावत् स्यात् तावदेव नाधीयीरन् । २८ 'अतः' उक्तेभ्य एभ्यः हेतुभ्यः 'अन्यत्र' 'शिष्टाचारः' अप्येकोऽनध्यायहेतु; तथाहि शिष्टेऽपि कस्मिंश्चित समागते नाधीयीरन् २९ गतमिदं वेदाध्यनप्रकरणम्। अथाद्भुतप्रकरणम्;

भा०—आचार्य के मृत्यु होने पर, सब प्रकार अध्ययन, तीन रात तक रोक रक्खे, तदनन्तर अन्य आचार्य से पढ़े ॥ २६ ॥ शिष्य के मरने पर एक दिन और एक रात अनध्याय होगा। अर्थात् उस दिनरात में उस मठ (पाठशाला) में किसी का किसी प्रकार पाठन होगा ॥ २७ ॥ गीत, वाद्य, रोना, आन्धी उपस्थित हो ने पर' जबतक उपद्रव शान्त नहो, सब प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त निमित्तों के अतिरिक्त' विशेष प्रतिबन्धक होने पर और भी अनध्याय होगा, जैसे, यदि कोई शिष्ट व्यक्ति मठमें आवें, तो उनके आदरार्थ अनध्याय होगा ॥ २९ ॥

अद्भुते कुलपत्योः प्रायश्चित्तम् । ३० वंशमध्यमयोर्मणिके वा भिन्ने व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥ ३१ ॥

'अद्भुते' कस्मंश्चिदपि उपस्थिते 'कुलपत्योः' यस्मिन् कुले समुपस्थित मद्भुतम् भवेत् तस्यैव स्वामिनोः दम्पत्योः 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यम् भवेत् । ३० कीदृशेऽद्भुते कीदृशं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमित्याह ;—वंशः स्थूणोपरिस्थः, मध्यमाश्च स्तम्भाः, एतयोः 'भिन्ने' भिन्नयोः अनिमित्ततएव विदीर्णयोः सतोः 'वा' अथवा 'मणिके' जलाधारबृहद्भाण्डे भिन्ने अनिमित्तमेव स्फुटिते, एतदद्भुत-

दोषप्रशमनाय 'व्याहृतिभिः' भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रैः 'जुहुयात्' आज्यहवनं कुर्यात् ३१

भा०-कोई अद्भुत (आश्चर्य) बात हो पड़े तो गृहस्वामी और उस की स्त्री को प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३० ॥ कैसे अद्भुत के लिये क्या प्रायश्चित्त होगा? सो कहते हैं कि-जिस वांस के ऊपर सम्पूर्ण घर का ठाठ (छप्पर) हो वह, या घर के खम्भे सब हठात् फट जावें, या जल का घड़ा, वा मांट फूट जावे, तो व्याहृति मन्त्रों को पाठ कर आज्याहुति देवे ॥ ३१ ॥

दुःस्वप्नेष्वद्यनोदेवसवितरित्येतामृचं जपेत् ।३२ अथापरम् ॥३३॥

'दुःस्वप्नेषु 'अद्यनोदेवसवितः (ऋ० आ० २, १, ५, (७)-'इति' एताम् 'ऋचं' 'जपेत्'। एतज्जपादेव एतदद्भुतदोषप्रशमनं भवेन्नाम। गतमिदमद्भुतप्रकरणम्। ३२। 'अथ' अद्भुतप्रायश्चित्तविधानानन्तरम् 'अपरम्' अपि किञ्चिन्नैमित्तिकमस्ति तद् वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भा०-बुरा स्वप्न देखने पर 'अद्यनोदेव सवितः' (ऋ० आ० २, १, ५, ७) मन्त्र का जप करे ॥३२॥ और भी कुछ घटनाके अनुसार कर्त्तव्य कहा जाताहै ॥३३॥

चित्ययूपोपस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्य्याभ्युदितः सूर्य्याभिनिम्लुप्त इन्द्रियैश्च पापस्पर्शे पुनर्म्मामैत्विन्द्रियमित्येताभ्यमाज्याहुती जुहुयात् ॥ ३४ ॥

किन्तदित्याह;-'चित्ययूपः' बौद्धयूप; तस्य उपस्पर्शनम्, कर्णयोः स्वयोः क्रोशः शब्दः, अक्ष्णोः वेपनं कम्पनम् ; एषु निमित्तेषु ;-किञ्च सुप्ते एव सूर्योऽभ्युदितः अपिवा सुप्ते एव सूर्योऽस्तं गतश्चेत्;-इन्द्रियैः हस्तादिभिः पापवस्तूनां परवधूरोजादीनां स्पर्शे "पुनर्मा मैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः। पुनर्द्रविणमैतु मा पुनर्ब्राह्मणमैतु मा ॥३३॥ पुनर्मनः पुनरात्मा। म आगात् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगात्। वैश्वानरो अदब्ध स्तनूपा अन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः (स्वाहा)'॥३४॥ (म० ब्रा० १, ६, ३३-३४)-'इति' एताभ्याम् ऋग्भ्याम्' आज्याहुती' आज्यस्याहुतिद्वयं 'जुहुयात्' ॥ ३४ ॥

भा०-दैवात् बौद्धरूप प्रकट होनेपर, कान में किसी प्रकार शब्द होने पर आंखके स्फुरन होने पर, एवं सूर्योदय के पीछे जागने पर, या सूर्यास्त समय नींद आने पर, और भी हाथ आदि इन्द्रियों के द्वारा पराई स्त्री के स्तन स्पर्श करने पर, "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इत्यादि दो मन्त्रों से दो आज्याहुति देवे ॥३४॥

आज्यलिप्ते वा समिधौ । ३५ जपेद्वा लघुषु ॥ ३६ । ३ ॥

'वा' अथवा अनतिरिक्तनिमित्ते 'आज्यलिप्ते' समिधौ' समित्काष्ठद्वय-मात्रं जुहुयात्। तथैव तत्पापप्रशमनं भवेन्नाम॥ ३५ 'वा' अथवा 'लघुष' ततोऽप्यल्पनिमित्तेषु उक्तमृग्द्वयं जपेदेव न तु समिदाहुतेरप्यपेक्षेति शम् ॥ ३६ ॥

इतिसामवदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३,३॥

भा०—यदि अतिरिक्त पाप स्पष्ट न हो जावे तो घी—से लपेटी लकड़ी (दो) अग्नि में हवन करे ॥ ३५ ॥ बहुत छोटा दोष (पाप) होने पर उक्त दोनों मन्त्र मन ही मन जप करे, आहुति प्रदान न करे ॥ ३६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयअध्यायकेतृतीयखण्डका भाषानुवादपूराहुआ ॥ ३, ३ ॥

अथ स्नातकप्रकरणम्। कृतब्रह्मचर्योगार्हस्थ्यानुप्रवेशायाचार्यानुमतः विधिविशेषेण स्नातः सन् पितृकुलं प्रतिगच्छति। एतदेव स्नातकव्रतमुच्यते। तदेवास्मिन् खण्डे यथाक्रमं विधत्ते,—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातो दारान् कुर्वीतासगोत्रान् ॥ १,२,३,४ ॥

'ब्रह्मचारी' आद्याश्रमीद्विजः 'वेदम्' वेदैकम् आद्यन्तम्। 'अधीत्य' गुरुमुखादनुश्रुत्य यथाशक्ति बुद्ध्वाच (१) 'उपनी' उपनीः उपनयनं, तद्दक्षिणाप्युपचारादुपनीरित्युच्यते; ततो द्वितीयैकस्य सुपांसुरिति लुकि उपनीति; उपनयनदक्षिणामिति यावत् 'गुरवे' तस्मै वेदाध्यापकायाचार्याय 'आहृत्य' निवेद्य (२) ततस्तेनैव गुरुणा 'अनुज्ञातः' द्वितीयाश्रमग्रहणे लब्धानुज्ञः सन् 'दारान्' पत्नीं 'कुर्वीत' (३)। दारांश्च कीदृशान् कर्त्तव्यानित्याह;—'असगोत्रान्' समानगोत्रातिरिक्तान् स्वगोत्रजभिन्नानिति यावत् (४) ॥ ४ ॥

भा०—ब्रह्मचारी एक वेद को आद्योपान्त अध्ययन कर, गुरु को उपनयन की दक्षिणा दे, और उनकी आज्ञानुसार अपना विवाह स्थिर करे, जिस कन्यासे विवाह करे उसका और अपना समान (एकही) गोत्र नहो॥१,२,३,४॥

मातुरसपिण्डा ।५। अनग्निका तुश्रेष्ठा ।६। अथाप्लवनम् ।७।

तत्र दारकर्म्मणि 'मातुः असपिण्डा' मातृसमानपिण्डा कन्या न ग्राह्या ॥५॥ तत्र च 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत्, यावच्च नग्ना सलज्जापि विचरितुं शक्नुयात्, सा नग्निका, तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्तयौवना, सैव 'श्रेष्ठा' प्रशस्या; कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्व मुपयुज्यते,

तदैव च 'सोमो ददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते नान्यथेत्येव दारकर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएवाह मनुरपि 'देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः (९, ९५) '—इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौवनापि नोद्वाह्येति फलितम् (६) । ६ 'अथ' दारकरणे गुर्वनुमतिप्राप्त्यनन्तरम् 'आप्लवनम्' ब्रह्मचर्यव्रतसमाप्तिसूचकं विधिविशेष विहितं स्नानम् उपदेक्ष्याम इति शेषः ॥ ७ ॥

भा०—और वह कन्या ब्रह्मचारी की माता की सपिण्डा न हो अर्थात् ब्रह्मचारी की माता के पिता के सात पीढ़ी में न हो ॥ ५ ॥ जिस कन्या का ऋतु (मासिकधर्म) प्रकाश हो चुका हो, इस प्रकार प्राप्त 'यौवना' को 'अनग्निका' कहते हैं। अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये प्रशस्ता होती है। विवाह के निमित्त गुरु की आज्ञा पाने के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति सूचक स्नान करे ॥ ७ ॥

उत्तरतः पुरस्ताद्वाऽऽचार्य्यकुलस्य परिवृतम्भवति ॥८॥

'आचार्यकुलस्य' आचार्यकुलसम्बन्धिन्येव स्थाने 'उत्तरतः पुरस्तात् वा' उत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि 'परिवृतं' सर्वतः आवृतं स्नानागारं 'भवति' भवेत्॥८॥

भा०—आचार्य परिवार सम्बन्धी स्थान की उत्तर, या पूर्व दिशामें अच्छे प्रकार आच्छादित एक स्नानागार (Bathing room) बनावे ॥ ८ ॥

तत्र प्रागग्रेषु दर्भेषूदङ्ङाचार्य्य उपविशति। प्राग् ब्रह्मचार्य्युदगग्रेषुदर्भेषु ॥ ९, १० ॥

'तत्र' स्नानागारे 'आचार्य' 'प्रागग्रेषु दर्भेषु' 'उदङ्मुखः' सन् 'उपविशति' उपविशेत्। 'ब्रह्मचारी' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् उपविशेदित्येव ॥९,१०॥

भा०:—इस 'स्नानागार' में पश्चिम की ओर जड़ एवं पूर्व की ओर शिर इसप्रकार डाले हुए कुशाओं पर आचार्य्य उत्तराभिमुख होकर बैठे एवं 'उत्तराग्र रक्खे हुए कुशाओं पर ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ९, १० ॥

सर्वौषधिविफाण्टाभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिराचार्य्योऽभिषिञ्चेत् ॥११॥

कुत्सितद्रव्याण्युष्णजले निक्षिप्य वस्त्रादिना पूतीकृतं तज्जलं फाण्टमुच्यते । सर्वौषधिविफाण्टाभिः' सर्वौषधिद्रव्यैस्तथाविधकृताभिः 'गन्धवतीभिः' सुगन्धद्रव्यमिश्रिताभिः 'शीतोष्णाभिः' शीतलजलमिश्रिताभिः कदुष्णाभिर्वा 'अद्भिः' 'आचार्यः' 'अभिषिञ्चेत्' ब्रह्मचारिणं प्रथममिति ॥ ११ ॥

भा०:—सुगन्ध, कच्चा पक्का मिला * सर्वौषधि—फाण्ट जल से आचार्य्य प्रथम ब्रह्मचारी को अभिषिञ्चन करे ॥ ११ ॥

स्वयमिव तु । १२ मन्त्रवर्णो भवति । १३ ॥

'तु' अप्यर्थः । अनन्तरम्, 'इव' तद्वत् आचार्याभिषिञ्चनप्रकारेण 'स्वयम्' अपि ब्रह्मचारी आत्मानम् अभिषिञ्चेदित्येव । १२ । अत्र स्वयमभिषिञ्चनकाले 'मन्त्रवर्णः' मन्त्रोच्चारणं कर्त्तव्यं 'भवति' भवेत् । १३ । स्वयमभिषिञ्चनकाले आदौ तावत् पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाञ्जल्युदकानां व्यवहारस्ततोऽवशिष्टानामेकदेव तूष्णीम् । तत्र चाद्यमन्त्रद्वयाभ्यामुदकाञ्जलिद्वयं भूमौ क्षिप्त्वा तृतीयादिभिरुदकाञ्जलिभिः शिरःप्रभृत्यङ्गानां सिञ्चनमभिमतम् । तदेव यथाक्रमं विधत्ते;—

भा०:—उस के पश्चात् ब्रह्मचारी स्वयं भी आपे को अभिषिञ्चित करे ॥ १२॥ एवं आपे को अभिषिञ्चन करते समय मन्त्र पढ़े ॥ १३ ॥

[स्वयं अभिषिञ्चित होते समय पहिले पांच मन्त्रों से जलांजलि द्वारा जल व्यवहार कर अन्त में अवशिष्ट जल एक ही वार में अपने मस्तक पर ढार देवे । उन में प्रथम दो मन्त्रों से लिया शेष अञ्जलिजल भूमि पर डार कर तृतीय आदि तीनों मन्त्रों से मस्तक आदि सब शरीर सिंचन करे । इस का यथाक्रम से आगे विधान करते हैं]

ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलिमवसिञ्चति ॥१४॥

"ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्योमरूको मनोहाः । खलो विरुजस्तनूदूषिरिन्द्रियहा अतितान्त्सृजामि" ॥१॥ (म० ब्रा० १,७, १)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अपामञ्जलिम्' 'अवसिञ्चति' त्यजति भूमाविति । १४ ॥

भा०:—"ये अप्स्वन्तरग्नयः" इस मन्त्र से एक अञ्जलि जल पृथिवी पर गेरे१४।

यदपाङ्घोरं यदपाङ्क्रूरं यदपामशान्तमिति च ॥ १५ ॥

ततः, "यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमति तत्सृजामि "॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ७, २)—'इति' अनेन 'च' अपि अवसिञ्चत्येव ॥ १५ ॥

भा०:—उसके पश्चात् 'यदपां घोर' मन्त्रसे एक अञ्जलि जल भूमिपर डाले ॥१५॥

यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मानमभिषिञ्चति ॥१६॥

'ततः' " यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं मामभिषिञ्चामि" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ३)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'आत्मानं' शिरःप्रभृतिकम् 'अभिषिञ्चति' स एव ब्रह्मचारी ॥ १६ ॥

---

* सब द्रव्यों को कूट कर गरम जल में छोड़ कपडे से ढांक देवे ऐसे जल का 'फाण्ट' कहते हैं । कूठ, जटामान्सी, हरिद्रा, वच, शिलाजित, चन्दन, मुरामान्सी, लालचन्दन, कपूर, भद्रमोथ इन का नाम सर्वौषधि है ।

भा०:–तदनन्तर "यो रोचनस्त" मन्त्र से एक अञ्जलि जल से अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ १६ ॥

यशसे तेजसइति च । १७ येनस्त्रियमकृणुतमिति च । १८ तूष्णीञ्चतुर्थम् ॥ १९ ॥

ततः "यशसे तेजसे ब्रह्मवर्चसाय बलायेन्द्रियाय वीर्यायान्नाद्याय रायस्पोषाय अपचित्यै" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ४)–'इति' अनेन 'च' अपि आत्मानमभिषिञ्चेत् । १७ ततः येन स्त्रियमकृणुतं येनापामृषतंसुराम् । येनाक्षानभ्यषिञ्चतं येनेमां पृथिवीं महीम् । यद्वान्तदश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम्" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ७, ५)–'इति' अनेन 'च' आत्मानमभिषिञ्चेत । १८ । ततोऽवशिष्टान्युदकान्येकदैवगृहीत्वा 'तूष्णीं' मन्त्रशून्यम् आत्मानमभिषिञ्चेत् । तदिदं चतुर्थम् ॥१९॥

भा०:–उस के पश्चात् "यशसे तेजसे" यह मन्त्र पढ़कर एक अञ्जलि जलसे अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥१७॥ अन्त में "येनस्त्रिय" यह मन्त्र पढ़ २ कर तृतीय जलाञ्जलि से पुनः अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ १८ ॥ शेष जल को विना मन्त्र पढ़े अपने माथे पर ढार देवे ॥ १९ ॥

उपोत्थायादित्यमुपतिष्ठेतोद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्रभृतिना मन्त्रेण ॥ २० ॥

'ततश्चोपोत्थाय' स्नानासनादुत्थानं प्रकृत्य "उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थात् । दशसनिरसि दशसनिं माकुर्वा त्वा विशाम्या माविश ॥ ६ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सान्तपनेभिरस्थात् । शतसनिरसि शतसनिं कुर्वा त्वा विशाम्या माविश ॥ ७ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् । सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं माकुर्वा त्वा विशाम्या माविश" । ८ (म० ब्रा० १,७,६वा७वा ८) 'इत्येतत्प्रभृतिना' एवम्प्रकारेण षष्ठाद्यन्यतमेन'मन्त्रेण''आदित्यं' सूर्यम्'उपतिष्ठेत'आराधयेत् २०

भा०:–अनन्तर नहाने की जगह ही पर खड़े होकर "उद्यन् भ्राज भृष्टिभिः" (६ ठा, ७ म, या ८ म) इन तीन मन्त्रों में से किसी एक का पाठ करते हुए सूर्य की आराधना करे ॥ २० ॥

यथालिङ्गं वा विहरन् ॥ २१ ॥

'वा' अयं शब्दोऽत्र व्यवस्थायाम् । 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गानुसारतएव व्यवस्थां 'विहरन्' व्यवहरन् मन्त्रेण आदित्यमुपतिष्ठेतेत्येव । तथा च षष्ठे मन्त्रे "प्रातर्यावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् प्रातस्तस्यैव प्रयोगः, सप्तमे पुनः सान्तप-

नेभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् मध्यान्हे तस्यैव प्रयोगः, अष्टमे तु सायंयावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् तस्यैव सायं प्रयोगः इति व्यवस्था" ॥ २१ ॥

भा०:—इन तीन (पूर्वोक्त) मन्त्रों में से जिस में 'प्रातः' शब्द पठित है उस का प्रातःकाल के उपस्थान में प्रयोग करे, और जिस मन्त्र में मध्यान्ह बोधक 'सान्तपन' शब्द है उस को मध्यान्ह के उपस्थान में पढ़े और 'सायं' पद जिस मन्त्र में पढ़ा है उस मन्त्र को सायङ्काल के उपस्थान में पढ़े ॥२१॥

चक्षुरसीत्यनुबध्नीयात् ॥ २२ ॥

"चक्षुरसि चक्षुष्ट्व मस्यवसे पाप्मानं जहि । सोमस्त्वा राजावतु नमस्तेऽस्तु मामा हिꣳसीः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ९)—'इति' इमं मन्त्रम् 'अनु' पश्चात् कालत्रये एव मन्त्रत्रयस्य 'बध्नीयात्' बन्धनं कुर्यात् । उद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतदनन्तरं सर्वत्रैव पाठ्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥

भा०:—'चक्षुरसि' इस मन्त्र को प्रातःकालादि समय पढ़ने योग्य पूर्वोक्त (उद्यन् भ्राजभृष्टिभिः आदि) तीनों मन्त्रों के पश्चात् बान्ध देवे अर्थात् इन मन्त्रों के साथ—यह मन्त्र सदैव अवश्य पढ़े ॥ २२ ॥

मेखलामवमुञ्चत उदुत्तमं वरुणपाशमिति ॥ २३ ॥

तदनन्तरञ्च ब्रह्मचर्यकाले गृहीतां 'मेखलां' 'अवमुञ्चते' अधस्तान्मोचनं कुर्वीत । तत्र मन्त्रः—"उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳश्रथाय । अथादित्य व्रते वयन्तवानागसो अदितये स्याम" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० १, ७, १०)—'इति' अयं बोध्यः ॥ २३ ॥

भा०:—तदनन्तर "उदुत्तम वरुण पाशम्" मन्त्र को पढ़कर, ब्रह्मचर्य ग्रहण समय की पहनी हुई मेखला को नीचे को त्याग देवे ॥ २३ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयम्भुक्त्वा केशश्मश्रुरोमनखानि वापयीत शिखावर्जम् ॥ २४ ॥

एवं स्नानं समाप्य मेखलात्यागानन्तरं स्नातकव्रतं समाप्तं मन्यमान आश्रमसन्धौ स्थितः सः 'ब्राह्मणान्' कतिपयान् 'भोजयित्वा' ततः 'स्वयं भुक्त्वा च 'शिखावर्जं' शिखाव्यतिरिक्तं 'केशश्मश्रुरोम' सर्वं 'नखानि' च 'वापयीत' नापितेनेति । २४ ।

भा०:—इस प्रकार स्नान कर मेखला त्यागने पर, स्नातक व्रत समाप्त हो गया, ऐसा समझ कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय ब्रह्मचारी कतिपय ब्राह्मण को भोजन करावे एवं पीछे आप भी भोजन करे । तदनन्तर नापित से मूंछ, रोम, नख आदि बनवावे ॥ २४ ॥

स्नात्वाऽलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्रजमाबध्नीत श्रीरसि मयि रमस्वेति ॥ २५ ॥

पूर्वोक्तवापनानन्तरं पुनः स्नायात्, 'स्नात्वा', 'अलङ्कृत्य' स्वदेहम्, 'अहते' अखण्डे 'वाससी' उपसंव्यानोत्तरीये 'परिधाय' "श्रीरसि मयि रमस्व" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ११)'—'इति' अनेन मन्त्रेण 'स्रजम्' 'आबध्नीत' स्वमूर्ध्नीति शेषः । २५ ।

भा०:—उक्त प्रकार और कर्म कराने पश्चात् भूषणादि पहन, अखण्ड दोनों वस्त्र नीचे ऊपर (धोती अङ्गोच्छा) पहन कर "श्रीरसि मयि रमस्व" इस मन्त्र का पाठ करता हुआ अपने मस्तक में माला *पहने ॥ २५ ॥

नेत्र्यौ स्थो नयतम्मामित्युपानहौ ॥ २६ ॥

"नेत्र्यौ स्थो नयतं माम्" । १२ । (म० ब्रा० १, ७, १२),—'इति' मन्त्रेण 'उपानहौ' चर्मपादुके परिधायेत्येव । २६ ।

भा०:—पीछे 'नेत्र्योस्थ' मन्त्र पढ़कर जूता पहने ॥ २६ ॥

गन्धर्वोऽसीति वैणवन्दण्डङ्गृह्णाति ॥ २७ ॥

'गन्धर्वोऽस्युपाव उपमामव' । १३ । (म० ब्रा० १, ७, १३),—'इति' मन्त्रेण 'वैणवं' वेणुवंशभवं 'दण्डं' 'गृह्णाति' । २७ ।

भा०:—अनन्तर 'गन्धर्वोऽसि' मन्त्र का स्मरण करते हुए वांस (शास्त्रोक्त विधि अनुसार बनी) की यष्टि ग्रहण करे ॥ २७ ॥

आचार्य्यꣳ सपरिषत्कमभ्येत्याचार्य्यपरिषदमीक्षते यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमिति ॥ २८ ॥

'सपरिषत्कं, शिष्यादिमण्डलिविराजितम् 'आचार्यम्' 'अभ्येत्य, "यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासम्" । १४ । (म० ब्रा० १, ७, १४) 'इति' मन्त्रमुच्चरन् 'आचार्यपरिषदं' तम् 'ईक्षते' पश्येत् । २८ । अथ यात्राप्रकारः ।

भा०:—तदनन्तर शिष्यों से घिरे हुए आचार्य्य के निकट बैठकर "यक्षमिव भूयासं" मन्त्र पाठ कर उन शिष्य युक्त आचार्य का दर्शन करे ॥ २८ ॥

उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् सम्मृशन्नोष्ठापिधाना

---

* शरीर के किस २ अङ्ग में माला पहनने से माला की विशेष सँज्ञा क्या २ होती है सो कहते हैं—जो मस्तक में धारण कियी जावे उसे 'स्रक्', एवँ उसी को 'माल्य' और माला भी कहते हैं । केश के भीतर पहनने से 'गर्भक' नाम होता है, शिखा में लटकने से 'प्रभ्रष्टक' कहते हैं, सम्मुख भाग में ललाट पर जो झूलती हो उसे 'ललामक' कहते हैं । जो कण्ठ में पहिनी जावे उसे 'प्रालम्ब' कहते, यही 'उपवीत' वा प्राचीनीवीति की नाईं काँख तक लटकती हो उसे 'वैकक्षिक' कहते हैं ॥

नकुलीति ॥ २९ ॥ अत्रैनमाचार्य्योऽर्हयेत् ॥ ३० ॥

'उपोपविश्य' अर्द्धोपवेशनं प्रकृत्य 'मुख्यान्' मुखागतान् 'प्राणान्' वायून् 'सम्मृशन्, पवित्रीकुर्वन्, "ओष्ठापिधाना नकुली दन्तपरिमितः पविः। जिह्वे मा विह्वलो वाचं चारुमाद्येह वादय" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ७, १५) 'इति' मन्त्रं पठेदिति। २९। 'अत्र' अस्मिन्नेव समये 'आचार्यः' 'एनं' स्नातकम् 'अर्हयेत्' आशिषेति भावः। ३०।

भा०:—अर्द्धोपवेशन कर अपने मुख में आये हुए श्वास वायु का अनुभव करते हुए "ओष्ठापिधाना नकुली" मन्त्र का पाठ करे ॥ २९ ॥ इस समय आचार्य उस ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देकर प्रसन्न करे ॥ ३० ॥

गोयुक्तꣳरथमुपसंक्रम्य पक्षसी कूवरबाहू वाऽभिमृशे-द्वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया इति ॥ ३१ ॥

ततश्च 'गोयुक्तं' गोभ्यां युक्तं रथं' यानम् 'उपसङ्क्रम्य'—तत्समीपगमनेन प्राप्य, तस्यैव रथस्य 'पक्षसी' चक्रौ 'वा' अथवा 'कूवरबाहू' युगन्धरपार्श्वे। "वनस्पते वीड्वङ्गोहि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धोऽसि वीडयस्व आस्थाता ते जयतु जेत्वानि" ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ६) 'इति' मन्त्रेण 'अभिमृशेत्' स्पृशेत् ॥ ३१ ॥

भा०:—इस प्रकार यात्रा के लिये जिस रथ में सवार होना हो, उस के चक्र या जूआ छूकर 'वनस्पते वीड्वङ्गोहि' मन्त्र का पाठ करे ॥ ३१ ॥

आस्थाता ते जयतु जेत्वानीत्यातिष्ठति ॥ ३२ ॥

तथा स्पर्शनम् कृत्वा "आस्थाता ते जयतु जेत्वानि" (म० ब्रा० १, ७, १७)' 'इति' मन्त्रं पठन् तदुपरि 'आ' आभिमुख्येन 'तिष्ठति' आरोहतीत्यर्थः ॥३२॥

भा०:—उस के अनन्तर "आस्थातां ते" मन्त्र पढ़कर, रथ के ऊपर चढ़े ॥३२॥

प्राङ्वोदङ् वाभिप्रयाय प्रदक्षिणमावृत्योपयाति ॥३३॥

'प्राङ्' पूर्वाभिमुखस्तत्रोपविष्टः 'वा' अथवा 'उदङ्' उत्तराभिमुखएवोपविष्टः 'अभिप्रयाय' सर्वतश्चालयित्वा तद्रथमिति शेषः। 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'आवृत्य' आवर्त्तनेन गत्वा स्ववासमिति ॥ ३३ ॥

भा०:—इस रथ पर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर रथ चलावे। अपनी वास भूमि को दक्षिण में रक्ख कर आवर्त्तन करते हुए वहां बैठे ॥३३॥

उपयातायार्घ्यमिति कौहलीयाः ॥ ३४ ॥

'उपयाताय' स्वावासप्राप्ताय तस्मै स्नातकाय 'अर्घ्यम्' देयं पुरजनैरात्मजनैर्वा 'इति' एवं 'कौहलीयाः' आहुः। तत्राप्यस्माकं नासम्मति रिति भावः ॥३४॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठके चतुर्थखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ३,४

भा०:—बहुत दिन तक गुरुगृह में वास पूर्वक कृत ब्रह्मचर्य्य, अधीतवेद, स्नातक को परिवार गण आदर के साथ ग्रहण करें (Recieve) ॥ ३४ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय अध्यायके चतुर्थखण्ड का भाषानुवादपूरा हुआ॥३,४॥

अत ऊर्द्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः ॥१॥

'अतः' ब्रह्मचर्यात् 'ऊर्द्ध्वं' परस्तात् अकृतोद्वाहोऽपि पुरुषः वृद्धशीली स्यात्' वृद्धानां मात्रादीनां शुश्रूषापर आज्ञानुवर्त्ती च भवेत। अथवा वृद्धः पक्वबुद्धिः तत्स्वभावको भवेत् । 'इति' एतन्मात्रेणैव 'समस्तोद्देशः' समग्राणामेव धर्माणाम् उपदेशः सिद्धो भवेदिति ॥१॥

भा०:—ब्रह्मचर्य्य समाप्त करने पर विवाह के पहिले आश्रम सन्धि समय तक गृहधर्म्म करना चाहिये। उस से पिता माता प्रभृति वृद्ध जनोंकी सेवा में परायण एवं सुपक्व बुद्धि होवे। यह सब उपदेशों का मूल है ॥१॥

तत्रैतान्याचार्याः परिसञ्चक्षते ॥२॥

'तत्र' ब्रह्मचर्योत्तरकाले आश्रमसन्धाविति यावत्, 'आचार्याः' गोभिलादयः 'एतानि' बुद्धिस्थानि अनुपदं वक्ष्यमाणानि 'परिसञ्चक्षते' परिसंख्यानानि कुर्वन्ति। परिसंख्यानञ्च निषेधविशेषम्, निषिद्धादन्यत्र विधानमित्येव तस्य विशेषत्वम् ॥२॥

भा०:—घर में पुनः आये हुए व्यक्तियों के लिये आचार्य्यों ने वक्ष्यमाण नियम निर्दिष्ट किये हैं ॥ २ ॥

नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ॥३॥ नायुग्वा ॥४॥ न रजस्वलया ॥५॥ न समानर्ष्या ॥६॥

'अजातलोम्न्या' रसानभिज्ञया वालिकया 'उपहासम्' अपि 'न' 'इच्छेत्' अपि ॥३॥ 'अयुग्वा' अयोग्यया अपि 'न' तथा ॥४॥ 'रजस्वलया' अपि 'न' तथा ॥५॥ 'समानर्ष्या' समानः योग्यः ऋषिः पतिः यस्या अस्ति, तया सधवया अपि 'न' तथा ॥ ६ ॥

भा०:—जिस कन्या को अन्तर्लोम उत्पन्न हुए हों इसप्रकार रस से अनभिज्ञा वालिका के साथ उपहास करने की इच्छा न करे ॥ ३ ॥ इसप्र-

कार आयु रूप गुण प्रभृति में सर्वथा अयोग्या नारी के साथ भी उपहास परित्याग करे ॥ ४ ॥ रजस्वला पत्नी से अलग रहे ॥ ५॥ परस्त्री के साथ भी उपहास आदि न करे ॥ ६ ॥

नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत ।७। न द्विःपक्कम् ।८। न पर्युषितम् ।९। अन्यत्र शाकमांसयवपिष्टविकारेभ्यः ॥१०॥

'अपरया' गुप्तया 'द्वारा' 'प्रपन्नम्' प्राप्तम् 'अन्नम्' 'न भुञ्जीत' ।७। 'द्विः-पक्कम्' पक्कं पुनःपक्कम् अन्नं 'न' भुञ्जीतेत्येव । ८ । 'पर्युषितम्' अन्नम् 'न' भुञ्जीत । ९ । तत्रास्ति विशेषः— शाकमांसयवानां पिष्टविकाराभ्याम् अन्यत्र पूर्वोक्तो निषेधो ज्ञेयः । तथाच शाकादिविकृतपिष्टकमिष्टान्नादौ पर्युषितत्वं न दोषायेति ॥ १० ॥

भा०:—अन्य किसी गुप्त रीति से प्राप्त अन्न भोजन न करे ॥ ७ ॥ दोवार का पका अन्न (उसना चावल आदि) भोजन न करे ॥ ८ ॥ वासी भात भी न खावे ॥ ९ ॥ कन्द, मूल फलादि द्वारा तैयार किया हुआ मांस की नाईं यव आदि अन्न से समुत्पन्न जलेवी आदि या अन्य किसी प्रकार का खाद्य मिष्टान्नादि वासी होने पर भी (कोई हानि नहीं) खावे ॥ १० ॥

न वर्षति धावेत् । ११ । नोपानहौ स्वयंहरेत् ।१२। नोदपान मवेक्षेत् ॥ १३ ॥

'वर्षति' पर्जन्ये 'न' धावेत् । ११ । 'उपानहौ' स्वस्यापि 'स्वयं' 'न आ-हरेत्' हस्तेनेति निर्माणप्रज्ञया वा ।१२। 'उदपानम्' कूपं 'न' 'अवेक्षेत्' तथा-वेक्षणे तत्र पतनसम्भवात् ॥ १३ ॥

भा०:—पानी वर्सते समय या वर्सने पर कीचड़ भरे मार्ग में दौड़ कर न चले ॥ ११ ॥ अपना जूता स्वयं हाथ में लेकर न चले और न स्वयं अपना जूता बनावे ॥१२॥ बहुत गहरे कूप आदि में एक टक से न देखे ॥ १३ ॥

न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत । १४ नागन्धांस्रजं धा-रयेत् । १५ अन्यांहिरण्यस्रजः । १६ नामालोक्ताम् ॥ १७॥

'फलानि' आम्रपनसादीनि 'स्वयं 'न प्रचिन्वीत' वृक्षशाखादिभ्य इति या-वत् । १४ 'अगन्धां' गन्धशून्यां 'स्रजं' मालां 'न धारयेत्' मस्तके इति यावत् ।१५ तत्राप्ययं विशेषः—'हिरण्यस्रजः' सुवर्णमालातः 'अन्यां' न धारयेत् स्वर्णमाला-भरणन्तु धारयेदित्येव ।१६ गृहस्थाश्रमतः प्राक् अमालोक्तां माला व्यतिरिक्तां प्रालम्बादिकां 'न' धारयेत् ॥ १७ ॥

भा०-आम आदि कोई फल स्वयं पेड़ों से तोड़ कर न जमा करे ॥१४॥माथे पर विना गन्धकी माला न धारण करे॥१५॥ किन्तु सोनेकी माला तो गन्ध रहित होने पर भी अवश्य धारण करे ॥ १६ ॥ माला शब्द से जिस माले का व्यवहार हो, उसी को धारण करे, प्रालम्बआदिक (माला) को नहीं। अर्थात् गृहाश्रम के पहिले आश्रम सन्धि में प्रालम्ब आदि का व्यवहार न करे ॥१७॥

स्रगिति वाचयेत् । १८ भद्र मित्येतां वृथावाचं परिहरेत् । १९ भद्र मिति ब्रूयात् । २० तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति ॥२१॥

स्रग्लक्षणां शिरोवेष्टनिकां मालां तु धारयेदेव । १८ 'भद्रम्'-'इति' वृथा वाचं' अभद्रेऽपि भद्रोक्तिं 'परिहरेत्' न प्रयुञ्जीत । १९ 'भद्रम्'-इति' 'ब्रूयात' सत्य मेव तद् भद्रं चेत् । २० अथ स्नातक विभागान् दर्शयति,-'तत्र' समावर्त्ति-तेषु 'स्नातकाः' कृतब्रह्मचर्यव्रतान्तस्नानाः 'त्रयः' त्रिविधाः 'भवन्ति' ॥ २१ ॥ तत्त्रिविधत्वमेव स्फुटयति ;-

भा०:-जिस का नाम स्रक् है, उसी को धारण करे ॥ १८ ॥ जो वस्तु अच्छी न हो, उसे अच्छी है ऐसा न कहे ॥१९॥ इसप्रकार, जो वस्तुतः अच्छी हो उसे अच्छी कहे ॥२०॥ समावर्त्तित (जिन का ब्रह्मचर्य्य समाप्त हो गया है) द्विज गण तीन प्रकार के होते-जिन्हें स्नातक कहते हैं ॥ २१ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥२२॥

'विद्यास्नातकः' विद्याग्रहणनियमपालनमन्तरेणापि वेदविद्यां समग्रा-मवाप्यैव अपूर्णेऽपि काले स्नातः, 'व्रतस्नातकः' विद्याग्रहणनियमान् प्रतिपा-ल्यापि समग्रवेदविद्याग्रहणे न कृतकृत्योऽपि च पूर्णे काले स्नातः, 'विद्याव्रत-स्नातकः' विद्यां समग्रां प्रगृह्य, व्रतं च यथावत् प्रतिपाल्य, यथाकालं स्नातः, 'इति' इमे त्रयः स्नातकाः ॥ २२ ॥

भा०:-प्रथम, विद्यास्नातक अर्थात् जितने नियमों का ब्रह्मचर्य्य में प्रतिपा-लन करना पड़ता, उतने नियमों का पालन न कर सकने पर, एवं जितने काल पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य कर्त्तव्य हैं, उतने काल तक न करके वेदाध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचर्य्य समाप्ति सूचक स्नानकारी होता है। द्वितीय, व्रतस्नातक अर्थात् जितने समय तक ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य, एवं जिस २ नियमसे कर्त्तव्य हो, उस २ प्रकार वेदाध्य-यन समाप्त न करके भी 'व्रतस्नातक' होता है। तृतीय-'विद्याव्रतस्नातक' अर्थात् नियम पूर्वक यथोक्त कालपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके सम्पूर्ण वेदाध्यायी होता है॥२२॥

तेषा मुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ । २३ । नार्द्रं परिदधीत । २४ । नैकं परिदधीत ।२५। न मनुष्यस्य स्तुतिं प्रयुञ्जीत ।२६। नादृष्टं दृष्टतोब्रुवीत ॥ २७ ॥

'तेषां' त्रिविधानां स्नातकानां मध्ये 'उत्तमः' तृतीयः विद्याव्रतस्नातक एव 'श्रेष्ठः' 'पूर्वौ' विद्यास्नातक व्रतस्नातकौ उभावेव 'तुल्यौ' समानमर्य्यादौ ॥ २३ ॥ पुनरपि स्नातकव्रतान्याह,–'आर्द्रं' वासः 'न' 'परिदधीत' । २४ ॥ 'एकं' वासः 'न' 'परिदधीत' एवञ्च अन्तर्वासः कौपीनखण्डं व्यवहरेदेव। २५ मनुष्यस्य स्तुतिं न प्रयुञ्जीत चाटुवादं परित्यजेदिति । २६ 'अदृष्टं' किमपि कर्म, 'दृष्टतः' परदृष्टहेतुना स्वयं दृष्टमिव सूचयन् मन्वानो वा 'ब्रुवीत' ॥ २७ ॥

भा०–उक्त तीन प्रकार के स्नातकों में से तृतीय अर्थात् 'विद्याव्रतस्नातक' ही सब से अच्छा है, अन्य दो समान हैं ॥ २३ ॥ भींगा कपड़ा न पहने ॥२४॥ केवल एक ही वस्त्र न पहने, किन्तु भीतर उस के काच्छा, या कौपीन पहन कर ऊपर से धोती पहने ॥२५॥ मनुष्य की झूठी प्रशंसा न करे ॥ २६ ॥ जिसे अपनी आंखों से न देखे, उसे अपनी आंख से देखा है ऐसा न कहे ॥२७॥

नाश्रुतꣳश्रुततः । २८ स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत् । २९ तैलपात्रमिवात्मानं दिधारयिषेत् ॥ ३० ॥

'अश्रुतं' किमपि वाक्यं, 'श्रुततः' परश्रुतहेतुना स्वयं श्रुतमिव सूचयन् मन्वानो वा न ब्रुवीत । २८ 'स्वाध्यायविरोधिनः अर्थान्' स्वाध्यायः पञ्चधा उपपद्यते, स्वीकारात् विचारात् अभ्यसनात् जपात् छात्रेभ्योदानाच्च तदेषामन्यतमस्यापि विरोधिनो येऽर्था विषयाः तान् 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् । २९ 'तैलपात्रं तैलैः पूर्णं पात्रं पर्णद्रोणयादिकम् 'इव' 'आत्मानं' जीवात्मानं 'दिधारयिषेत्' देहे धारयितुमिच्छेत् । तैलपूर्णपात्रहस्तः कश्चिद् यथा पथि अतीव सावधानो गच्छति, अन्यथा वेगगमनेन वक्रगमनेन मनसोऽप्रणिधानेन च पात्रस्थतैलानामुच्छलनं सपात्राणां भूमौ पतनं ततश्च पुनरापादनासम्भवः, भूम्याः कथञ्चिदा दादितेष्वपि तेषु मालिन्यादिकं परिमाणाल्पत्वञ्चानिवार्यं भवेत् । तथैव देहस्थमिममात्मान मतियत्नैव देहे रक्षितुमिच्छेत् चिरं देहे रक्षणं त्वसम्भवमेव, परमिच्छेत् तादृशेच्छया च किञ्चित्कालमपि रक्षितुं समर्थो भवेत् किञ्च यावत् कालं रक्षितः स्यात् तावदपेक्षाकृतोऽक्लेशोऽपि स्यात्, अन्यथा यावत् स्थेयं तावत्कालमपि न तिष्ठेत् किञ्चिस्थतोऽप्यपेक्षाकृतः क्लेशीभवेन्नामेति३०

भा०—जिसे अपने कानों से न सुना हो, उसे अपने कानसे सुना है ऐसा न कहे ॥ २८ ॥ पांच प्रकार के (स्वीकार, विचार, अभ्यास, जप, और छात्रों को देना) स्वाध्यायों में से किसी में बाधा न हो, ऐसा वर्त्ते। अर्थात् ऐसा कार्य न करे जिससे स्वाध्याय को बाधा पहुंचे ॥ २९ ॥ मार्ग में चलता पुरुष जिस प्रकार तेल से भरा, तेल का वर्त्तन अपने हाथ में रक्ख कर, उस के गिरने के डरसे बहुत सावधानी से चलता है; नहींतो अनवधानता से शीघ्रता, या टेढ़ी चाल चलने से, तेल पृथिवी पर गिरकर नष्टहो जावे, यदि भूमि पर से गिरा तेल उठा लेवे, तो भी उसकी मलीनता एवं न्यूनता अनिवार्य है। इसीप्रकार इस शरीर में आत्मा की भी सावधानी से रक्षा करे, नहीं तो अकाल ही में, यह शरीरच्युत या दुःखीहो जावेगा। यद्यपि यह, एक शरीर में चिरस्थायी और दुःखरहित नहीं रह सकता, तथापि यत्न करने पर अपेक्षा-कृत स्थायी और अपेक्षा कृत सुखी हो सकता है)॥ ३० ॥

न वृक्षमारोहेत् । न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत् । नैकः ।३१-३३

'वृक्षं' 'न आरोहेत'। तदारोहणेन ततः पतनमनु मरणमङ्गहानि वा भ-वाम। ३१ 'प्रतिसायं ग्रामान्तरं' 'न व्रजेत्'। तादृशव्रजनेन गुप्तप्रणयादिकं तथाच ततएव प्राणहानि रपि सम्भवति ।३२ 'एकः' एकाकी एव ग्रामान्तरं 'न' व्रजेत् तथाच ग्रामान्तरगतोविपन्नश्चेत् यः सहायो भवेत् अथवा यथास्थानं सं-वादमपि नयेदेवं कश्चनापरो द्वितीयः सहगोऽतीवावश्यकः ॥ ३३ ॥

भा०—पेड़ पर न चढ़े (क्योंकि इससे गिर कर मर जावे, चोट लगने आदि की शङ्का है) ॥३१॥ प्रतिदिन सन्ध्या के पीछे दूसरे गांव में भ्रमणार्थ न जावे (इससे गुप्त प्रणय आदि दोष होने का डर है) ॥ ३२ ॥ अकेला दूसरे गांव में न जावे (एकाकी विपन्न होने पर, सहायकारी, या संवाद दाता का अभाव होता है। इस लिये ग्रामान्तर जाते समय एक उपयुक्त व्यक्ति को सतत सङ्ग रक्खे) ॥ ३३ ॥

न वृषलैः सह । ३४ न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत् । ३५ न चाननुचरश्चरेत् । ३६ एतानि समावृत्तव्रतानि । ३७ यानि च शिष्टा विदध्युः ॥ ३८ ॥

'वृषलैः' दुर्नीतिकैः 'सह' 'न व्रजेत्'। तथाच [illegible]संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'।३४ 'कासृत्या' कुपथेन 'ग्रामं न प्रविशेत्' अपितु प्रसिद्धेन पथा दूरतरेणापि प्रवि-शेत् तथाच निर्भयगमनं भवेत्। ३५ 'च' अपि 'अननुचरः' भृत्यशिष्यात्मीया-न्यतमपरिचारकविहीनः 'न चरेत्' प्रवासं न गच्छेत्। अतएवोक्तं 'भृत्याभावे

भवति मरणम्' । ३६ 'एतानि' उक्तानि समावृत्तव्रतानि' समावृत्तानां स्नातकानां कर्माणीति ॥ ३७ ॥ 'च' अपि 'यानि' उक्तान्यानि 'शिष्टाः' गुर्वादयः विदध्युः तानि च कर्त्तव्यान्येवेति ॥ ३८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठके पञ्चमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम्३,५

भा०—दुष्ट लोगों का संसर्ग न करे (जिस कारण संसर्ग ही से दोष गुण उत्पन्न होते हैं) ॥३४॥ प्रसिद्ध मार्ग रहने पर भी, जल्दी पहुंचने के विचार से प्रसिद्ध मार्ग को छोड़ कुपथ से न जावे ॥ ३५ ॥ एवं प्रवास (दूरदेश बाहर) जाते समय नौकर, छात्र, या किसी एक अपने अनुचर को अवश्य सङ्ग ले लेवे ॥ ३६ ॥ ये सब कर्म स्नातक के लिये कहे गये हैं ॥३७॥ और भी जो कुछ शिष्टगण स्नातकोंके हितार्थ नियम कहैं, उन २ का प्रतिपालन अवश्य करे॥३८॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के पञ्चमखण्ड का भाषानुवादपूराहुआ ॥३।५॥

गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयतेमा मे विश्वतो वीर्य्य इति। १ प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति ॥ २ ॥

"प्रकाल्यमानाः" चरणभूमौ गमनार्थं गृहान्निष्काश्यमानाः गाः, "इमा मे विश्वतो वीर्या भव इन्द्रश्च रक्षतम् । पूषथ्ंस्त्वं पर्यावर्त्तयानष्टा आयन्तु नो गृहान्" ॥१॥ (म० ब्रा० १, ८, १)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' । १— । 'प्रत्यागताः' चरणभूमितो गृहागता स्ता गाः "इमा मधुमती मंह्य मनष्टाः पयसा सह । गाव आज्यस्य मातर इहेमाः सन्तु भूयसीः" ॥ २ (म० ब्रा० १, ८, २) 'इति' अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रयेतेत्येव ॥ २ ॥

भा०—चारण भूमि (गौ चराने की जगह) में चराने के लिये गौ आदि को घर से वाहर ले जाते समय " इमामे विश्वतो वीर्यः" यह मन्त्र पढ़े ॥१॥ और जब गौ आदि चरकर घर आवें तो "इमा मधुमती मंह्यम्" यह मन्त्र पढ़े ॥२॥

पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहनाज्जिह्वया ललाटमुल्लिह्य निगिरेद् गवाथ्ंश्लेष्मासीति॥३॥

'पुष्टिकामः' पुरुषः, 'प्रथमजातस्य वत्सस्य, मातुः प्रलेपनात् प्राक्' एव तस्य 'ललाटं' जिह्वया' स्वकीयया 'उल्लिह्य' आस्वाद्य लेहनेन मुखागतं श्लेष्माणं "गवाथ्ंश्लेष्मासि गावो मयि श्लिष्यन्तु" ॥ ३ (म० ब्रा० १, ८, ३)—'इति' इमं मन्त्रं मनसा पठन्नेव निगिरेत्' गलाधः कुर्यात् । इत्येतत् पुष्टिकामस्य प्रथमं कार्य्यम् (एतेन वत्समातुः स्नेहतोऽपि समधिकः स्नेहः प्रतिपालकस्यावश्यकस्तथासत्येव यथाभिलषितपुष्टिर्भवतीति सूचितम्) ॥ ३ ॥

भा०—जोलोग, पुष्टिकी कामना करें, वे गौ के वत्स, को जन्म के साथ ही, जब-तक उसकी अपनी मा उसे चाटे, या न चाटे, पुरुष अपनीजिह्वा से, वत्सका ललाट चाटे (अर्थात् मा के स्नेह से भी पालक का स्नेह कुछ अधिक होना आवश्यक है)। इस प्रकार चाटते समय मुंह में आया हुआ लार को "गवां श्लेष्मासि" यह मन्त्र मन ही मन पढ़ कर निगल जावे ॥३॥

पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपसमाधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति ॥ ४ ॥

'पुष्टिकाम एव' पुरुषः, 'निशायां' रात्रौ 'सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु; 'गोष्ठे' तत्रैव गोस्थाने, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय, सम्यक् प्रज्वाल्य, तत्र, "संग्रहण संगृहाण ये जाताः पशवो मम। पूषैषाᳪं शर्म्म यच्छतु यथा जीवन्तो अप्ययात्" ॥ ४॥ (म० ब्रा० १, ८, ४)—'इति' एतेन मन्त्रेण 'विलयनं' अर्द्धमथितं दधि 'जुहुयात्' स्रुवेणेति। (इत्येतत् पुष्टिकामस्य द्वितीयं कार्यम्। एतेन, गवां प्रसवक्लेशरुजमपनीतं स्यात्) ॥ ४॥

भा०—जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे रात में गौ के बच्चा जनने पर, घरमें अच्छे प्रकार आग जला कर "संग्रहण संगृहाण" यह मन्त्र पढ़ते हुए "विलयन" (आधा महा हुआ दधि) होम करे ॥४॥

पुष्टिकाम एव संजातास्वौदुम्बरेणासिना वत्समिथुनयोर्लक्षणं करोति पुंᳪसएवाग्रेऽथ स्त्रिया भुवनमसिसाहस्रमिति५

'पुष्टिकामएव'पुरुषः,'सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु,'वत्समिथुनयोः' द्वयोर्द्वयोर्वत्सयोः 'औदुम्बरेण' उदुम्बरकाष्ठीयेन असिना, चिह्नकविशेषेण 'लक्षणं' चिह्नम् उभयोः समरूपमेव 'करोति' कुर्य्यात्। तत्र, 'पुंसः एव' चिह्नम् 'अग्रे' कर्त्तव्यम्, 'अथ' तदनन्तरं च 'स्त्रियाः'। अत्र चिन्हकरणे मन्त्रौ "भुवनमसि साहस्रमिन्द्राय त्वा सृमोऽददात् अक्षतमरिष्टमिलान्दम् ॥५॥ गो पोषणमसि गोपोषस्येशिषे गोपोषाय त्वा। सहस्र पोषणमसि सहस्रपोषस्येशिषे सहस्रपोषाय त्वा" ॥६॥ (म० ब्रा० १, ८, ५, ६)—'इति' इमौ ॥ ५ ॥

भा०:—जो लोग पुष्टि की इच्छा करें, वे, गूलर की लकड़ी की बनी लाल तरवार से नवोत्पन्न प्रतिबच्चे के दोनों कानों को इसप्रकार चिन्ह कर देवें कि (यदि जोड़ा उत्पन्न होतो) प्रथम बाछड़े को, फिर बछिया को। दोनों कान में चिन्ह करते समय, "भुवनमसि साहस्रः" ये मन्त्र पढ़ें ॥ ५ ॥

कृत्वा चानुमन्त्रयेत लोहितेन स्वधितिनेति ॥ ६ ॥

'कृत्वा' अङ्कनं, 'च' ततः "लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृतम्। (यावतीनां) भूयसीनां व एषमो लक्षणमकारिषम्। (भूयसीनां) भूयसीनां व उत्तरामुत्तरां समां क्रियासम्" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, ८, ७)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' ताम् वत्सानिति शेषः। अत्र च मन्त्रे 'लोहितेन'—इति पदलिङ्गात् स औदुंबरोऽसिः लोहितः स्यादिति गम्यते, लोहितत्वञ्च तस्य ज्वलनेन सिन्दूरादिना वा भवितव्यम्। तथाच दाहने सिन्दूरादिरञ्जितेन वा वत्सयुग्माः चिन्हिताः स्युः किञ्चात्रैव 'कर्णयोः'—इति पददर्शनात् तेषां कर्णेष्वेव चिन्हानि कर्त्तव्यानीति च गम्यते। (एतेन (चरणभूम्यादौ बहुस्वामिक वत्सानामेकत्र चरणेऽपि विभ्रमः सुपरिहार्यः, किञ्चैकविधचिन्हेन द्वयोर्द्वयोः कर्णावङ्किताविति एकेऽपहृते तदन्वेषणं सुकरं भवेदित्येतत् पुष्टिकामस्य तृतीयं कार्य्यम्) ॥ ६ ॥

भा०—उक्त प्रकार चिन्ह करने पर, "लोहितेन स्वधितिना" यह मन्त्र पढ़े (एक २ जोड़ा वत्स का एक २ प्रकार चिन्ह रहने से एक वच्चा भुलाने पर उसके मिलने का सुभीता होगा, जहां गौयें अधिक हों, वहां के लिये यह नियम जान पड़ता है) ॥ ६ ॥

तन्त्रीं प्रसार्य्यमाणां बद्धवत्साञ्चानुमन्त्रयेतेयं तन्त्री गवांमातेति ७

'प्रसार्यमाणां' शुष्कीभवनाय बद्धवत्साञ्च' गोदोहनादौ 'तन्त्रीं' वत्सबन्धनरज्जुं "इयं तन्त्री गवां माता सवत्सानां निवेशनी। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरांसमाम्"। ८ ॥ ८ (म० ब्रा० १, ८, ८)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' ॥ ७ ॥

भा०—'इयं तन्त्री गवां माता' इस मन्त्र का पाठ कर वत्स को बान्धने की रस्सी पसार कर सुखावे ॥ ७ ॥

तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति। ८ निष्कालनप्रवेशने तन्त्रीविहरणमिति। ९ गोयज्ञे पायसश्चरुः ॥ १० ॥

'तत्र' गोपोषणे 'एतानि' 'अहरहः कृत्यानि' प्रतिदिनंकर्त्तव्यानि 'भवन्ति' भवेयुः। ८ 'निष्कालन प्रवेशने' प्रथमद्वितीयसूत्रोक्ते 'तन्त्रीविहरणं' सप्तमसूत्रोक्तम् अपि 'इति' इमानि त्रीणि। ९ अथ पुष्टिकामेन गोयज्ञः कार्य्यः तत्र द्रव्यदेवते विधत्ते ;— "गोयज्ञेपायसः" पयसा सिद्धः 'चरुः' पक्तव्यः ॥ १० ॥

भा०—गौ पोषण (पालन) करने में प्रति दिन, ये नियम करना चाहिये ॥८॥ प्रथम, गौ आदिक को चारण भूमि (चरागाह) में चरने देना, २ तीय, चर कर आने पर उनको यत्न से ग्रहण करना और तृतीय, बच्चों की विशेष गौओं की सेवा करनी ॥९॥ गो—यज्ञ के निमित्त दूध में का पका चरु आवश्यक है॥१०॥

अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् । ११ ऋषभपूजा ।१२ गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः । १३ । यमवरुणौ देवताना-मत्राधिकौ ॥ १४ ॥

'अग्निं' 'पूषणम्' 'इन्द्रम्' 'ईश्वरम्'—इमान् चतुरो देवान् 'यजेत' अर्चयेत् । ११ 'ऋषभस्य' वृषभस्य पूजा अपि कार्या । १२ ' गोयज्ञेन ' उक्तेनानेन 'एव' 'अश्वयज्ञः' व्याख्यातः विशेषेणोपदिष्टः। तथाच अश्वयज्ञेऽपि पायसश्चरुर्द्रव्यम्; अग्न्याद्याएव देवताः । ऋषभपूजास्थानेऽश्वपूजनम् । १३ 'अत्र' अश्वयज्ञे 'देव-तानाम्' मध्ये 'यमवरुणौ' इमौ देवौ 'अधिकौ' पूज्याविति ॥ १४ ॥

भा०—और अग्नि, पूषा, इन्द्र, और ईश्वर, ये चार नाम वाले देव विशेष अर्चनीय हैं । (अर्थात् जिन मन्त्रों के ये देवता हैं उन मन्त्रों से) ॥ ११ ॥ ऋषभ पूजा भी गोयज्ञ का प्रधान अङ्ग है ॥१२॥ गोयज्ञ और अश्वयज्ञ दोनों ही एक प्रकार से होंगे (इस से अश्वयज्ञ में भी दुग्ध सिद्ध चरु आवश्यक है और अग्नि प्रभृति उक्त चार देवता भी विशेष अर्चनीय हैं) ॥१३॥

भा०:—गो—यज्ञ से, अश्व—यज्ञ में विशेषता यह है कि अश्व यज्ञ में 'यम' एवं 'वरुण' देवता की पूजा होती है ॥१४॥

गन्धैरभ्युक्षणं गवां गन्धैरभ्युक्षणं गवाम् । १५ ॥ ६ ॥

'गन्धैः' धूपादिभिः 'गवाम्' 'अभ्युक्षणं' प्रहर्षणं कार्यमिति शेषः। वीप्सा-याञ्च द्विर्वचनम्, तेन प्रतिदिनमेव सायंप्रातः सायमेव वा गोगृहे अग्निं प्रज्वा-ल्य तत्र गुग्गुलवादिगन्धद्रव्यक्षेपणेन च तद्गृहं धूपायितं कार्य्यम्। एतेन मश-कादीनामुपद्रवो वारितः स्यात्, गृहदोषश्च विदूरितो भवेदिति ॥ १५ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३,६

भा०:—गौ—शाला में प्रतिदिन सायं प्रातः काल, अन्ततः सायंकाल भी आग जला कर उस में धूना, गुगगुल प्रभृति डाल कर, घर को साफ रक्खे (जिस से मल मूत्र जनित दुर्गन्ध दूर हो) ॥१५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के छठेखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३।६॥

—:०:—

अथातः श्रवणाकर्म्म ।१ पौर्णमास्यां कृत्यम् ।२ पुरस्ताच्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

'अथ' अधिकारार्थः । 'अतः' ऊर्द्ध्वं 'श्रवणाकर्म्म' अधिकृतं वेदितव्यम् ।१ तच्च श्रवणाकर्म्म 'पौर्णमास्यां' तिथौ 'कृत्यं करणीयं भवति आरब्धव्यमिति । श्रवणाकर्मेति महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादन्वर्थतः श्रवणानक्षत्रयुक्तायामेव पौर्णमास्यामिति । २ 'शालायाः' अग्न्यागारस्य 'पुरस्तात्' पुरोभागे 'उपलिप्य' गोमयेत्यादिना, 'शालाग्नेः अग्न्यागारस्थिताग्नितएव 'अग्निं' गृहीत्वा 'प्रणयन्ति' यथाविधिं प्रज्वालयन्ति प्रज्वालयेयुः गृहस्था अविशेषेणेति ॥ ३ ॥

भा०:—अब श्रवणा कर्म का आरम्भ जानो ॥ १ ॥ यह श्रावण कर्म, श्रावण मास की पूर्णिमा में पहिले किया जावे । अर्थात् श्रावणी पूर्णिमा से इस का आरम्भ करे ॥ २ ॥ जिस घर में नित्य अग्निहोत्र का अग्नि स्थापित हो, उसी घर के पुरो भाग में गौ के गोबर से लीप कर अग्निहोत्र से कुछ अग्नि लेकर पृथक् यथा विधि अग्नि प्रज्वलित करे। यह, साधारणतः सब ही गृहस्थ करे ।३।

अभितश्चत्वार्य्युपलिम्पन्ति ।४ प्रतिदिशम् साधिके प्रक्रमे ।५ ,६ । अग्नौ कपालमाधाय सकृत्संगृहीतं यवमुष्टिं भृज्जत्यनुपदहन् ॥ ७ ॥

'अभितः' तस्याभिनवस्याग्नेः, 'चत्वारि' स्थानानि 'उपलिम्पन्ति' गोमयेत्यादिनैव । ४ 'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति 'साधिके प्रक्रमे' अन्यून प्रक्रमपरिमित स्थाने तल्लिम्पनं कर्त्तव्यम् । 'त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः' । ५, ६ 'अग्नौ' तत्र 'कपालं' घटार्द्धप्रायं भाजनम् 'आधाय' स्थाप्य, तस्मिन्नेवोत्तप्ते भ्राष्ट्रे 'सकृत्सङ्गृहीतं एकदैव सङ्गृहीतं मुष्टिमितं यवान्नम् 'अनुपदहन्' दग्धं यथा न भवेत् तथा कृत्वा 'भृज्जति' भर्जयेत् ॥ ७ ॥

भा०—उस नये स्थापित अग्नि की चारो ओर चार स्थान भी गोबर से लीपे ॥ ४ ॥ प्रत्येक दिशा में कम से कम तीन पग स्थान लीपे ॥ ५, ६ ॥ उस नये अग्नि पर एक खपरी (घड़े का अद्धा) रक्ख कर, उस में एक मुट्ठी [illegible] एकवार डाल कर ऐसा भूने जिस में यव भस्म न हो जावे ॥ ७ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृंहयित्वाऽवहन्त्युद्धेचम् ॥ ८ ॥

'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' भागे 'उलूखलं' 'दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र उद्धेचं, तुषमुक्तं यथा स्यात्तथा कृत्वा 'अवहन्ति' मुष्टिमितान् तान् भृष्टयवान्, मुसलेनेति । ८ ।

भा०—उस अग्नि के पीछे दृढ़ता से ओखरी (उलूखल) रक्ख, उस में उक्त भूने यव आदि को साफ करने के लिये रक्ख कर मूसल से छांट देवे ॥८॥

सुकृतान्सक्तून् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय निदधाति । ९ दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ॥ १० ॥

एवञ्च 'सुकृतान्' निस्तुषीकृतान् 'सक्तून्' भृष्टयवचूर्णान् 'कृत्वा' 'चमसे' पानपात्रविशेषे 'ओप्य' संस्थाप्य 'शूर्पेण' अपिधाय च 'निदधाति' यथास्थानं रक्षति ॥ ९ ॥ क्व दिशि रक्षेत् ? इत्याशङ्कामपनोदितुमाह;–'दक्षिणपश्चिमे' द्वे दिशौ 'अन्तरेण' मध्ये 'सञ्चरः' गमनागमनमार्गः । तदेतत्सञ्चरातिरिक्तप्रदेशेषु यत्र कुत्र वा रक्षेदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

भा०–इस प्रकार भूने यव आदि की भूसी निकाल और चूर्ण कर, सुन्दर सत्तू प्रस्तुत होने पर, उसे चमसे में (पानीय पात्र में) रक्ख कर, सूप से ढांक कर यत्न से रक्खे ॥९॥ दक्षिण और पश्चिम दिशा में अर्थात् नैर्ऋत्यकोण में, जाने आने का रास्ता छोड़ कर, जहां चाहे, उक्त सत्तू को रक्खे ॥ १० ॥

अस्तमिते चमसदर्व्यावादाय शूर्पञ्चातिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति । ११ । शूर्पे सक्तूनावपति चमसे चोदकमादत्ते ॥१२॥

'अस्तमिते' सवितरि 'चमस–दर्व्यौ शूर्पं च' 'आदाय' गृहीत्वा 'अतिप्रणीतस्य' अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्य, नित्याग्नितः पृथक् कृत्वा द्वितीयतया स्थापितस्य, अभिनवस्य, तस्यैवाग्नेः 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' होमार्थमिति । । ११ । चमसे रक्षितान् तान् 'सक्तून्' 'शूर्पे' 'आवपति' 'च' अपि शून्ये तत्र चमसे 'उदकम्' 'आदत्ते' गृह्णीयात् । १२ ।

भा०.–सूर्य्यास्त होने पर, चमस दर्वी (चलौना) सूप लेकर उस के अतिरिक्त (अर्थात् नित्य स्थायी अग्नि से विभिन्न) नये अग्नि के निकट होम करने के अभिप्राय से जावे ॥ ११ ॥ पहिले चमसे में रक्खा सत्तू आदि सूप में उझल कर, उस चमसे में जल ग्रहण करे ॥ १२ ॥

सकृत संगृहीतान् दर्व्या सक्तून् कृत्वा पूर्व उपलिप्त उदकं निनीय बलिं निर्वपति, यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिरिति । १३ । उपनिनयत्यपाꣳ शेषं यथा बलिं न प्रवक्ष्यतीति ॥ १४ ॥

ततः 'दर्व्या' तया 'सक्तून्' 'सकृत्' एकवारं 'संगृहीतान् कृत्वा' गृहीत्वा,

किञ्च 'पूर्वे' पूर्वस्यां दिशि 'उपलिप्ते' गोमयादिलिप्तस्थाने 'उदकं' चमसाद् गृहीतं 'निनीय' निषिच्य, तदुपरि "यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥१॥ (म०ब्रा०२,१,१)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'बलिं' भागं 'निर्वपति' संस्थापयति ॥१३॥ 'अपां शेषं' तच्चमसपात्रस्थमवशिष्टं जलं 'उपनिनयति' उपनिनयेत् स्थापितबलेरुपरि किञ्चित् क्षिपेत्। तथा कृत्वा क्षिपेत् 'यथा' च 'बलिं' तं बलिं 'न प्रवहयति' न प्रवहेत् ॥ १४ ॥

भा०:—अनन्तर उस दर्वी से एक ही वार में पूरा सत्तू उठाले और पूर्व दिशा में गोबर से लीपे हुए स्थान में उस चमस पात्र में रक्खा जल सीचकर उस के ऊपर यथा क्रम से "यः प्राच्यां" इस मन्त्र से बलिभाग रक्खे ॥ १३ ॥ उस चमस पात्र के बचे जल को उस बलि पर छींटे। इस जल को इस प्रकार छींटे जिस में ये बलि आदि वह न जावे ॥ १४ ॥

सव्यं बाहुमन्वावृत्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्येवमुदीची यथालिङ्गमव्यावर्त्तमानः। शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति। १५, १६।

ततश्च 'अव्यावर्त्तमानः, तत्रैकत्रैवस्थितौ 'सव्यं बाहुम्' 'अन्वावृत्य' वामभागावर्त्तनक्रमेण 'एवं' यथोक्तेन सकृत् सङ्गृहीतादिप्रकारेण 'दक्षिणा' दक्षिणस्यां दिशि देया बलिः 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य मन्त्रलिङ्गानुसारत एव मन्त्रं (यो दक्षिणस्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः॥२॥ यः प्रतीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥ ३ ॥ यः उदीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥४॥ मं०ब्रा०२,१,२-४) पठित्वा हर्त्तव्येति। 'एवं प्रतीची' बलिः हर्त्तव्या। 'एवम् उदीची' बलिः च हर्त्तव्या। ततश्च 'चमसदर्व्यौ' 'अभ्युदय' जलधौते प्रकृत्य 'प्रताप्य' तस्मिन्नेवाग्नौ, 'शेषं' अवशिष्टसक्तुभागम् 'अग्नौ' तस्मिन्नेव 'ओप्य' प्रक्षिप्य 'अनतिप्रणीतस्य' चिरस्थायिनएव तस्य, यतो गृहीत्वा एषोऽतिप्रणीतः तस्य 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' व्रजेत् ॥ १५, १६ ॥

भा०:—उसी एक स्थान में रहते हुए थोड़ा बाईं ओर हटकर, इसी प्रकार दक्षिण ओर एक बलि पश्चिम ओर एक और उत्तर ओर भी एक बलि, रक्खे और उस २ बलि, के देते समय 'मन्त्र ब्राह्मणोक्त अपर तीन मन्त्र अर्थानुसार यथा यथ मन्त्रों का व्यवहार करे। पीछे चारो ओर चार बलि प्रदान करे और उस के ऊपर बचा जल छिड़के। पीछे खाली चमस और दर्वी जल में धोकर उसी अग्नि के ऊपर सुखाकर और अवशिष्ट सत्तू आदि उसी अग्नि

में डालकर जिस अग्नि से कुछ आग लेकर यह अग्नि प्रस्तुत हुआ है, उसी चिरस्थायी अग्नि के निकट जावे ॥ १५–१६ ॥

पश्चादग्ने भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं जपति । १७ । प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ १८ ॥

'अग्नेः' चिरस्थापितस्य अनतिप्रणीतस्य तस्य 'पश्चात्' भूमौ 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "नमः पृथिव्यै दंष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिषाम ॥ सꣳहतं माविवधी र्विहतं मा भिसंवधीः"॥५॥ (म० ब्रा० २,१,३) 'इति एतं मन्त्रं जपति' ।१७। ततः'प्रदोषे' रात्रिप्रथमयामे 'पायसः चरुः' पक्तव्यः।१८

भा०:—उस अनति प्रणीत चिरस्थापित अग्नि के पृष्ठ भाग में दोनों हाथ नीचे कर "नमः पृथिव्यै" इस मन्त्र का जप करे ॥ १७ ॥ उस के पीछे रात्रि के पहिले अध पहरे में पायस चरु पकावे ॥ १८ ॥

तस्य जुहुयात्; श्रवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति ॥ १९ ॥

'तस्य' चरोः एकैकं भागं गृहीत्वा 'श्रवणाय स्वाहा' 'इति' इत्येवं पञ्चभिर्मन्त्रैः 'जुहुयात्' पञ्चहोमान् कुर्यादिति ॥ १९ ॥

भा०:—उस चरु में से एक २ भाग लेकर 'श्रवणाय स्वाहा' प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति देवे ॥ १९ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत् । २० । उत्तरतोऽग्नेर्दर्भस्तम्बꣳ समूलं प्रतिष्ठाप्य सोमोराजेत्येतं मन्त्रं जपति याꣳ सन्धाꣳ समधत्तेतिच ॥२१॥

'अन्यत्' कर्मशेषं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या कर्त्तव्येति शेषः।२० 'अग्नेः' तस्यैव 'उत्तरतः' 'समूलं दर्भस्तम्बं' 'प्रतिष्ठाप्य' "सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमो स्माकꣳ राजा सोमस्य वयꣳस्मः ॥ अहिजम्भन मसि सोमस्तम्बꣳ सोमस्तम्ब महिजम्भन मसि" ॥६॥ (म० ब्रा० २,१,४) 'इति' 'एतं' 'मन्त्रं' 'च' अपि "याꣳ सन्धाꣳ समधत्त यूयꣳ सप्तऋषिभिः सह। ताꣳ सपामात्यक्रामिष्ट नमो वो अस्तु मानो हिꣳसिष्ट" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २,१,५,) 'इति' मन्त्रं 'जपति' ॥ २१ ॥

भा:—अपर शेष कर्म्म सब स्थाली, पाकयज्ञ जिस प्रकार सिद्ध करना होता उसी प्रणालि से करे ॥२०॥ उस अग्नि के उत्तर भाग में मूल के साथ कुशपुञ्ज स्थापन कर 'सोमो राजा' यह मन्त्र और 'याꣳ सन्धाꣳ' मन्त्र पढ़े ॥२१॥

श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रेऽपिधाय निदधाति। अहरहस्तूर्ष्णीं बलीन् हरेत् सायं प्रागहोमादाग्रहायण्याः।२२,२३

'ततः' तदनन्तरं 'श्वः' परदिने 'अक्षतसक्तून्' यवसक्तून् 'कारयित्वा' पुत्र-पुरोहितादिना 'नवे पात्रे' 'अपिधाय' आच्छाद्य 'निदधाति' स्थापयति। तैरेव सक्तुभिः 'अहरहः' प्रतिदिनं 'सायं होमात्' सायङ्कालीनहोमतः पुरस्तादेव 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'बलीन् हरेत्'। 'आ आग्रहायण्याः' अग्रहायणमासी-यपौर्णमासीं यावत् पौर्णमासीतः प्राग्दिनपर्यन्तमिति। समाप्तं श्रवणाकर्म।२२,२३

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्३,७

भा०:—उस के दूसरे दिन अपने पुत्र, या पुरोहित आदि द्वारा यव का सत्तू प्रस्तुत कराकर नये पात्र में ढाक कर रक्खे और इसी सत्तू से प्रतिदिन सायंहोम के पहिले पूर्ववत् बलिभाग यथा स्थान में प्रदान करे। अग्रहण महीने की पूर्णिमा के पूर्वदिन तक इसी प्रकार करे ॥ २२, २३ ॥ *

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३,७॥

आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायसश्चरूरौद्रः ॥१॥

'आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां' आश्विनपूर्णिमायां 'पृषातके' आज्यमिश्रिते पयसि सम्पादिते (इति भावतोलब्धः) 'रौद्रः, रुद्रदेवताकः 'पायसः चरुः' पक्तव्यः इति शेषः ॥१॥

भा०:—आश्विन मास की पूर्णिमा को, पृषातक अर्थात् घृत मिश्रित दुग्ध सम्पादन पूर्वक रुद्र देवता की तुष्टि के लिये पायस चरु पाक करे ॥ १ ॥ *

तस्य जुहुयादा नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक इति द्वितीयाम् ॥ २ ॥

'तस्य' चरोः एकैकमंशं गृहीत्वा 'आनोमित्रावरुणा' (छ० आ० ३,१,३,७) 'इति' 'प्रथमाम्' आहुतिं किञ्च "मानस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामिनो वधी र्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे" ॥८॥ (म० ब्रा० २,१,८) 'इति' 'द्वितीयाम्' 'आहुतिं' 'जुहुयात्' ॥२॥

भा०:—उक्त चरु का एक २ भाग लेकर "आनो मित्रा वरुणा" (छ०आ०४, १,३,७) मन्त्र से प्रथम और "मान स्तोके तनये" मन्त्र से दूसरी आहुति देवे॥२॥

* आज इसी "श्रवणाकर्म" के बदले सावन की पूर्णिमा को सलोनो 'राखी', वा 'रक्षाबन्धन', ब्राह्मण लोग अपने २ यजमानों को "येन वद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महावलस्तेन त्वां प्रतिवध्नामि रक्षे माचल माचल" इस श्लोक को पढ़ (राखी रङ्गीन धागा) बान्ध कर दक्षिणा पाते हैं ॥

* इसी के बदले "कौजागरी कृत्य" अर्थात् कौजागर पौर्णमासी को लक्ष्मी पूजा हुआ करती है ॥

गोनामभिश्च पृथक् काम्यासीत्येतत्प्रभृतिभिः ३ । स्थालीपाकावृताऽन्यत् ॥ ४ ॥

'च' अपि 'काम्यासि इत्येतत्प्रभृतिभिः' यजुर्वेदप्रसिद्धैः (य० वे० सं० ८,४३) 'गोनामभिः' एकादशभिः 'पृथक्' नामशः एकादशाहुती जुहुयात्तस्यैव चरोरंशं गृहीत्वेति ॥ ३ ॥ 'अन्यत' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या एव कर्त्तव्यमिति ॥ ४ ॥

भा०:—'काम्यासि' प्रभृति यजुर्वेद के प्रसिद्ध ग्यारह (य० वे० सं० ८, ४३) गौ के नामों का उच्चारण करे, इस चरु के भाग को लेकर भिन्न २ * ग्यारह आहुति देवे ॥ ३ ॥ और अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक की नाईं करे ॥ ४ ॥

पृषातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्मणानवेक्षयित्वा स्वयमवेक्षेत;तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतमिति ॥ ५ ॥

ततः 'अग्निं प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा पृषातकम्' आज्य मिश्रितं पयः 'पर्याणीय' स्वसमीपं गृहीत्वा तच्च 'ब्राह्मणान्' तत्रागतान् 'अवेक्षयित्वा 'दर्शयित्वा 'तच्चक्षुर्देवहितम्'-'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'स्वयम् अवेक्षेत ॥ ५ ॥

भा०:—उस के अनन्तर अग्नि की प्रदक्षिणा कराकर उस पृषातक को अपने निकटस्थ लेकर स्थानीय ब्राह्मणों को देखावे एवं 'तच्चक्षुर्देवहितं, इत्यादि मन्त्र पढ़ २ कर उस में अपना मुख देखे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुषान्मणीन् सर्वौषधिमिश्रानाबध्नीरन् स्वस्त्ययनार्थम् ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणान्' निमन्त्रितान् 'भोजयित्वा' भोजनदानेन तर्पयित्वा ततः 'स्वयं भुक्त्वा' 'सर्वौषधिमिश्रान्' व्रीहिशालिमुद्गगोधूम-सर्षप-तिल-यव-मिश्रपोट्टलिसहितान् 'जातुषान्' जातुषनामकीन् लाक्षाकृतान् 'मणीन्' 'स्वस्त्ययनार्थं' कल्याणाय 'अबध्नीरन्' स्वबाहावाविति ॥ ६ ॥

भा०:—इस प्रकार कर्म्म की समाप्ति में, निमन्त्रित ब्राह्मणादिकों को भोजन करा कर, आप भी भोजन करे और १ व्रीहि, २ धान्य, ३ मूंग, ४ गोहूम, ५ सर्षप, ६ तिल, ७ यव, इन सात शस्य (अनाज) की पुटली बना इस के

* इडा रम्भा, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति, अघ्न्या, ये ११ यजुर्वेदोक्त गौ के नाम हैं।

साथ * जातुष नामक कई एक मणि के साथ बाहु पर, या दूसरे किसी कमर से ऊपर के ** अङ्गों में बान्धे। इस से कल्याण की वृद्धि होती है॥ ६॥

सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत स्वस्ति हासां भवति। ७, ८ नवयज्ञे पायसश्चरुरैन्द्राग्नः॥९॥

'सायं' समुपस्थिते 'गाः' 'पृषातकं' तत् 'प्राशयित्वा' पाययित्वा 'सहवत्साः' वत्सैः सहिताः ताः 'वासयेत' तां रात्रिमिति। एतेन कर्म्मणा 'आसां' गवां 'स्वस्ति' सुखं 'भवति'। ७, ८ 'नवयज्ञे' नूतनशस्यनिमित्तोत्साहादिप्रकाशनाय परमदेवाद्यर्चनं कर्त्तव्यं भवति, तत्र। 'पायसः पयसा दुग्धेन सम्पादितः 'चरुः' पक्तव्यः। स च चरुः 'ऐन्द्राग्नः' इन्द्राग्निदेवताको भवेदिति नवयज्ञद्रव्यदेवतानिर्द्देशः॥ ९॥

भा०:—सायंकाल में, जब गौयें चर कर बाहर से वापस आवें, उन को वह पृषातक पिलावे और रात्रि में बच्चों को अलग २ न बान्धकर, अपनी २ माके निकट ही रक्खे। इस से गौ आदिक प्रसन्न रहेंगी॥ ७, ८॥ नूतन शस्य निमित्तक उत्साह आदि प्रकाशनार्थ परम देवतार्चन यज्ञ करना होता है। (नवान्नेष्टि) इस में इन्द्राग्नी कहकर प्रसिद्ध दोनों देवता के नाम से आहुति दियी जावेगी और वह उसी नये शस्य के पायस चरु से सम्पन्न होगी९

तस्य मुख्याꣳ हविराहुतिꣳ हुत्वा चतसृभिराज्याहुतिभि रभिजुहोति शतायुधायेत्येतत्प्रभृतिभिः। १० स्थाली पाकावृताऽन्यत्॥ ११॥

'तस्य' नवयज्ञस्य 'मुख्याम् आहुतिं' इन्द्राग्निदेवताकां 'हुत्वा' ततः परं "शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदो अजीजादिन्द्रो नेषदतिदुरितानि विश्वा॥ ९॥ ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां यो अज्यानि मजीजिमावहास्तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे॥१०॥ ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो अस्तु।

---

* आज इसी के बदले ब्राह्मण गण 'जई, (जयन्ती) बान्धा करते हैं। यद्यपि ये लोग उक्त सात ७ अनाज से रक्षा बन्धन नहीं करते, किन्तु आश्विन मास के शुक्लपक्ष की नवमी की रात्रि में काली के पूजार्थ जो कलश रक्खा जाता, उस वेदी में जो यव बोया रहता है, उस को जन्मने पर दशमी के दिन ब्राह्मण लोग कलशे में से उखाड कर अपने २ यजमानों को श्लोक—(जयन्ती मङ्गला काली, भद्रकाली कपालिनी दुर्गे क्षमा क्षमा धात्री, भद्रकाली नमोस्तु ते) पढ़ कर उन की शिखा में जयन्ती बान्धकर दक्षिणा पाते हैं॥

** जिस का रंग माणिक्य की नाईं, लाह सदृश होता है उसी को जतु कहते। द्रुमामय भी इसी का नामान्तर है। जतु खण्ड को जातुष कहते॥

तेषा मृतूनाᳫंशत शारदानां निवात एषा मभये स्याम ॥ ११ ॥ इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः । तेषां वयᳫं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, १, ९-१२)—'इत्येतत्प्रभृतिभिः' 'चतसृभिः' मन्त्रैः 'आज्याहुतिभिः' 'अभिजुहोति' ॥ १० ॥ अन्यत्' अवशिष्टका-'र्यंजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञरीत्या एव भवेन्नाम ॥११॥

भा०:—उस नूतन यज्ञ की मुख्य यह ऐन्द्राग्न आहुति देने पर "शता-युधाय" इत्यादि चार मन्त्रों से आज्याहुति द्वारा और भी चार होम करे ॥ १० ॥ अवशिष्ट कार्य्य सब स्थाली पाक यज्ञ के विधि अनुसार करे ॥११॥

हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ॥ १२ ॥

'उच्छिष्टशेषम्' उत्सर्गीकृतस्य हविषः शेषं 'हविः' 'यावन्तः' दर्शकाः परिजना निमन्त्रिताश्च 'उपेताः' तत्रागताः 'स्युः' तान् सर्वानेवाविशेषेण 'प्राशयेत्' ॥ १२ ॥

भा०:—होम में की बची हुई शेष हवि, यज्ञ दर्शनार्थ आये परिजन, नि-मन्त्रण से आये हुए लोगों को यथा भाग खवावे ॥ १२ ॥

सकृदपामुपस्तीर्य्य द्विश्चरोरवद्यति ।१३ त्रिर्भृगूणाम् । १४

'चरोः' उपरि 'अपां' भागं 'सकृत्' एकवारम् 'उपस्तीर्य्य' प्रथमसिञ्चनं प्रकृत्य 'द्विः' द्विवारम् 'अवद्यति' तं चरुं मेक्षणेनेति ॥१३॥ 'भृगूणां' भृगुगोत्रो-त्पन्नानां 'त्रिः' त्रिवारमवदानं कर्त्तव्यमिति विशेषः ॥१४॥

भा०:—होम से बचे हुए चरु के ऊपर एक वार जल छिड़क कर मेक्षण द्वारा, दो वार खण्ड २ करे अर्थात् उस चरु को तीन भाग करे ॥ १३ ॥ भृगु-गोत्र वाले उस चरु को ४ भाग में वांटे, यही इसमें विशेषता है ॥ १४ ॥

अपाञ्चैवोपरिष्टात् । १५ असᳫंस्वादंनिगिरेद्भद्रान्नः श्रेय इति । १६ एवं त्रिः ॥ १७ ॥

'च' अपि 'उपरिष्टात्' तस्यैवावदातस्य चरोः 'अपां' प्रक्षेपः कर्त्तव्यः ॥१५॥ एवंकृत्वा ततः कियन्मात्रं तच्चरुं "भद्रान्नः श्रेयः समनैष्टदेवास्त्वया वसेन सम-शीमहि त्वा। सनो मयोभूः पितेवाविशस्व शं तोकाय तन्वे स्योनः (स्वाहा)" ॥१३॥ (म० ब्रा० २, १, १३)'—'इति' इमं मन्त्रं पठित्वा 'असंस्वादं' तच्चरोः आस्वादं सम्यक् गृहीतं न भवति यथा तथाकृत्यैव 'निगिरेत्' दन्तैश्चवर्णमकृ-त्वैव गलाधः कुर्य्यादिति ॥१६ ॥ 'एवं' मन्त्रपाठपूर्वकमसंस्वादश्च 'त्रिः' त्रिवारम् निगरणं कर्त्तव्यम् ॥१७॥

भा०:-उसी प्रकार कई भागों में बटे हुए चरु पर भी एक वार जल छिड़के ॥ १५ ॥ तत्पश्चात् उस चरु में से कुछ लेकर "भद्रान्नः श्रेयः" यह मन्त्र पढ़कर स्वाद न लेकर निगल जावे ॥ १६ ॥ इस प्रकार मन्त्र पढ़कर और स्वाद न लेकर तीनवार चरुभाग को गला के नीचे करे (निगलजावे) ॥ १७ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् । १८ भूय एवावदाय कामन्तत्र संस्वादयेरन् । १९ आचान्तोदकाः । २० प्रत्यभिमृशेरन्मुखꣳ शिरोऽङ्गानीत्यनुलोमममो सीति ॥ २१ ॥

'चतुर्थं' निगरणं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव परमत्राप्यसंस्वादमिति वर्त्तते ॥१८॥ 'भूयः' पुनरपि पूर्ववत् 'अवदाय' चरुच्छेदं प्रकृत्य 'तत्र' तस्मिन् पक्षे 'कामं' यथा स्यात् तथा 'संस्वादयेरन्' तं चरुभागमिति । १९ ततः 'आचान्तोदकाः' भवेयुः उदकैः कृताचमनाः स्युरिति । २० ततश्च "अमोसि प्राण तहृतं ब्रवीम्यमा ह्यसि सर्वमनु प्रविष्टः । स मे जराꣳ रोगमपमृज्य शरीरादपाम एधि मा मृथा न इन्द्र (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, १, १४) -'इति' इमं मन्त्रं पठन्नेव 'मुखं' ललाटादि चिबुकपर्यन्तं 'शिरः' ब्रह्मरन्ध्रम् 'अङ्गानि' कर्णमूलादीनि पादाग्रान्तानि 'प्रत्यभिमृशेरन्' उदकैः सिञ्चेरन्निति ॥ २१ ॥

भा०:-चतुर्थवार में मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इस वार भी स्वाद ग्रहण न करे ॥ १७ ॥ पुनः, उसीप्रकार मेक्षण द्वारा चरु सब को टुकड़ा २ कर भक्षण करे, परन्तु इस वार यदि इच्छा हो, तो, स्वाद भी ग्रहण कर सकता है ॥ १९ ॥ अनन्तर, जल से आचमन करे अर्थात् मुख और हाथ पैर धोवे ॥२०॥ उस के पश्चात् ही "अमोसि प्राण" मन्त्र पाठकर ललाट से डाढ़ी पर्यन्त और ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश एवं कान की जड़से पैर तक अच्छे प्रकार धोवे ॥२१॥

एतयैवावृता श्यामाकयवानामग्निः प्राश्नातु प्रथम इति श्यामाकानामेतमुत्यं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम् २२, २३, २४ । ३, ८ ॥

'एतया एव आवृता' अनया नवव्रीहियज्ञोक्तरीत्या एव श्यामाकयवानाम्' अपि नवानां यज्ञः कार्यः । विशेषस्तु ;-'श्यामाकानां' श्यामाकसम्बन्धिनि यज्ञे "अग्निः पश्चात् प्रथमः स हि वेद यथा हविः शिवा । अस्मभ्य मोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः" (स्वाहा) ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, १, १५)-'इति' एष मन्त्रो

व्यवहार्यः ; किन्तु 'यवानां' यवसम्बन्धिनि यज्ञे "एतमुत्यं मधुना संयुतं यवर्ठ्ठं सरस्वत्या अधिवनाव चर्कृधि। इन्द्र आसीत्सीरपतिशतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः" (स्वाहा) (म० ब्रा० २, १,१६)-'इति' एष मन्त्रो व्यवहर्त्तव्यइति । २२, २३, २४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेअष्टमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३,८॥

भा०:-पूर्व जो कहा गया है, ये सब ही नूतन व्रीहि, शस्य के लिये हैं, परन्तु सामा, यव, शस्य के विषय में इसी रीति से यज्ञ सम्पन्न करे। विशेषता केवल यह है कि- नूतन श्यामाक (सामा) यज्ञ में 'शतायुधाय' मन्त्र के बदले "अग्निः प्राश्नातु" प्रथम मन्त्रका पाठकरे और नूतन यव यज्ञ में "एत मुत्यं मधुना" मन्त्र का व्यवहार करे ॥ २२, २३, २४,॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीय प्रपाठक के अष्टमखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ॥३,८॥

आग्रहायण्यां बलिहरणम् १ तत् श्रावणेनैव व्याख्यातम् ।२।

'आग्रहायण्याम्' अग्रहायणो मार्गशीर्ष इति पर्यायवचनम्। अग्रहायणस्येयमाग्रहायणी, तस्यां पौर्णमास्याम् अपि 'बलिहरणं' कर्त्तव्यम् । १ । एतच्च बलिहरणं 'श्रावणेन एव व्याख्यातम्' श्रावण्यां बलिहरणे यद्यदुपदिष्टमिहापि तत्तदेव बोध्यमिति । २ ।

भा०:-अगहन की पूर्णिमा को भी बलि प्रदान करे ॥१॥ * यह बलिप्रदान, श्रावण मास के बलिहरण में कहा गया है । अर्थात् श्रावण मास की पूर्णिमा को बलिहरण विषय में जो २ कहा गया है इस अगहन मास की पूर्णिमा के बलिहरण में भी वही २ नियम प्रतिपालन करे ॥२॥

नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ॥ ३ ॥

'नमः पृथिव्यै' (पृ० १५१),-'इति एतं मन्त्रं' 'न जपति' आग्रहायणबलिहरणकारीति श्रावण्यां बलिहरणे उक्तं 'न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य 'नमः पृथिव्या' इत्येतं मन्त्रं जपति (पृ० १५१)' तदत्र न भवतीत्येव विशेष इति ।३। अपराण्यपि कानिचित् तद्दिनकर्त्तव्यान्याह;-

भा०-श्रावण मास में जो बलिहरण आरम्भ हुआ है, उस में "नमःपृथिव्यै" मन्त्र का व्यवहार करने का विधि है। इस अगहन मास के बलिहरण में उस की आवश्यकता नहीं, यही इस में विशेषता है ॥ ३ ॥

---

* श्रावण की पूर्णिमा से प्रतिदिन जो स्वस्त्ययन होगा सो इसी बलिहरण में शेष होगा । प्राचीन समय में भी इन्हीं चार मासों में सेग का भय होता था ॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिꣳ हुत्वा दर्भान् शमीं वीरणां फलवतीमपामार्गꣳ शिरीषमेतान्याहारयित्वा तूष्णीमक्षतसक्तूनामग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्यैस्तैः सम्भारैः प्रदक्षिणमग्न्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन् गृहाननुपरीयात् । ४ । उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् ॥ ५ ॥

'अथ' शब्दो बलिप्रकरणतो वैभिन्नं द्योतयति । तद्दिने पूर्वाह्णे प्रातराहुतिं हुत्वा एव' 'दर्भान्' कुशतृणानि, 'शमीं' तद्वृक्षपत्रं, 'वीरणां' वीरणतृणं, 'फलवतीं' सफलां वदरीशाखां, 'अपामार्गं' तच्छाखां, 'शिरीषं' तच्छाखां, 'एतानि' सम्भाराणि 'आहारयित्वा' येन केनचित् 'अक्षतसक्तूनां' यवसक्तूनां भागं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'अग्नौ' कृत्वा प्रक्षिप्य 'ब्राह्मणान्' तत्रत्यान् दक्षिणादानादितोषणेन 'स्वस्ति' शब्दं कल्याणवचनं वा 'वाचयित्वा' 'एतैः' दर्भादिभिः 'सम्भारैः' सह 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'अग्न्यागारात्' अग्निगृहात् 'प्रभृति' 'गृहान्' सर्वानेव 'अनु' लक्ष्य 'धूमं' प्रदाय 'शातयन्' निर्वापयंश्च 'परीयात्' सर्वतो व्रजेत् एतेन सर्वगृहेषु शान्त्यर्थं दर्भादिभिर्धूमदानं फलितम् ॥४॥ तान् 'सम्भारान्' 'कृतार्थान्' निष्पन्नप्रयोजनान् इति 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् ॥ ५ ॥

भा०—और भी,—उस दिन दो पहर के पीछे प्रातःकाल की आहुति दे कर, पीछे कुश, पीपर का पत्ता, वीरणतृण, (खस) फल सहित वैर का डाढ़, चीरचीरी का डाल, शिरीष की शाखा, ये सब किसी से मंगवाकर अग्नि में विन मन्त्र पढ़े सत्तू होम कर, उस स्थान में उपस्थित ब्राह्मणों को दक्षिणा दे कर प्रसन्न करे, 'स्वस्ति' कहवा कर, इन दर्भ आदि सम्भार, सब को लेकर उस अग्निगृह से आरम्भ कर सम्पूर्ण घर में धूम देवे । परन्तु उस धूम को ठण्डा भी कर देवे ॥४॥ उक्त सम्भाली हुई वस्तुओं को अर्थात् कुश आदिक को, काम हो जाने पर, फेंक देवे ॥ ५ ॥

जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पतइत्येतेन द्विकेन ॥ ६ ॥ पर्कैण द्वावुदकुम्भौ मणिक आसिञ्चेत् ॥ ७ ॥ समन्न्यायन्तीत्येतयर्चा प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ ८ ॥

'जातशिलासु' उत्पन्नशिलासु शिलावद्दृढनिर्म्मितासु इष्टकासु इष्टकनिर्म्मित वेद्याम् 'वास्तोष्पते (गे०गा०१,२,२०,२१),—'इति' 'अनेन द्विकेन' साम-

द्वयेन 'मणिकं' मृण्मयं ताम्रादिमयं वा बृहत् जलाधारं 'प्रतिष्ठापयति' ॥ ६ ॥ ततः तस्मिन् 'मणिके' 'पर्केण' पर्कनामसमन्त्रेण (गे० गा० १, १, १) 'द्वौ' 'उदकुम्भौ' उदकपूर्णकलशौ 'आसिञ्चेत्' ॥७॥ 'प्रदोषे' रजनी मुखे 'समन्न्यायन्ति' (अ०आ० ३, ३, ६) 'इति' 'एतया ऋचा' 'पायसः चरुः' पक्तव्यः ॥८॥

भा०—पत्थर की नाईं सुदृढ (ख़ूबमज़बूत) ईंटों से बनी, वेदी के ऊपर "वास्तोष्पते" (गे० गा०—७, २०—२१) इन दोनों साममन्त्र पढ़ कर जल का घड़ा रक्खे ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् उस घड़े में 'पर्कसाम' (गे० गा० १, १, १) पाठ करते हुए कलशे से जल ढाले ॥ ७ ॥ प्रदोष समय (रात्रि—का आरम्भ) "समन्न्यायन्ति" (अ० आ—३, ३, ६), यह मन्त्र पढ़ते हुए 'पायसचरु' पकावे ॥८॥

तस्य जुहुयात् प्रथमाहव्युवाससेति ॥९॥ स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ १० ॥ पश्चादग्नेर्बर्हिषि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्षत्रइत्येताव्याहृतीर्जपति ॥ ११ ॥

'तस्य' चरोः अंशं गृहीत्वा "प्रथमा हव्युवास सा धेनु रभवद्यमे । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तराꣳ समाम्" ॥१॥ (म० ब्रा० २, २, १)'—'इति' मन्त्रेण 'जुहुयात्' ॥९॥ 'अन्यत्' अवशिष्टकार्य्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञरीत्याएव भवेन्नाम ॥१०॥ 'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमे 'बर्हिषि' आस्तृतकुशोपरि 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे ॥२॥ प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ॥३॥ प्रतिप्राणे प्रतितिष्ठामि पुष्टौ ॥४॥ प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मनि ॥५॥ प्रतिद्यावा पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे" ॥६॥ (म० ब्रा० २, २, २—६)'—'इति एताव्याहृतीः जपति' ॥११॥

भा०—उस चरु का कुछ अंश ले कर 'प्रथमाहव्युवासस' यह मन्त्र पढ़ कर एक आहुति देवे ॥ ९ ॥ अपर सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक यज्ञ की रीति से होंगे ॥१०॥ अग्नि के पश्चिम भाग में कुश के ऊपर, दोनों हाथ नीचे स्थापन कर 'प्रतिक्षत्रे' आदि इन तीन व्याहृति मन्त्रों का जप करे ॥ ११ ॥

पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तारयेदुदगग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणम् ॥१२॥ तस्मिन्नहतान्यास्तरणान्यास्तीर्य्य दक्षिणतो गृहपतिरुपविशति ॥१३॥ अनन्तरा अवरे याथाज्येष्ठम् ॥१४॥

'अग्ने' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रैः तृणैः' उत्तराग्रीकृतैः कुशादिभिः 'उदक्प्रवणं' उत्तरनिम्नं यथा स्यात्तथा 'स्रस्तरं' आसनं 'आस्तारयेत्'

आस्तृतं कुर्य्यात् ॥१२॥ 'तस्मिन्' स्रस्तरे 'अहतानि' अखण्डितानि 'आस्तरणानि' तिर्य्यक्प्रक्षेपणीयतृणानि 'आस्तीर्य्य' पातयित्वा तत्र 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'गृहपतिः' अनुष्ठानकारी 'उपविशति' उपविशेत् ॥१३॥ 'अनन्तराः' अव्यवहिता 'अनन्तराः' अव्यवहिताः' 'अवरे' गृहपतितः कनिष्ठाः यथाज्येष्ठं' ज्येष्ठानुक्रमेण उत्तरोत्तरं स्थानमधिकुर्य्युरिति ॥ १४ ॥

भा०—अनन्तर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराग्र कुशा आदि से बैठने के लिये आसन बनाने में यत्नवान् होवे, यह स्थान उत्तर दिशा में गहरा होगा ॥ १२ ॥ उस के ऊपर अच्छिन्न (टूटा नहीं) आस्तरण आदि बिछा कर सब से दक्षिण ओर घर का मालिक बैठे ॥ १३ ॥ उन के बायें क्रम से ज्येष्ठानुसार भाई आदि बैठे । अर्थात् उन के बाईं ओर प्रथम बड़े बैठे, तत्पश्चात् छोटे, इसी रीति से और भी बैठें ॥ १४ ॥

अनन्तराश्च भार्य्याः सजाताः । १५ समुपविष्टेषु गृहपतिः स्वस्तयेत् । १६ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योनापृथिवि नोभवेत्येतामृचं जपति ॥ १७ ॥

'अनन्तराः' तदव्यवहिताः 'भार्य्याः' गृहपतिबध्वादयः 'च' अपि यथाज्येष्ठमुत्तरोत्तरं उपविशेयुरित्येव । तत्र विशेषमाह 'सजाताः' समानजातीयाः असवर्णानामत्रोपवेशने नाधिकार इति भावः । १५ 'समुपविष्टेषु' स्वावरादिभार्य्यान्तेषु परिजनेषु 'गृहपतिः' अनुष्ठाता 'स्वस्तयेत् स्वस्तिवाचनं कुर्य्यात् । १६ तथाहि स्वस्तिवाचनप्रकारमेव दर्शयति । 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "मंस्थाप्य स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छानः शर्म स प्रथमो देवान्मा भयादिति" ॥७॥ (म०ब्रा० २,२,७)—'इति एतां ऋचं जपति' ।१७।

भा०—एवं उस से पश्चात् अपने वर्ण की भार्या आदि भी उक्त प्रकार बड़े छोटे क्रम से बैठे ॥ १५ ॥ सब के ठीक २ बैठजाने पर, घर का मालिक स्वस्त्ययन आरम्भ करे ॥१६॥ दोनों हाथ नीचे कर 'स्योनापृथिवि नो भवा' इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १७ ॥

समाप्तायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः । १८ एवं त्रिरभ्यात्मावृत्य स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथान्यायम् ॥ १९ ॥

'समाप्तायां' पाठक्रियायां 'दक्षिणैः पार्श्वैः' दक्षिणपार्श्वानुसारेण स्वावरादिभार्य्यान्तोपविष्टः सर्वपरिजनप्रदक्षिणतः इति यावत् 'संविशन्ति' अग्निपरिजनयोर्मध्यतः आगच्छन्ति । १८ 'एवं' परिजनप्रदक्षिणया 'त्रिः' त्रिवारम्

'अभ्यात्मं' स्वोपवेशनस्थानमभिलक्ष्य 'आवृत्य' आवर्त्तनं कृत्वा 'स्वस्त्ययनानि' वामदेव्यादीनि सामानि 'प्रयुज्य' गीत्वा "यथान्यायं पूर्वोक्तवत् क्रियाशेषं कार्य्यमिति ॥ १९ ॥

भा०-पाठ समाप्त होने पर सब को प्रदक्षिणा कर, अग्नि और परिजन इन के बीच हो कर अपनी जगह आ बैठे ॥ १८ ॥ इसीप्रकार तीनवार प्रदक्षिणा कर 'वामदेव्यादि' 'स्वस्त्ययन' सामगान के अन्त में पूर्वोक्त रीति से क्रिया शेष करे ॥ १९ ॥

अरिष्टसामसंयोगमेके। २०। उपस्पृश्य यथार्थम् ॥ २१ ॥ ३, ९

'एके' आचार्य्या अत्र 'अरिष्टसामसंयोगं' अरिष्टनामकसाम्नः संयोगमपि आहुः । २० "उपस्पृश्य" अप आचम्य क्रियासमाप्तिं मत्वा 'यथार्थं' स्वप्रयोजनानुगतं विहरेदिति ॥ २१ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेनवमखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम्३,९

भा०-कोई २ आचार्य इस स्वस्त्ययन में अरिष्ट नामक साम को मिलाना चाहते हैं ॥ २० ॥ क्रिया समाप्त होने पर आचमन कर जहां चाहे, जावे, या अपने प्रयोजनानुसार कार्य करे ॥ २१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयप्रपाठक के नवम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ३, ९ ॥

अष्टका रात्रिदेवता । १ । पुष्टिकर्म्म ॥ २ ॥

'रात्रिदेवता' रात्रिः देवता अस्याः 'अष्टका' इति नाम क्रिया कर्त्तव्येति शेषः । १ । "पुष्टिकर्म्म" पुष्टिः पोषणं फलमस्येति । पुष्टिकाम एवास्याधिकारी तथाचास्य काम्यत्वं स्थितम् ॥ २ ॥

भा०-अष्टका नामक एक क्रिया रात्रि में करनी पड़ती है ॥ १ ॥ जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे ही इस यज्ञ को करें ॥ २ ॥

आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्त्तुदेवता वैश्वदेवीति देवताविचाराः । ३ चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चिकीर्षेदिति कौत्सः ॥ ४ ॥

'आग्नेयी' अग्निदेवताका 'पित्र्या' पितृदेवताका 'वा' अथवा 'प्राजापत्या' प्रजापतिदेवताका' 'ऋतुदेवता' ऋतव एव देवता यस्याः 'वैश्वदेवी' सर्वदेवता 'इति' एवं 'देवताविचाराः' सन्तीतिशेषः । ३ । 'कौत्सः' आचार्यस्तु 'हेमन्तः' कार्त्तिकादिमाघान्तोमासचतुष्टयः 'चतुरष्टकः चतसृभिरष्टकाभिरुपेतः 'इति' मन्यते

। किञ्च 'ताः सर्वाः अष्टकाः 'समांसाः' मांसद्रव्यकाः'चिकीर्षेत्' कर्तुमिच्छेत् ।

भा०—किसी का मत है कि इस कार्य की देवता अग्नि है, कोई कहता कि पितृगण के तोषणार्थ यह यज्ञ किया जाता, कोई २ कहता कि प्रजापति की तुष्टि के लिये इस का अनुष्ठान किया जाता है, कतिपय लोगों का यह मत है कि इस के द्वारा शीतऋतु के उपभोगार्थ प्रकृत रूप से सम्पादित किया जाता है। अनेक लोग कहते हैं कि इसका अनुष्ठान सब देवताओं के प्रीति के लिये है ॥३॥ कौत्स नामक आचार्य अग्रहायण प्रभृति हेमन्त *—चार महीनों में चार ' अष्टका ' करना चाहिये। और ये चार अष्टका मांसद्वारा करे ऐसा मानते हैं ॥ ४ ॥

त्र्यष्टकइत्यौद्गाहमानिस्तथा गौतमवार्कखण्डी ॥५॥

'औद्गाहमानिः' 'तथा' 'गौतम—वार्कखण्डी' इमे आचार्याः, हेमन्तः'त्र्यष्टकः' तिस्रोऽष्टका यत्र 'इति' मन्यन्ते इति शेषः ॥ ५ ॥

भा०—उद्गाहमानि नामक आचार्य एवं गौतम और वार्कखण्डी आचार्य ये आचार्यगण—हेमन्त ऋतु में तीन ही ** अष्टका यज्ञ करना मानते हैं ॥५॥

योर्द्ध्वमाग्रहायण्यास्तामिस्राष्टमी तामपूपाष्टकेत्याचक्षते॥६॥

'आग्रहायण्याः' पौर्णमास्याः 'ऊर्द्ध्वम्' उपरि 'या''तामिस्राष्टमी' अन्धकारपक्षीया अष्टमी' तिथिः' 'ताम्' तिथिम् 'अपूपाष्टका'—'इति' 'आचक्षते' आचार्या इति यावत्। एतेन तत्राष्टम्याम् अष्टकाकृत्यं कर्त्तव्यम्, तच्च अपूपैः साध्यमिति फलितम् ॥ ६ ॥

भा०—अग्रहायणमास की पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी को आचार्यलोग 'अपुपाष्टक' कहते हैं। अर्थात् उस तिथि में अपूप द्वारा अष्टका करे ॥६॥ ***

स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुंश्रपयति ॥ ७ ॥

'स्थालीपाकावृता' पूर्वोक्तया स्थालीपाकरीत्या 'तण्डुलान्' 'उपस्कृत्य' संस्कृत्य तैरेव तण्डुलैः 'चरुं' हवनीयान्नं 'श्रपयति' श्रपयेत् परिपचेत् ॥ ७ ॥

---

*—" द्वादश मासाः पञ्चर्त्तवो हेमन्त शिशिरयोः समासेन " ऐ० ब्रा० १, १, १। इस से 'पांच ऋतु में एक वर्ष पूरा होता है,—इस मत से हेमन्त और शिशिर दोनों ही ऋतु को हेमन्त कहते हैं और वेद में " शतं हिमाः" "शरदः शतं" इत्यादि अनेक प्रयोग रहतेभी शरत् ऋतु में वर्ष की पूर्त्ति और हेमन्तमें ही वर्षारम्भ जान पड़ता है,अग्रहायण पदसे वर्षका पहिला महीना जान पड़ता है,सुतरां,अग्रहायण से हेमन्त ऋतु गिनना चाहिये ॥

** चार महीनों में तीन अष्टका कर्त्तव्य होने से, सुतरां एक मास छूट जावेगा। कोन महीना छूटेगा, सो स्पष्ट न कहने से जिस २ मास में जिस २ प्रकार अष्टका करनी होगी सो क्रम से कहा जावेगा, तो जिस मास में कुछ नहीं कहा जावेगा, वही मास छूटेगा ऐसा जानना चाहिये ॥

*** पूआ—का परिचय और उस के द्वारा अष्टका कृत्य किस प्रकार करना होगा, सो सब क्रम से कहा जावेगा ॥

भा०—इस के पूर्व स्थालीपाक प्रकरण में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार तण्डुल आदि से 'चरू' पाक करे ॥ ७ ॥

अष्टौ चापूपान् कपालेऽपरिवर्त्तयन् ॥८॥

'च' अपि 'कपाले' एकस्मिन् मृत्कटाहे 'अष्टौ' 'अपूपान्' पिष्टकविशेषान् 'अपरिवर्त्तयन्' मेक्षणादिना अस्पृशन्नेव श्रपयेत् ॥८॥

भा०—और एक बड़ी मट्टी की कराही में, आठ पूआ पकावे। (एक समय में ८ पूआ आवश्यक होनेसे आठ कराही आवश्यक होंगी) पूआको इस भांति बनावे जिस से वह टूटे नहीं ॥ ८ ॥

एककपालानमन्त्रानित्यौद्गाहमानिः ।९। त्रैयम्बकप्रमाणान् १०

इमान् अपूपान् परिमाणेन 'एककपालान्' एककपालपूर्णमितान्, किञ्च 'अमन्त्रान्' मन्त्रपाठसाहित्यशून्यान् 'इति' 'औद्गाहमानिः' आचार्यः मन्यते इति शेषः ९ त्रैयम्बकं करतलम्, तत्प्रमाणानेव अपूपान् श्रपयेत् इत्यस्माकं मतमिति।

भा०—उद्गाहमानि नामक आचार्य के मतसे पूए आदि को एक २ कराही में बनावे (अर्थात् आठों को अलग २) और पूआ बनाते समय मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ ९ ॥ एक २ पूआ हथेली की बराबर होगा ॥ १० ॥

शृतानभिघार्य्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥११॥

'शृतान्' पक्वान् तान् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' उत्तरतः अग्नेः, 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव तानपूपानिति ॥११॥

भा०—पूआ आदि पक जाने पर घी का ढार दे कर अग्नि की उत्तर में उतार कर पुनः घी का ढार देवे ॥ ११ ॥

स्थालीपाकावृतावदाय चरोश्चापूपानाञ्चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥१२॥ स्थालीपाकावृतान्यत् ॥१३॥

'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या 'चरोश्च' तस्य 'अपूपानाञ्च' तेषाम् अंशान् 'अवदाय' सङ्कल्प्य गृहीत्वा " अष्टकायै स्वाहा "-'इति' अनेन मन्त्रेण 'जुहोति' जुहुयात् ॥१२॥ 'अन्यत्' क्रियाशेषं सर्वं स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्य मिति समाप्तापूपाष्टका ॥१३॥

भा०—पूर्वोक्त स्थालीपाक के नियमसे उस चरु और पूए आदि से कुछ २ अंश काट कर, इस काटे हुए अंश को "अष्टकायैस्वाहा"-इस मन्त्र से अग्नि

में डाले ॥ १२ ॥ स्थालीपाक प्रकरण में जो २ साधारण नियम पहिले कहे गये हैं, वे सब ही नियम यहां वर्त्ते जावेंगे ॥ १३ ॥

तैष्याऊर्द्ध्वमष्टम्यां गौः ॥१४॥ ताᳪं सन्धिवेलासमीपं पुरस्तादग्नेरवस्थाप्योपस्थितायांजुहुयाद्यत्पशवःप्रध्यायतेति ॥१५॥

'तैष्याः' पौषपौर्णमास्याः 'ऊर्द्ध्वम्' परस्तात् 'अष्टम्यां' कृष्णपक्षीयायाम्, 'गौः' आलब्धव्येति शेषः ॥ १४ ॥ 'सन्धिवेलासमीपं' सूर्योदयकालात् किञ्चित् पूर्वमेव 'तां' गां 'अग्नेः पुरस्तात् अवस्थाप्य' 'उपस्थितायां' तस्यां सन्धिवेलायाम्, सूर्योदयक्षणे इति यावत्, " यत्पशवः प्रध्यायंत मनसा हृदये न च। वाचा सहस्रपायथा मयि बध्नामि वो मनः" ॥८॥ (म० ब्रा० २, २, ८)—'इति' मन्त्रेण तत्रैवाग्नौ 'जुहुयात्' घृत मिति ॥१५॥

भा०—पौष मास की पूर्णिमा के पीछे अष्टमीतिथि को गोमांसद्वारा मांसाष्टका करे ॥ १४ ॥ सन्धिवेला (रात और दिन का संयोगसमय) के कुछ पहिले अग्निके पूर्वभाग में उस गौको लाकर रक्खे, पीछे सन्धिवेला होने पर "यत्पशवप्रध्यायत" इस मन्त्रसे घी की आहुति दे कर कार्यारम्भ करे ॥१५॥

हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा माता मन्यतामिति ॥१६॥

'हुत्वा' कार्यारम्भद्योतिका माहुतिं पूर्वोक्ताम्, 'च' अपि 'तां' गाम् "अनु त्वा माता मन्यता मनुपितानुभ्रातानु सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, २, ९)'—'इति' मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' संज्ञपनार्थं निमन्त्रयेदिति ॥१६॥

भा०—कार्य के आरम्भ सूचक पूर्वोक्त आहुति देने पर इससमय यव मिला जल पवित्र, क्षुर, शाखा विशाखा, बर्हिः इध्म, आज्य, दो समिधा, और स्रुव, ये सब भी अपने पास आवश्यकतानुसार ठीक रक्खे "अनुत्वा" इस मन्त्र को पाठ करते हुए गौ को मारने के लिये निमन्त्रण देवे ॥ १६ ॥

यवमतीभिरद्भिःप्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति ॥१७॥

'अष्टकायै' अष्टकानामदेवतायाः तुष्ट्यर्थं 'त्वा' 'जुष्टां' प्रीति—सेवनीयां गाम् 'प्रोक्षामि' अहम्—' इति ' मन्त्रं पठन् 'यवमतीभिः' अद्भिः 'प्रोक्षेत्' ता मालब्धव्यां गामिति ॥१७॥

भा०—"अष्टका देवता की प्रीतिके लिये प्रीति पूर्वक सेवनीय तुम्हें धोता हूं"—यह मन्त्र पढ़ते हुए उस बध्य गौ की यव से भींगा जलसे धोवे ॥ १७ ॥

उल्मुकेन परिहरेत् परिव्राजपतिः कविरिति ॥१८॥ अपः पानाय दद्यात् ॥ १९ ॥

"परिव्राजपतिः कविः (छ० आ० १, १,३,१०)"—'इति' मन्त्रम्पठन् 'उल्मुकेन' प्रज्वलिताग्निना 'परिहरेत्' प्रदक्षिणीकुर्यात् तां गा मिति ॥ १८ ॥ तस्यै गवे इति शेषः ॥ १९ ॥

भा०—"परिव्राजपति" (छ० आ० १, १, १३ १०) इस मन्त्र को पढ़ कर, एक मुट्ठी खर जला कर, उस जलते हुए खर से उस गौ की प्रदक्षिणा करे ॥ ॥ १८ ॥ उस गौ को एक पात्र में जल पीने को देवे ॥ १९ ॥

पीतशेषमधस्तात्पशोरवसिञ्चेदात्तंदेवेभ्योहविरिति ॥२०॥

'पीतशेषं' पानावशिष्ट मुदकम् "आत्तं देवेभ्यो हविः।१० (म० ब्रा० २,२,१०)" 'इति' मन्त्रम्पठन् 'पशोः' तस्यैव 'अधस्तात् अवसिञ्चेत्' नीचैः सिञ्चनं कुर्वीत ॥२०॥

भा०—पीने से जो पानी बचे, उस में "आत्तं देवेभ्यो हविः" इस मन्त्र को पढ़ कर उस गौ के अधोभाग को सींचे ॥ २० ॥

अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति ॥२१॥ प्राक्शिरसमुदक्पदीं देवदेवत्ये दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदेवत्ये २२,२३॥

'अथ' अनन्तरम् 'एनाम्' गाम् 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेन नीत्वा 'संज्ञपयन्ति' हन्युः शासितार ऋत्विज इति ॥२२॥ तत्र च—'देवदेवत्ये' कार्ये तां 'प्राक्शिरसम् उदक्पदीं' किन्तु पितृदेवत्ये कार्ये 'दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं' संज्ञपेयुरिति ॥ २२,२३ ॥

भा०—अनन्तर मारने के लिये प्रस्तुत (तैयार) ऋत्विक्गण, उस गौको अग्नि के उत्तर ला कर काट डालें ॥ २१ ॥ यदि देवकार्य निमित्त गौ मारी जावे, तो पशु का मस्तक पूर्वदिशा में रक्खे और चारो पैर उत्तर की ओर रक्खे और यदि पितृकार्य के लिये गो-वध हो, तो पशु का मस्तक दक्षिण दिशा में, और उस के पैर सब पश्चिम ओर रक्खे ॥ २२ ॥ २३ ॥

संज्ञप्तायां जुहुयाद्यत्पशुर्मायुमकृतेति ॥ २४ ॥

'संज्ञप्तायां' तस्यां "यत्पशुर्मायु मकृतोरोवापद्भिराहत। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, २, ११)—'इति' मन्त्रेण 'जुहुयात्' आज्य मिति शेषः ॥ २४ ॥

भा०—उक्त गौ मारे जाने पर "यत्पशु" मन्त्र से आज्य होम करे ॥२४॥

पत्नी चोदकमादाय पशोः सर्वाणि स्रोतांसि प्रक्षालयेत् ॥२५॥

'च' अपि तद्व 'पत्नी' यजमानस्य, 'उदकम् आदाय 'पशोः' संज्ञप्तस्य 'सर्वाणि स्रोतांसि' चक्षुरिन्द्रियादीनि 'प्रक्षालयेत्' ॥ २५ ॥

भा०-एवं उस समय यजमान की स्त्री जल से, उस कटे हुए शिरवाली गौ के नेत्र आदि इन्द्रिय अच्छेप्रकार धोवे (माथे में नेत्र आदि सात, चार स्तन, नाभि, कटिदेश, गुह्यदेश, ये १४ स्थान हैं) ॥ २५ ॥

अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलोम माकृत्यवपा मुद्धरन्ति२६

'अग्रेण नाभिं' नाभेरग्रतः नाभिसमीपे 'पवित्रे' 'अन्तर्द्धाय' 'अनुलोमं' यथा स्यात्तथा 'आकृत्य' क्षुरेण निम्नाभिगामि कर्त्तनं कृत्वा, ततः 'वपां' मेदसम् 'उद्धरन्ति' उद्धरेयुः ॥ २६ ॥

भा०-नाभि के समीप पवित्रद्वय छिपा कर लोमानुसरण क्रम से क्षुर से निम्न-गामि चालन से काट कर उस में से वपा निकाले ॥ २६ ॥

तांश्शाखाविशाखयोः काष्ठयोरवसज्याभ्युक्ष्य श्रपयेत् । २७ । प्रश्च्युतितायां विशसथेति ब्रूयात् ॥ २८ ॥

'शाखाविशाखयोः' एतन्नामकपात्रयोः 'काष्ठयोः' पलाशनिर्मितयोः ऊद्र्ध्वाधोमुखीभावावस्थितयोः आधाराच्छादनयोः मध्ये 'तां' वपां 'अवसज्य' संस्थाप्य 'अभ्युक्ष्य' जलपातैः श्रपयेत्' पचेदिति । २७ । 'प्रश्च्युतितायां' प्रतारितायां तस्यां वपायां 'विशसथ' गां विगतचर्मां कुरुथ 'इति' ब्रूयात्' ॥ २८ ॥

भा०-और निकाली हुई वपा को, शाखा, विशाखा नामक पलाश की लकड़ी का बनाहुआ ढक्कन के आधार पर रक्ख कर, जल से सामान्यरूप से धोकर, अग्नि से सिद्ध करे ॥ २७ ॥ इधर, उस गौ के नाभि के समीप से काट कर, मेद निकाल, इस गौ के चमरा निकालने की आज्ञा करे ॥२८॥

यथा न प्रागग्नेर्भूमिंश्शोणितं गच्छेत् । २९ शृता मभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् । ३। स्थालीपाकावृता वपा मवदाय स्विष्टकृदावृता वाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥३१॥

परं तत्र विशसने सातर्क्य मिद मवलम्बयम् ;-'अग्नेः' 'प्राक्' पुरतः भूमिं 'शोणितं' 'यथा न गच्छेत्' इति । २९ । 'शृतां' पक्कां वपाम् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेः उत्तरतः 'उद्वास्य संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' पुनर्घृतेनैवाभिघारणं कुर्यात् । ३० । ततः शैत्येन कठिनीभूतां तां 'वपाम्' स्थालीपाकरीत्या स्विष्टकृद्रीत्या वा अवदानेन 'अवदाय' कर्त्तयित्वा, कर्त्तितमंशं गृहीत्वा "अष्टकायै स्वाहा"-'इति' मन्त्रेण तत्र अग्नौ 'जुहोति' जुहुयात् ॥ ३१ ॥

भा०—परन्तु चमरा छुड़ाते समय, ऐसा न हो कि अग्नि के आगे हो कर रुधिर वहचले ॥ २९ ॥ इस वपा के तैयार होने पर, उस में घी का ढार दे कर, उसे अग्नि के उत्तरभाग में उतार कर रक्खे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ३० ॥ अनन्तर उस आग में पकी वपा, जो ठंडे के कारण जम जायेगी, उसे 'स्थालीपाक' की रीति से, या स्विष्टकृत् की रीति से चाकू से काट कर, उस में से लेकर " अष्टकायै स्वाहा " इस मन्त्र से होम करे ॥ ३१ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥३२॥

'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कुर्यादिति शेषः । द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिसूचक मिति । ३२॥१० ॥

इतिसामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३।१०॥

अध्यायश्च समाप्तः ॥ ३ ॥

भा०—बाकी सब काम 'स्थालीपाक' के नियम से होंगे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के दशम खण्डका भाषानुवाद पूराहुआ और तीसरा प्रपाठक भी समाप्तहुआ ॥ ३ । १० ॥

अनु प्रहरति वपाश्रपण्यौ प्राची मेकशूलां प्रतीचीमितराम् ॥१॥

'अनु' पश्चात्, वपाहोमानन्तर मिति यावत् । 'वपाश्रपण्यौ' वपाश्रपणसाधन्यौ ते पूर्वोक्ते शाखा–विशाखे 'प्रहरति' परिहरेत्, प्रक्षिपेत् । क ? पूर्वोक्तन्यायात् तत्रैवाग्नौ । तत्र च प्रहरणेऽयं नियमः,–'एकशूलां' शाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्राचीं' प्रागग्राम्, 'इतराम्' अपरां विशाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्रतीचीं' प्रत्यगग्राम्; प्रहरेदिति योज्यम् ॥ १ ॥

भा०—वपा पाककर्म समाप्त होने पर उन दोनों * "वपाश्रपणी" को उसी अग्नि में इस प्रकार डाल देवे कि एकशूला पूर्वाग्रा हो एवं अपर पश्चिमाग्रा हो ॥१॥

अवद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गेभ्योऽन्यत्र वामाच्च सक्थ्नः क्लोम्नश्च ॥ २ ॥ वामंसक्थ्यन्वष्टक्याय निदध्यात् ॥३॥

'वामात्' सक्थ्नः, 'क्लोम्नः च', अन्यत्र, वामसक्थि क्लोम च वर्जयित्वा

* अर्थात् ऊपर नीचे भाव से जोड़ा पलाश काठ निर्मित, वपा पाक की सिद्धि के लिये दो पात्र । एक में वपा रख कर सिद्ध की जाती और उस के ऊपर ढका रहता है, उन में से ऊपर वाले पात्र को "शाखा" और "एकशूला" भी कहते हैं) इस में वपा रक्षित होती है और उस के ऊपर ढाकने के लिये नीचे मुंह रक्खे पात्र को "विशाखा" कहते हैं ॥

** यह उस अग्नि में डाला जाता, इस कारण इसे "वपाश्रपणी" कहते हैं ॥

अन्येभ्यः 'सर्वाङ्गेभ्यः' 'अवदानानि' मांसानि 'अवद्यन्ति' छुरेण खण्डखण्डीकुर्वन्ति ॥ २ ॥ तदखण्डितं 'वामं सक्थि' अन्वष्टक्याय अनुपदवक्ष्यमाणायकर्मणे निदध्यात् संस्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०—वाम सक्थि (ऊरु) और क्लोम (पित्तकोष) छोड़ कर, सब अङ्गों से खण्ड २ करके मांस ग्रहण करे ॥ २ ॥ वाम सक्थि समस्त ही 'अन्वष्टका' कार्य में व्यवहार के लिये रक्खे ॥ ३ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रदक्षिण मुदायुवन् । ४ । शृतावभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ५ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरू 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां पृथक्पृथक्स्थापिताभ्यां मेक्षणाभ्यां 'प्रदक्षिणं' दक्षिणावर्त्तेन मेक्षणचालनं यथा स्यात्तथा 'उदायुवन्' ऊर्द्ध्वमीषन्मिश्रयन् 'श्रपयति' श्रपयेत् पचेदिति ॥ ४ ॥ 'शृतौ' तौ चरू 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उद्वास्य' 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव ॥ ५ ॥

भा०—उसी एक अग्नि में 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' ये दोनों चरु पकावे, परन्तु दोनों चरु में भिन्न २ चलौने (मेक्षण) से चलावे, एक ही से नहीं ॥ ॥ ४ ॥ इन दोनों चरुओं के अच्छे प्रकार पकजाने पर, घी का ढार दे अग्नि के ऊपर भाग में उतार लेवे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ५ ॥

कंसे रसमवासिच्य प्लक्षशाखावतिप्रस्तरेऽवदानानिकृत्वा स्थालीपाकावृतावदानानां कंसेऽवद्यति स्विष्टकृतश्च पृथक् ६

मांसचरुस्थालीतः निचोड्य 'रसं' मांसयूषं 'कंसे' कांस्यपात्रे'अवासिच्य' पातयित्वा 'प्लक्षशाखावति' प्लक्षशाखानिर्मिताच्छादनविशिष्टे 'प्रस्तरे' प्रस्तरनिर्मितकुड्ये'अवदानानि' यूषहीनमांसखण्डानि 'कृत्वा'स्थापयित्वा'च' अपि 'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्यागार्थं 'पृथक् कंसे' पूर्वस्थापितयूषाधारातिरिक्तकांस्यपात्रे 'स्थालीपाकरीत्या'अवदानानां' मांसानांकिञ्चिदंशम्'अवद्यति' सङ्कर्त्यगृह्णाति॥६॥

भा०—मांस के यूष को, एक कांसे के वर्त्तन में ढार रक्खे मांस आदिक को एक पत्थर की कुण्डी में रक्खे और पुनः उस मांस में से थोड़ा स्थालीपाक के नियम से काट लेवे, एवं उसे स्विष्टकृत यागार्थ दूसरे कांसपत्र में रक्ख छोड़े ।६।

चरोरुद्धृत्य बिल्वमात्र मवदानैः सह यूषण सन्नयेत् ॥७॥

ओदनचरुस्थालीतः 'बिल्वमात्रं' बिल्वप्रमाणं 'चरोः' अंशम् 'उद्धृत्य' 'अवदानैः' प्लक्षशाखाच्छादितप्रस्तरपात्रस्थितैः मांसखण्डैः 'सह' 'यूषेण' कांस्यपात्रस्थेन मांसरसेन 'सन्नयेत्' एकीकुर्यात् तत्रैव यूषपात्रे यूषमध्ये एव स्थापयेदिति॥७

भा०–ओदन की हांडी से बेल की बरावर चरु ले कर (उस पत्थर की कुण्डी में रक्खा) मांस खण्ड के साथ (उस कांसे के पात्र में रक्खे हुए) यूष को मिलावे। अर्थात् उस यूष के पात्र में यूष के बीच रक्खे ॥ ७ ॥

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाष्टर्चप्रथमया जुहुयादग्नावग्निरिति ॥ ८ ॥

'चतुर्गृहीतम् आज्यम्' (पूर्ववत्) गृहीत्वा 'अष्टर्चप्रथमया' अष्टाना मृचां समाहारोऽष्टर्चम् (म० ब्रा०२, २, १२–१८), तत्र या प्रथमा ऋक् तया "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः। स नः स्योनः सुयजा यजा च यथा देवानां जनिमानि वेद" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, २, १२)–'इति' 'अनया जुहुयात्' गृहीतं तत् ॥ ८ ॥

भा०–पूर्वोक्त रीति से चार वार ग्रहण किया हुआ आज्य ले कर 'अग्नावग्निः' आदि आठ मन्त्रों में से "अग्नावग्निः" मन्त्र पढ़ कर हवन करे ॥ ८ ॥

सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदाय द्वितीयातृतीयाभ्यां जुहोत्युत्तरस्यां स्वाहाकारं दधात्येव मेवावरेचतुर्थीपञ्चमीभ्याꣳ षष्ठीसप्तमीभ्याञ्च शेष मवदायसौविष्टकृतमष्टम्यां जुहुयात्॥९॥

'सन्नीतात्' (पूर्वोक्तात्) यूषपात्रे नीतात् बिल्वप्रमाणात् ओदनचरोः 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशम् 'अवदाय' कर्त्तयित्वा 'द्वितीयातृतीयाभ्याम्' "औलूखलाः सम्प्रवदन्ति ग्रावाणो हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम्। एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते ॥ १३ ॥ इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रतिहव्या गृभाय। ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषाꣳ सप्तानां मयि रन्ति रस्तु" (स्वाहा) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, २, १३–१४)–इत्येताभ्या मृग्भ्यां 'जुहोति' जुहुयात्। तत्र च 'उत्तरस्याम्' तृतीयायाम् "इडायास्पदम्" इत्येतस्याम् एव अन्ते 'स्वाहाकारं दधाति' स्वाहापदं प्रयुंज्यात्। 'अवरे' अपरे द्वे तृतीयमात्रे 'चतुर्थी–पञ्चमीभ्याम्' "एषैव सा या पूर्व्वा व्यौच्छत् से यमप्स्वन्तश्चरति प्रविष्टा। वसूजिगाय प्रथमा जनित्री विश्वे ह्यस्यां महिमानो अन्तः

॥ १५ ॥ एषैव सा या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभद्विश्वरूपा । सम्वत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली" (स्वाहा) ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, २, १५–१६) इत्येताभ्याम् ऋग्भ्यां षष्ठीसप्तमीभ्यां " यां देवाः प्रतिपश्यन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तरांᳶसमाम् ॥१७ ॥ सम्वत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्रिं यजामहे । प्रजा मजर्यां नः कुरु रायस्पोषेण संᳶसृज " (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, २, १७–१८) इत्येताभ्यां जुहुयादिति । 'सौविष्टकृतम्' स्विष्टकृदर्थं 'शेषम्' इत्येताभ्या मृग्भ्यां 'च' एव मेव " उत्तरस्यां स्वाहाकार "—इत्येतन्नियमेनैव स्थालीपाकरीत्या यद्गृहीतम्, तत् 'अवदाय' गृहीत्वा अष्टम्या, "अग्निर्यन्नो अनुमति र्यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्यवाहनः स नोऽदाहाद्दाशुषे मयः१९ । (म० ब्रा० २, २, १९) इत्यनयर्चा 'जुहुयात्' ९

भा०—पूर्वोक्त बिल्व की बराबर जो ओदनचरु मांस के साथ मिलाकर यूष में रक्खागया है, उस में से एक तिहाई लेकर द्वितीय और तृतीय मन्त्र से एक आहुति देवे, उस के तृतीय आहुति के अन्तमें 'स्वाहा' शब्दका प्रयोग करे । अपर दो तिहाई भी चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र से ,एवं छठा और सातवां मन्त्र से, इसी नियम से अर्थात शेष मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' जोड़कर यथाक्रम दो आहुति देवे । सब के अन्त में अष्टम मन्त्र पढ़कर स्विष्टकृत यागके लिये पूर्वगृहीत (अलग कांसेके पात्रमें रक्खा) मांसखण्ड आदि होम करे ॥९॥

यद्यवा अल्पसम्भारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीतापिवा स्थालीपाकं कुर्वीतापि वा गोग्रास माहरेदपि वारण्ये कक्ष मुपाधाय ब्रूयादेषा मेऽष्टकेति—न त्वेव न कुर्वीत न त्वेव न कुर्वीत । १० ॥ १ ॥

'यदि' 'उ' अपि 'वै' निश्चयेन 'अल्पसम्भारतमः' अत्याल्पायोजनः पुरुषः स्यात्, 'अपि' तथापि 'पशुना' समानां ग्राम्याणां पशूना मन्यतमेन येन केनापि ' कुर्वीत ' ' एव ' सम्पादयीतैव एतामष्टकाम् । 'अपि वा पशवभावेऽपि 'स्थालीपाकं' 'कुर्वीत' एव । अपि वा' स्थालीपाककरणसामर्थ्याभावेऽपि 'गोग्रासम् आहरेत्';—एतेनापि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । अपि वा 'अरण्ये' 'कक्षम् उपाधाय' कक्षं दर्शयित्वा, ऊर्द्धबाहुर्भूत्वेति यावत्, एषा म अष्टका'—'इति' 'ब्रूयात्' एतेन पि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । 'तु' प्रत्युत गोपशवलाभे मांसाष्टकां 'न कुर्वीत'—इति 'न एव' । द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिद्योतकमिति समाप्ता मांसाष्टका । १० ॥ १ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ४॥१॥

भा०—यद्यपि विशेष सामग्री न कर सके, तथापि पशुद्वारा ही मांसाष्टका करे। यदि पशुद्वारा न कर सके तो स्थालीपाक द्वारा करे। दोनों के अभाव में गौको 'ग्रास देने से भी हो सकता है। उस के करने का भी सामर्थ्य न हो, तो बन में जाकर दोनों बाहू उठा कर कहे कि—'यही हमारा मांसाष्टका है' परन्तु 'मांसाष्टका' न करे ऐसा किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ १० ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके प्रथमखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४। १।

श्वस्ततोन्वष्टक्य मपरश्वो वा ।१। दक्षिणपूर्वेऽष्टमदेशे परिवारयन्ति तथायतं तथामुखैः कृत्यम् ॥ २ ॥

'ततः' अष्टकाकार्यादनन्तरम्। 'श्वः' द्वितीयदिने 'अपरश्वः, तृतीयदिने 'वा' 'अन्वष्टक्यम्' अन्वष्टकाकृत्यं कुर्यादिति ॥१॥ स्वावासभूमौ 'दक्षिणपूर्वे' दक्षिणपूर्वयोर्दिशोरन्तराले आग्नेयकोणे, 'अष्टमदेशे' स्वावासस्थानाष्टमे भागे, 'तथायतं' दक्षिणपूर्वायतं स्थानम्, 'तथामुखैः' आग्नेयाभिमुखैः स्थापित सम्भारादिभिः 'कृत्यम्' अन्वष्टक्यम् कार्यं यथा स्यादेव प्रशस्तं कृत्वा 'परिवारयन्ति' परितः आच्छादयन्ति, आच्छादयेयुर्जना यजमानकर्मकरा इति ॥२॥

भा०—अष्टका कार्य के दूसरे दिन, या उस के तीसरे दिन, 'अन्वष्टका' कार्य करे ॥ १ ॥ रहने के घर से अग्निकोण में, अष्टम भाग स्थान रोक कर, दक्षिण–पूर्वदिशा में विस्तृत, इस अग्निकोणाभिमुख स्थापित द्रव्यादि द्वारा कार्य सिद्ध करने के लिये रुकावट न हो, इस प्रकार उत्तम एक मण्डप बनावे ॥२॥

चतुरवरार्द्ध्यान् प्रक्रमान् पश्चादुपसञ्चार उत्तरार्द्धे परिवृतस्य लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्ति ॥३॥

'परिवृतस्य' तस्य मण्डपस्य 'अवरार्द्ध्यान्' अपरार्द्धे विदितान् 'चतुःप्रक्रमान्' अन्यूनान् द्वादशपदभूमिं विहाय ततः 'पश्चात्' 'उपसञ्चारः' गमनागमन मार्गः भवेत्, 'उत्तरार्द्धे' तु 'लक्षणं' पूर्वोक्तं 'कृत्वा' 'अग्निं प्रणयन्ति' ॥३॥

भा०—उस मण्डप में ऊपर की ओर कमसे कम १२ बारह पग भूमि छोड़ कर, तत्पश्चात् जाने आने का रास्ता छोड़, नीचे के आधे भाग में 'लक्षण' कर उसमें अग्नि प्रणयन करे ॥ ३ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृꣳहयित्वा सकृत्संगृहीतं व्रीहिमुष्टि मवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ॥४॥

'अग्नेः पश्चात्' उलूखलं' दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र 'सकृत्' एकवारेणैव 'संगृहीतं' 'व्रीहिमुष्टिम्' कतिपयमुष्टिपरिमितं धान्यं यथा च कृत्यं सम्पद्येत 'सव्योत्तराभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्यां' मुसलं गृहीत्वा 'अवहन्ति' अवहन्यात् ॥४॥

भा०—अग्नि के पश्चिम भाग में दृढ़ता के साथ उलूखल स्थापन कर, उस में एकही वार कईएक मुट्ठी धान्य लेकर, दोनों हाथ से मूसल पकड़ धान्य कूटे ॥४॥

यदा वितुषाः स्युः सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ॥५॥

तेनावघातेन 'यदा' ते धान्यसंघाताः 'वितुषाः' विगततुषाः 'स्युः' तदा 'सकृदेव' एकवारेणैव तान् अवहतधान्यसमूहान् 'सुफलीकृतान्' शूर्पादिना तुषान् पृथक्कृत्य तण्डुलरूपान् 'कुर्वीत' ॥५॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार कूटने से धान्य आदि में जब भूसी न रहे, तब उसे सूपसे फटक कर, उस भूसी आदिको उड़ादेवे (यों तण्डुल तैयार करे) ॥५॥

अथामुष्माच्च सक्थ्नो माꣳसपेशीमवकृत्य नवायाꣳसूनायामणुशश्छेदयेद्यथा मांसाभिघाराः पिण्डा भविष्यन्तीति॥६॥

'अथ' अपरत्र 'च' 'अमुष्मात्' अष्टकायै हतायाः गोः 'सक्थ्नः' रक्षितवामसक्थिभागात् 'मांसपेशीम्' 'अवकृत्य' कर्त्तनेन गृहीत्वा 'नवायां' 'सूनायां' व्यञ्जनकर्त्तन्यां तथा 'अणुशः' छेदयेत्' 'यथा' कर्त्तिताः ते 'मांसाभिघाराः' घृतमिश्रिताः सन्तः 'पिण्डाः' पिण्डाकाराः भवेयुर्नाम ॥ ६ ॥

भा०—इधर, उस पूर्व-रक्षित वाम—ऊरु से मांस—पेशी आदि काट कर नये वर्त्तन में खण्ड २ कर काटे, इस प्रकार खण्ड २ करे, जिस में घी के ढार देते वह पिण्डाकार बन जावे ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रसव्य मुदायुवन् ॥ ७ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरु 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां' पृथक् पृथक् स्थापिताभ्यां मेक्षणद्वयाभ्यां 'प्रसव्यं' वामावर्त्तेन मेक्षणचालनं यथा स्यात् तथा 'उदायुवन्' ऊर्द्ध्वमीषन्निमश्रयन् 'श्रपयेत्' पचेदिति॥७॥

भा०—एक ही अग्नि पर 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' को भिन्न २ रक्खेहूए मेक्षणद्वारा वांई ओर से चलावे और ऊपर को चलौना से उठा २ कर धर देखता हुआ पकावे ॥ ७ ॥

शृतावभिघार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभिघारयेत् ॥ ८ ॥

'शृतौ' तौ चरू 'अभिघार्य' घृतेन, 'दक्षिणा' अग्नेर्दक्षिणतः 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'न प्रत्यभिघारयेत्' अष्टकाया मिवात्र प्रत्यभिघारणं न कुर्वीतेति ॥८॥

भा०—इन दोनों चरु के अच्छे प्रकार पक जाने पर, घी का ढार दे, अग्नि के दक्षिणभाग में उतारे, परन्तु उस में पूर्ववत् पुनः घी का ढार न देवे ॥ ८ ॥

दक्षिणार्द्धे परिवृतस्य तिस्रः कर्षूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाः प्रादेशयामाश्चतुरङ्गुलपृथिवीस्तथावखाताः ॥ ९ ॥

'परिवृतस्य तस्य मण्डपस्य 'दक्षिणार्द्धे' दक्षिणांशे 'तिस्रः कर्षूः त्रीन् गर्त्तान् 'खानयेत्'; ताश्च कर्षवः 'पूर्वोपक्रमाः' पूर्वदिगारभ्य क्रमेणारब्धाः, 'प्रादेशयामाः' प्रादेशपरिमितदीर्घाः, 'चतुरङ्गुलप्रशस्ताः, 'तथा अवखाताः' चतुरङ्गुलखातविशिष्टाः भवेयुरिति ॥ ९ ॥

भा०—उस मण्डप के दक्षिण भागमें तीन गढ़ा खुदवावे। इन गढ़ों की लम्बाई प्रादेशमात्र, चौड़ाई ४ अंगुल, चार ही 'अंगुल' गहराई भी होगी ॥ ९ ॥

पूर्वस्याः कर्ष्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्त्यपरेण कर्षूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात् । १०, ११ ॥

'पूर्वस्याः कर्ष्वाः' प्रथमस्य गर्त्तस्य 'पुरस्तात्' 'लक्षणं' पूर्वोक्तरूपं 'कृत्वा' तत्र 'अग्निं 'प्रणयन्ति' प्रणयेयुरिति । किञ्च, 'अपरेण कर्षूः' कर्षूणाम् अपरपार्श्वेऽदूरे एव अग्निं 'पर्याहृत्य' परित आहृत्य 'लक्षणे' पूर्वोक्ते 'निध्यात्' स्थापयेत् । १०, ११ ॥

भा०—पहिला गड्हे के सामने लक्षण पूर्वक अग्नि प्रणयन करे और इन दो 'लक्षणों' से अग्नि लावे, और उसे गड्हों के निकट दूसरे बगल में रक्खे ।१०,११।

सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिंᳬस्तृणोति कर्षूश्च पूर्वोपक्रमाः।१२,१३॥

'आच्छिन्नं' ईषच्छिन्नं किञ्चिन्मूलच्छिन्नं 'दर्भमुष्टिम्' 'सकृत्' एकवारं 'स्तृणोति' स्तृणुयात्, अग्नेश्चर्दिक्षु। 'च' अपि 'पूर्वोपक्रमाः' कर्षूः स्तृणुयादेव१२;१३

भा०—कुछ जड़ काटी हुई कुश मुट्ठी एक ही वार में अग्नि के चारों ओर बिछादेवे और पूर्वादि क्रमसे उस गड्हे में भी वही कुशमुट्ठी बिछावे॥१२, ॥१३॥

पश्चात् कर्षूणांᳬस्वस्तर मास्तारयेद्दक्षिणाग्रैः कुशैर्दक्षिणाप्रवणम् । १४ वृषीञ्चोपदध्यात्तत्र ॥ १५ ॥

'कर्षूणां' गर्त्तानां 'पश्चात्' 'दक्षिणाग्रैः कुशैः' 'दक्षिणाप्रवणम्' 'स्वस्तरम्'

'आस्तारयेत्' । १४ 'तत्र' कर्षूणां पश्चादेव 'वृषीं' काष्ठासनं 'च' 'उपदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ १५ ॥

भा०—इन तीनों गड्ढेके पश्चिम भागमें दक्षिणाग्र कई एक कुश से दक्षिणा प्रवणस्वरूप स्वस्तरातरण करे १४। उसी स्थान में पटा भी रक्खे ॥ १५ ॥

अस्मैआहरन्त्येकैकशः सव्यं बाहु मनु चरुस्थाल्यौ मेक्षणे कꣳसं दर्वी मुदक मिति ॥ १६ ॥

'अस्मै' अस्य यजमानस्य 'सव्यं बाहुम् अनु लक्षीकृत्य वामभागे इति यावत् 'चरुस्थाल्यौ' मांसौदनयोः 'मेक्षणे' अन्नाद्यावर्त्तनसाधने 'कंसम्' अन्नाद्याधारभूतं कांस्यपात्रम् 'दर्वीम्' परिवेशनसाधनम्' 'उदकम्' च 'एकैकशः' क्रमात् 'आहरन्ति' आहृत्य स्थापयेयुः ॥ १६ ॥

भा०—इस यजमान के बाईं ओर मांस और चरुकी दो हांड़ी एवं दोनों के चलौना और जल ले रक्खे ॥ १६ ॥

पत्नी बर्हिषि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि तस्यामेवाञ्जनं निघृष्य तिस्रो दर्भपिञ्जूलीरञ्जति सव्यन्तरास्तैलञ्चोपकल्पयेत् क्षौमदशाञ्च । १७—२० ॥

'पत्नी' यजमानस्य, 'बर्हिषि' कुशोपरि 'शिलां' पेषणाधारभूतां 'निधाय संस्थाप्य, तत्र 'स्थगरं' चन्दनादिकं गन्धद्रव्यं 'पिनष्टि' पेषणं कुर्यात् । किञ्च 'तस्याम्' एव शिलायाम् 'अञ्जनं' सौवीरं 'निघृष्य' घर्षयित्वा तेन 'तिस्रः दर्भपिञ्जूलीः' 'स—व्यन्तराः' व्यन्तरः पुनःपुनरवकाशः, तत्सहिताः कृत्वा 'अञ्जति' अञ्जेत् । 'च' अपि 'तैलम्' 'उपकल्पयेत्' करतलमर्द्दनादिना पेषणेनैव वा तिलानाम् । क्षौमदशां' क्षुमनिर्मित वसनस्य 'दशां' प्रान्तस्थितदशास्थसूत्रम् 'च' अपि 'उपकल्पयेत्' क्षौमवसनप्रान्ततो निष्काश्य रक्षेत् । १७—२० ॥

भा०—यजमान की स्त्री बिछाए हुए कुश के ऊपर शिला (पत्थर) रक्खे, उस पर चन्दनादि पीसे । एवं उस में 'अञ्जन' घिस कर, उस अञ्जन से तीन दर्भपिंजूली थोड़ी २ दूर पर रंगे । उसी शिला पर तेल भी सम्पादन करे एवं रेशमी कपड़े के किनारे से सूत निकाल कर रक्खे ॥ १७, १८, १९, २० ॥

शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानयुग्मानुदङ्मुखानुपवेश्य दर्भान् प्रदायोदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वाऽसावेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वा मनुयाꣳश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेति ॥ २१ ॥

'शुचौ देशे' पवित्रे स्थाने (कर्षूणां 'दक्षिणत एव, यथा च तेषामग्रत एव कर्षूपिण्डाः स्युः) 'अनिन्द्यान्' पाङ्क्तेयान् 'अयुग्मान्' त्रीन् 'ब्राह्मणान्' 'उदङ्मुखान्' 'उपवेश्य' तेभ्यो 'दर्भान्' आसनार्थं 'प्रदाय' 'पितुः' स्वस्य 'नाम' 'गृहीत्वा' "असावेतत्ते"—इत्यादिकमन्त्रेण 'उदकपूर्वं' उदकदानपूर्वम्, 'तिलोदकम्' तिलैर्मिश्रित मुदकं 'ददाति' दद्यात् ॥ २१ ॥

भा०—उन गड्हे के दक्षिणभाग में कुशासन पर तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को उत्तर मुंह बिठला कर अपने पिता का नाम धर, उन में से एक ब्राह्मणके हाथ में कुछ जल देकर, तत्पश्चात् "असावेतत्ते"—इत्यादि मन्त्र पढ़ कर तिल मिला जलदान देवे ॥ २१ ॥

अथ उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ २२ ॥

'इतरयोः' स्वपितामहप्रपितामहयोः प्रतिनिधिब्राह्मणयोः अपि 'एव मेव' उदकपूर्वं तिलोदकदानम्, परम् 'अप उपस्पृश्य' जलस्पर्शनं कृत्वा । एकस्मै ब्राह्मणाय स्वपितृनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कृत्वा ततो जलस्पर्शनं हस्तधौतं कृत्वैवापरस्मै द्वितीयब्राह्मणाय स्वपितामहनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च प्रकृत्य ततः पुनरपि जलस्पर्शं प्रकृत्य तृतीयब्राह्मणाय स्वप्रपितामहनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कुर्यादिति ॥ २२ ॥

भा०—पितामह और प्रपितामह के प्रतिनिधि स्वरूप अन्य दो ब्राह्मणों को भी इसी प्रकार जल देकर तिल जल दान करे । परन्तु एक को देने पर, दूसरे को देने के पहिले, हाथ धो लिया करे ॥ २२ ॥

तथा गन्धान्॥२३॥अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रणꣳहोष्यतः॥२४॥

'गन्धान्' अपि तेभ्यः 'तथा' एव दद्यात् । २३ । 'होष्यतः' होमं करिष्यतो यजमानस्य "अग्नौ करिष्यामि" 'इति' उक्त्वा 'आमन्त्रणं' कर्त्तव्य मिति ॥२४॥

भा०—गन्धादि भी उसी प्रकार उनको देवे ॥ २३ ॥ होम करने के पहिले यजमान उन तीनों ब्राह्मणों को पूछे, कि—अग्निमें पितृगण की अर्चना करूं ? ॥२४॥

कुर्वित्युक्ते कꣳसे चरू समवदाय मेक्षणेनोपघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वाꣳस्वाहाग्नये कव्यवाहनायेत्युत्तराम् । २५ ॥ २ ॥

तैः आमन्त्रितब्राह्मणैः "कुरु"—'इति' 'उक्ते' होमकरणे प्रवृत्तो यजमानः

'कंसे' कांश्यपात्रे 'चरू' ओदनचरुं मांसचरुञ्च 'समवदाय' एकीकृत्य 'मेक्षणेन' तदीयं किञ्चिद् गृहीत्वा 'उपघातं जुहुयात् उपघातनामहवनं यागारम्भसूचकं होमं कुर्यात्। तत्र 'पूर्वाम्' आहुतिं "स्वाहा सोमाय पितृमते"—इति, 'उत्तराम्' आहुतिं "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय"—'इति'। २५॥ २॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम्॥४।२

भा०—वे तीनों ब्राह्मण (जिनसे पूछा गया)एक वाक्य से 'करो' ऐसा कहें। इस पर यजमान कांसे के वर्त्तन में मांसचरु, और ओदनचरु, दोनों चरु एकत्र ले कर उस में से थोड़ासा मेक्षण द्वारा लेकर उपघात होम * करे। उन में से "स्वाहा सोमाय पितृमते" इस मन्त्र से प्रथम आहुति देवे, और "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय" इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे॥ २५, २॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके द्वितीय खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।२

अत ऊर्द्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम्॥ १॥

'अतः ऊर्द्ध्वम्' इत आरभ्य अन्वष्टक्यसमाप्तिं यावत्। 'प्राचीनावीतिना' दक्षिणस्कन्धत उपवीतं धृत्वा, 'वाग्यतेन' नियतवाग् भूत्वा 'कृत्यम्' एतदन्वष्टक्यं नाम कार्यमिति॥ १॥

भा०:—इसके पश्चात् 'अन्वष्टका' कार्य की समाप्ति पर्यन्त जो २ क्रिया करनी पड़ेगी, उस में 'प्राचीनावीति' (प्र० १ ख० १ सू० ३,४) होकर करे और उस समय प्रयोजन से अधिक वाक्य व्यवहार न करे॥ १॥

सव्येन पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखामुल्लिखेदपहता असुरा इति॥ २॥

'सव्येन' वामेन 'पाणिना' 'दर्भपिञ्जूलीं' स्वस्तरात् 'गृहीत्वा' दक्षिणे पाणौ "अपहता असुरा रक्षांᳫसि वेदिषदः" ॥३५॥ (म० ब्रा० २, ३, ३)—इति मन्त्रेण 'दक्षिणाग्रां लेखाम्' तयैव पिञ्जूल्या 'उल्लिखेत्' तासु कर्षूष्विति॥ २॥

भा०:—वांयें हाथ में 'स्वस्तर' से एक 'दर्भ पिञ्जूली' लेकर दहिने हाथ में लेते हुए, उस के द्वारा "अपहता असुरा" इस मन्त्र से उन तीन कर्षू से क्रम से दक्षिण मुंह रेखापात करे॥ २॥

सव्येनैव पाणिनोल्मुकं गृहीत्वा दक्षिणार्द्धे कर्षूणां नि-

---

* आरम्भ सूचक होम को 'उपघात' होम कहते हैं॥

दध्याद्ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति ॥ ३ ॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उल्मुकं' ज्वलदग्निं 'गृहीत्वा' आनीय दक्षिणे पाणौ 'कर्षूणां' तासां मध्ये 'दक्षिणार्द्धे' (तथा च रेखापातमुखे इति फलितम्) "ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठांल्लोकात् प्रणुदत्वस्मात्" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ४)–इति मन्त्रं सर्वत्रैव पठन् तं हस्तस्थ मुल्मुकं 'निदध्यात्' स्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०:–वाम हाथ में जलती आग लेकर दहिने हाथ में रक्खे, उस कर्षू आदि के मध्य में रेखा पात के अगले भाग में "ये रूपाणि" यह मन्त्र पढ़ कर स्थापन करे ॥ ३ ॥

अथ पितृनावाहयत्येत पितरः सोम्यास इति ॥ ४ ॥

'अथ' अनन्तरम् । तत्रैव "एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः । दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रꣳ रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छत" ॥५॥ (म० ब्रा० २, ३, ५)–'इति' 'पितृन्' पितृपितामहप्रपितामहान् यथाक्रमेण 'आवाहयति' आवाहयेदिति ॥ ४ ॥

भा०:–अनन्तर, उन्हीं तीन कर्षू से एक ही समय पिता, पितामह, और प्रपितामह, इनतीन व्यक्तियोंको "एत पितरः" मन्त्र पाठानुसार आवाहन करे॥४

अथोदपात्रान् कर्षूषु निदध्यात् ॥ ५ ॥

'अथ' आवाहनानन्तरम्, 'कर्षूषु' 'उदपात्रान्' त्रीन् एकैकक्रमेण 'निदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ ५ ॥

भा०:–इस के अनन्तर, उन कर्षू आदि में एक २ जलपात्र रक्खे ॥ ५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वासाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वा मनु याꣳश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेति ॥६॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उदपात्रं' इतः पूर्वमेव स्थापित मुदकपात्रं 'गृहीत्वा' तदुदकपात्रस्थं जलम् 'अवसलवि' दक्षिणहस्तवृद्धाङ्गुष्ठमूलेन पितृतीर्थेन पथा 'पितुर्नाम गृहीत्वा' स्वपितृनामग्रहणपूर्वकं "असाववनेनिक्ष्व"–इति मन्त्रं पठन् 'पूर्वस्यां कर्ष्वां' पातिता ये दर्भाः, तेषु 'दर्भेषु' 'निनयेत्' आहूतं पितरं प्रापयेदिति ॥ ६ ॥

भा०:–वांयें हाथसे कर्षू के पास रक्खे हुए जलपात्र को लेकर दहिने हाथ

के अंगुठे की जड़ से जल ढार कर, उस जल को पिता का नाम लेकर "असौ अवने निदव"–इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पहिले से रक्खे हुए कर्षू के ऊपर दर्भ में आहूत अपने पिता को–प्राप्त करावे; इसी को 'निनयन' कहते हैं ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ७ ॥

'इतरयोः' पितामहप्रपितामहयोरर्थयोरपि निनयनम् 'एवमेव' कार्यम् अपरयोः कर्ष्वोर्यथाक्रमेणेति । तत्र च प्रतिवारम् अप उपस्पर्शनं कर्त्तव्यमिति॥७॥

भा०:–पितामह और प्रपितामह के उद्देश से भी इसी प्रकार 'निनयन' करे; परन्तु प्रतिवार जल स्पर्श करे। अर्थात् पितृनिनयन के पीछे हाथ धोकर पितामह 'निनयन' करे, फिर हाथ धोकर, प्रपितामह के लिये निनयन करे ॥७॥

सव्येनैव पाणिनादर्वीं गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेष ते पिण्डो ये चात्र त्वा मनु यांश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ८ । ९ ॥

यथा पूर्वं निनयनं कृतम् तथैव तिसृष्वेव कर्षूषु पिण्डदानञ्च कार्य मिति फलितार्थः । अत्र मन्त्रे "असावेष ते पिण्डः"–इत्येव विशेषः । पूर्वस्यापितां 'दर्वीम्' । 'सन्नीतात्' पूर्वं कांस्यपात्रे ओदनचरुर्मांसचरुश्च सन्नीतः, तस्मात् । 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांश मिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

भा०–पूर्वगृहीत कांसे के पात्र में मिला हुआ चरु, दर्वी द्वारा काटकर तीन भाग करे और एक २ कर क्रम से (बीच २ में हाथ धोले) कुश के ऊपर अपने पिता का नाम ले कर "असावेष ते पिण्डः"–इस मन्त्र से यथाक्रम तीन पिण्ड दान करे ॥ ८ ॥ ९ ॥

यदि नामानि न विद्यात स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य इति द्वितीयं स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्य इति तृतीयम्॥१०॥

'यदि' ' नामानि ' पित्रादीनाम्, ' न विद्यात् ' ? तर्हि 'प्रथमं पिण्डं' "स्वधा०"–'इति' मन्त्रेण 'निदध्यात्' तत्र कर्षूमध्ये पूर्ववदित्येव;–' द्वितीयं ' पिण्डं "स्वधा०"–'इति' मन्त्रेण निदध्यादित्येव;–'तृतीयं' पिण्डं "स्वधा०"–इति मन्त्रेण निदध्यादित्येव ॥१०॥

भा०–यदि पिता का नाम स्मरण न हो, तो, पहिला पिण्ड पृथिवी स्थायी

पितृगण के लिये, द्वितीय पिण्ड अन्तरिक्ष स्थायी पितृगण के निमित्त एवं तृतीय पिण्ड द्युलोकस्थ पितृगण के निमित्त, उन्हीं कर्षूओं के बीच पूर्वोक्तानुसार स्थापित करे ॥ १० ॥

निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्व मित्यपर्यावृत्त्य ॥ ११ ॥ पुरोच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमी मदन्त पितरो यथाभाग मा वृषायिषतेति ॥१२॥

पिण्डान् त्रीनेव तिसृषु कर्षूषु यथोपदिष्टं 'निधाय' 'अपर्यावृत्य' पर्यावर्त्तनं वर्जयित्वा एकत्रैव स्थितो यजमानः"अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ६) 'इति' मन्त्रं 'जपति' जपेदिति ॥११॥ 'उच्छ्वासात्' नासिकया श्वासत्यागात् 'पुरा' प्रागेव 'अभिपर्यावर्त्तमानः' तिस्रः कर्षूः अभिव्याप्य 'परि' सर्वतः (अनुल्लम्फनेनेति भाव) 'आवर्त्तमानः' आवर्त्तनं कुर्वाणो यजमानः "अमी मदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" ॥७॥ (म० ब्रा० २,३,७) 'इति' इमं मन्त्रं जपेत् अभिपर्यावर्त्तनञ्चैतद्वामत एव पैत्रे सव्यस्यैव सर्वत्र विधानात् ॥ १२ ॥

भा०—उन्हीं तीन गड्हों में पूर्वोक्त रीति से स्थापन करने के पीछे यजमान एक स्थान में बैठ कर"अत्र पितरः" यह मन्त्र पढ़े ॥११॥ एक निःश्वास के काल की बराबर बाईं ओर से गड्हे आदि की परिक्रमा कर आवे और उसी समय "अमी मदन्त" मन्त्र का पाठ करे॥१२॥

सव्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्त आञ्जनं ये चात्र त्वा मनु यांश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ १३ । १४ ॥

यथा पूर्वं निनयनं पिण्डदानञ्च कृतम्, तथैव 'दर्भपिञ्जूलीं'पत्नया सौवीराञ्जनेनाक्तां स्थितां क्रमतोऽप उपस्पृश्य पिण्डानामुपरि दद्यादिति । तदत्र मन्त्रे "असावेतत्त आञ्जनम्"—इत्येव विशेषः । १३, १४ ॥

भा०—बांये हाथ में, उस अञ्जन से रंगा—कुश की तीन पिंजूली ले कर दहिने हाथ के अंगुठे की जड़से पूर्व आदि तीन गड़हा में स्थित तीन पिण्ड के ऊपर एक२क्रम से "असावेतत् त आञ्जनम्—मन्त्र पढ़ कर, प्रदान करे ।और प्रथम और द्वितीयपिण्ड परपिञ्जूली देनेके पीछे एक२ वारहाथ धोवे ॥१३,१४॥

तथा तैलं तथा सुरभि ॥ १५ । १६ ॥

'तथा' पिञ्जूलीदानोक्तप्रकारेणैव 'तैलं' पत्न्यापादितं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूषु दद्यात्। किञ्च 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'सुरभि पत्न्या' पिष्टं स्थगरं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूषु दद्यात्। पर मुभयत्रैव "असावेतत्ते तैलम्"—इति, "असावेतत्ते सुरभि"—इति चोहनं कर्त्तव्य मेव ॥ १५ । १६ ॥

भा०—तदन्तर इस पिञ्जूली दानके अनुसार इस मन्त्र से उस २ के ऊपर तैल एवं सुगन्धि (चन्दनादि) प्रदान करे। विशेषता—मन्त्र में यह होगी कि 'आञ्जन' शब्द के बदले 'तैल' और 'सुरभि' शब्द व्यवहृत होंगे ॥ १५। १६ ॥

अथ निन्हुते पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणी कृत्वा नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषायेति मध्यमायाᳫँसव्योत्तानौ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसायेत्युत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यव इत्यथाञ्जलिकृतो जपति नमो वः पितरः पितरो नमो व इति ॥ १७—२१ ॥

'अथ' सुरभिदानानन्तरं 'निह्नुते' निह्नवनं नमस्करणं कार्यमिति। तत्र 'पूर्वस्याम्' 'उत्तमायां' च 'कर्ष्वां 'दक्षिणोत्तानौ' 'पाणी' कृत्वा' 'मध्यमायां' तु 'सव्योत्तानौ' पाणी कृत्वा' ततो तिसृष्वेव कर्ष्वेकदैव 'अञ्जलिकृतः' जपति जपेत् यथाक्रमेण चतुरो मन्त्रान् "नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषाय ।८। नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय ।९। नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यवे । १०। नमो वः पितरः पितरो नमो वः ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ८—११)—इत्यादिकानिति ॥ १७—२१ ॥

भा०:—अनन्तर पहिला पिण्ड पर दक्षिणोत्तान दोनों हाथ (दक्षिण करतल ऊपर को [चित्त] रहे एवं उसके ऊपर वायां करतल नीचे को हो) तत् पश्चात् मध्यम पिण्ड पर वामोत्तान दोनों हाथ (वायां करतल ऊर्द्ध मुख और उसके ऊपर दक्षिण करतल अधो मुख) पर अनन्तर शेष पिण्ड पर, पुनः दक्षिणोत्तान दोनों हाथ पर सब के अन्त में समस्त पिण्ड लक्ष्य कर अञ्जलि पूर्वक "नमो वः" इत्यादि चार नमस्कार करे ॥ १७—२१ ॥

गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति । २२ । पिण्डानवेक्षते सदो वः पितरो देष्मेति ॥ २३ ॥

ततः 'गृहान्' स्वगृहिणीम् 'अवेक्षते' अवेक्षेत; "गृहान्नः पितरो दत्त"॥१२॥ (म० ब्रा० २, ३, १२)—'इति' मन्त्रं पठन्निति ॥ २२ ॥ "ततः सदो वः पितरो देष्म" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १३)—'इति' मन्त्रं पठन् 'पिण्डान्' तानेव 'अवेक्षेतेति ॥ २३ ॥

भा०:—अनन्तर "गृहान्नः" इस मन्त्र को पढ़कर गृहिनी को देखे ॥ २२ ॥ इसके अनन्तर 'सदोवः पितरो' मन्त्र का पाठकर पिण्ड आदि देखे ॥२३॥

सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्ते वासो ये चात्र त्वा मनु यांश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः । २४, २५ ॥

पत्न्या सम्पादिता क्षौमदशा, त एव एकैकं 'सूत्रतन्तुं' 'गृहीत्वा', पूर्वादिषु कर्षूषु क्रमात् पित्रादिनामग्रहणपूर्वकं निदध्यात् । मन्त्रे तु "एतद्वः पितरो वासः" ॥ १४ ॥—इत्येव विशेषः । अत्रापि द्वितीयतृतीययोरप उपस्पर्शनं कार्य मेव ॥ २४, २५ ॥

भा:०—पत्नी कर्त्तृक सम्पादित उस रेशमी कपड़े के किनारे से एक २ सूत लेकर पूर्वादि गड़हे क्रम से पिता आदि के नाम ले २ कर "यह तुम्हारा वास है" इत्यादि मन्त्र से पिण्ड आदि के ऊपर प्रदान करे ॥ २४,२५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पिण्डान् परिषिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति । २६ । मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्राश्नीयादाधत्त पितरो गर्भ मिति ॥ २७ ॥

'उदपात्रं' पूर्वमेव स्थापितं तत् 'सव्येनैव पाणिना गृहीत्वा 'अवसलवि' पितृतीर्थेन "ऊर्जं वहन्ती रमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतꣳस्वधास्थ तर्पयत मे पितृन्" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १५)—'इति' मन्त्रेण 'पिण्डान्' त्रीन् एकदेव 'परिषिञ्चेत् ॥ २६ ॥ 'पुत्रकामा पत्नी' "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषः स्यात् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १६) 'इति' मन्त्रं पठती 'मध्यमं पिण्डम्' समग्रं तदीयं किञ्चिदंशं वा 'प्राश्नीयात्' ॥ २७ ॥

भा०:—पूर्व स्थापित उस जल पात्र को बायें हाथ में लेकर पहिले की नाईं 'पितृतीर्थ' मार्ग से अंगुठे से एक ही बार में तीन पिण्ड पर " ऊर्ज्जं वहन्ती" मन्त्र से परिषिञ्चन करे ॥२६॥ पुत्र की कामना वाली पत्नी "आधत्त" इस मन्त्र का पाठ कर मध्यम पिण्ड को सब, या थोड़ा भक्षण करे ॥२७॥

यो वा तेषां ब्राह्मणाना मुच्छिष्टभाक् स्यात् ॥ २८ ॥ अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा इत्युल्मुक मद्भिरभ्युक्ष्य द्वन्द्वंपात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत् ॥ २९ ॥

'उच्छिष्टभाक्' दौहित्रः श्रद्धासमन्वितश्च । प्राश्नीयादित्येव । २८। "अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा अवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादात् पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन् प्रजानन्नग्ने पुनरेहि योनिम्" ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १७) 'इति' मन्त्रं पठन् 'उल्मुकं' कर्षूदक्षिणार्द्धे स्थापितम् 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' तदीयेनैव भस्मना 'द्वन्द्वं' यथा स्यात् तथा 'पात्राणि' चरुस्थाल्यादीनि 'प्रक्षाल्य' 'प्रत्यतिहारयेत्, आनयेत् शिष्यादिनेति ॥ २९ ॥

भा०:—उन ब्राह्मणों के जो कोई, उच्छिष्ट भाक् हों (बचा हुआ खाने वाला) वे भी इन २ पिण्डों को समस्त, या कुछ अंश खा सकते हैं ॥ २८ ॥ "अभून्नो" इस मन्त्र को पढ़कर गड्हे आदि के दक्षिणार्द्ध में रखा इंगोरा पर जल छिड़के एवं उस भस्म पर चरुस्थाली पात्र आदि धोकर लावे ॥२९॥

अप्सु पिण्डान्त्सादयेत् प्रणीते वाग्नौ ब्राह्मणं वा भोजयेद्द गवे वा दद्याद्द । ३०–३३ ॥ वृद्धिपूर्त्तेषु युग्मानाशयेत् प्रदक्षिण मुपचारः । ३४, ३५ ॥ यवैस्तिलार्थः । ३६ ॥ ३ ॥

तान् त्रीनेव 'पिण्डान्' भुक्तशेषान् वा पिण्डांशान् 'अप्सु' नद्यादिषु 'सादयेत्' निक्षिपेत्। 'वा' अथवा 'प्रणीते अग्नौ' तत्रैव सादयेदित्येव, 'वा' अथवा 'ब्राह्मणं' यंक मपि क्षुधातुरं 'भोजयेत्'। 'वा' अथवा 'गवे' यस्यै कस्यै चिद्द दद्यादिति समाप्त मन्वष्टक्यम् । ३०–३३ । श्राद्धप्रसङ्गात् वृद्ध्यादिषु विशेष मुपदिशतिः—वृद्धिः शरीरवृद्ध्यनुसारतः सम्पाद्या अन्नप्राशनादिका, पूर्त्तास्तु वापीकूपतड़ागादयः, तेष्वपि कर्त्तव्येषु तत्तत्कर्मणः प्रागेव अन्वष्टक्यवत् पित्रर्चनं कर्त्तव्य मिति । विशेषतस्तु तेषु 'युग्मान्' ब्राह्मणान् 'आशयेत्' इह तु 'अयुग्मान्—इत्युक्तम् (प्र० ४ खं० २ सू० २१) किञ्च इहोपचारे 'प्रसव्यम्' इत्युक्तम् (प्र०४ खं०२ सू०७) वृद्ध्यादिषु तु 'प्रदक्षिणम्' यथा स्यात् तथा 'उपचारः' कर्त्तव्यः इति । ३४, ३५ अथ तेषु द्रव्यातिदेश उच्यते । तिलैः यः अर्थः प्रयोजनं भवेत, यवैः अपि स एवार्थः सिद्धेदिति ।३६ ॥३॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥३॥

भा०:—उन सब पिण्डों को जल में फेंक देवे, या उसी अग्नि में डाले या किसी भूखे ब्राह्मण को भोजन करावे, या किसी गौ को खिलावे। वृद्धि * और पूर्त**के उपलक्षमें पितृलोक की अर्चना समय भी पूर्वोक्त अनुष्ठान सब करना चाहिये। विशेषतः—अन्वष्टका कार्यमें अयुग्म(१,३,आदि)ब्राह्मण कीव्यवस्था है, यहां जोड़ा (२, ४ आदि) ब्राह्मण भोजन करावे एवं अन्वष्टका कार्य में वामावर्त्त में चरु पाक करने का नियम है, यहां दक्षिणा वर्त्त में चरु पाक करे ३५।३५ तिल से जो २ कार्य कहे गये हैं, यव से भी वह २ कार्य होंगे ॥ ३६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थप्रपाठक के तृतीयखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ।३६।३॥

अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः ॥ १ ॥

'पिण्डपितृयज्ञः' पिण्डं शरीरं, भस्मीभूतं तदुपलक्ष्य यत् पितृपुरुषस्यार्च-नम्, तदेव कर्म पिण्डपितृयज्ञइत्युच्यते। स च यज्ञो ऽनेनैव पुरस्तादुक्तेन अ-न्वष्टक्यविहितेन स्थालीपाकेनैव 'व्याख्यातम्'। तत्र स्थालीपाकनियमो यथा विहितः, अत्रापि तथैवेत्यतिदेशः। १।

भा०:—अन्वष्टका कार्य में स्थाली पाक की जो व्यवस्था कियी है, पिण्ड पितृ यज्ञ में भी उसी प्रकार जानना ॥ १ ॥

अमावास्यायां तच्छ्राद्धम् ॥२॥ इतरदन्वाहार्यं मासीनम् ।३। दक्षिणाग्नौ हविषः सꣳस्करणं तत्रैवातिप्रणयः ४,५॥

'तत्' पिण्डपितृयज्ञं कर्म 'श्राद्धम्'—इत्याचक्षते, 'अमावास्यायाम्' पित्रादि-मरणानन्तरं प्रथमाया मेव वर्षमध्ये यस्यां कस्याञ्चिद्वा कर्त्तव्यम्। २। 'इतरत्' अपर मपि श्राद्धम्, 'मासीनम्' मासि मासि क्रमेण संवत्सरं यावत् 'अन्वाहा-र्यम्' प्रथम मनु प्रथम मिव व्यवहार्यम्। ३। आहिताग्नेरिति ॥ ४, ५ ॥

भा०:—उस पिण्ड पितृयज्ञ—श्राद्ध को पिता आदि के वियोग होने पर, प्रथम अमावास्या को करे,॥२॥न होने से वर्षकी जिसकिसी अमावास्या को करे अपर ११ अमावास्या को भी११श्राद्ध इसी प्रकार करे ।३।आहिताग्नि यजमान-गण, इस श्राद्ध के हवि को, दक्षिणाग्नि में संस्कृत करें और उसी में पूर्वोक्त अति प्रणय करें ॥ ४,५ ॥

शालाग्नावनाहिताग्नेः ॥ ६ ॥ एका कर्षूः ॥ ७ ॥ तस्या दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ॥ ८ ॥

* शरीर वृद्धि अनुसार अन्नप्राशन आदि संस्कार ॥ ** वापी, कूप, तालाब आदि का खोदवाना ॥

अनाहिताग्नेः 'शालाग्नौ' गृह्याग्नौ एव । ६ । नात्रान्वष्टक्यवत् कर्षूत्रयमिति भावः । ७ । 'तस्याः' कर्ष्वाः । नान्वष्टक्यवत् पूर्वत इति भावः ॥ ८ ॥

भा०:—अनाहिताग्नि के गृह्यअग्नि में वह सम्पन्न होगा।६। इस स्थान में अन्वष्टका कार्यकी नाईं तीन कर्षू न होंगे, ।७।वरण एक ही कर्षू होगा उस कर्षू के दक्षिण ओर में अग्निस्थान होगा; अन्वष्टका कीनाईं कर्षूके पूर्व भागमें होगा।८।

नात्रोल्मुकनिधानं न स्वस्तरो नाञ्जनाभ्यञ्जने न सुरभि न निन्हवन मुदपात्रान्तो वासस्तु निदध्यात् । ९—१५ ॥

'अत्र' पिण्डपितृयज्ञे अन्वष्टक्यवत् 'उल्मुकनिधानं' 'स्वस्तरः', 'अञ्जनाभ्यञ्जने', 'सुरभि' 'निह्नवनं' च 'न' भवति, ततश्च 'उदपात्रान्तः' एवासौ यज्ञः, 'तु' अपि अत्र 'वासः निदध्यात्' न अन्वष्टक्यवत् दशासूत्रमिति समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा । ९—१५

भा०:—इस पिण्ड पितृ-यज्ञ में अन्वष्टका कार्य की नाईं "उल्मुक निधान," "स्वस्तर," "अञ्जनाभ्यञ्जन," "सुरभिदान," और "निह्नवन" न करे सुतरां यह उदपात्रान्त ही समाप्त होगा, एवं इस में पिण्ड पर अन्वष्टका कार्य की नाईं सूत न देकर वस्त्र डाले ॥ ९—१५ ॥

माघ्या ऊर्द्ध्व मष्टम्यां स्थालीपाकः ॥ १६ ॥

माघमासीयपौर्णमास्याः परस्तात् कृष्णाष्टम्यां तृतीयाष्टका शाकाष्टकाख्या कर्त्तव्या, तत्र स्थालीपाकः पूर्ववत् पक्तव्यः ॥ १६ ॥

भा०:—माघी पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी, । तिथिको "शाकाष्टका" नामक तृतीय अष्टका करने और उस में भी पूर्ववत् स्थालीपाक करना चाहिये ॥१६॥

तस्य जुहुयादष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यच्छाकं व्यञ्जन मन्वाहार्यम् ॥१७—२० ॥

सर्वं पूर्ववत्, विशेषतस्त्विह 'शाकं' नाम 'व्यञ्जनं' भोजनोपकरणम् 'अन्वाहार्य्यम्' भवेदिति शाकाष्टका ॥ १७—२० ॥

भा०:—उस स्थालीपाक का कुछ अंश "अष्टकायै स्वाहा" मन्त्र से होमकरे; और अन्यान्य कार्य भी स्थाली पाक की नाईं होंगे । विशेषत इस में शाक व्यञ्जन लाना चाहिये ॥ १७—२० ॥

अथ पितृदैवत्येषु पशुषु वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति वपां जुहुयाद्दैवदैवत्येषु जातवेदो वपयागच्छ देवानि-

त्यनाज्ञातेषु तथादेशं यथाष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ २१-२४ ॥

'अथ' अष्टकाविधानसमनन्तरम् । सर्वत्रैव 'पितृदैवत्येषु पशुषु' "वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैन्वेत्थ निहितान् पराचः । मेदसः कुल्या अभितान्त् स्रवन्तु सत्या एषा माशिषः सन्तु कामात्" (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १८) इति मन्त्रेण,—'देवदैवत्येषु' पशुषु "जातवेदो वपया गच्छ देवां२ँस्त्वं२ँहि होता प्रथमो बभूव । सत्या वपा प्रगृहीता मे अस्तु समृध्यतां मे यदिदं करोमि" १९॥ (म० ब्रा० २, ३, १९) इति मन्त्रेण,—'अनाज्ञातेषु' यत्र संज्ञप्यमानपशौ देवता 'आ' सम्यक् न ज्ञाता, तादृशेषु, सन्दिग्धदेवत्येषु बहुदैवतेषु वा पशुषु 'तथादेशं' तत्र तत्रैव यथा विहितं तथा विहितानुरूपेणैव मन्त्रेण 'वपां जुहुयात्' । अनाज्ञातेषु मन्त्रप्रयोगदृष्टान्तं दर्शयति'—'यथा' "अष्टकायै स्वाहा"—'इति' मन्त्रेण 'जुहोति' 'अष्टकाकर्मणि' अष्टकापशोश्च बहुदेवतात्वात् विवदमानदेवतात्वाद्वा अनाज्ञातदेवदैवत्यत्वम् । वपाहोमे 'अन्यत्' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् ॥ २१-२४ ॥

भा०—जिस स्थान में पितृगण के निमित्त पशु हनन करे, उस स्थान में "वह वपां" इस मन्त्र से वपाहोम करे । जिस किसी स्थान में किन्हीं देवता के निमित्त पशुहनन करे, वहां "जात वेदो वपया" इस मन्त्र से वपा होम करे । जहां कर्त्तव्य कार्य के देवता निश्चय में सन्देह हो (कि यहां कौन देवता होनी चाहिये) ऐसे स्थान के लिये विशेष मन्त्र कहा जाता है । ऐसे स्थानों में जो मन्त्र कहा जावे उसी मन्त्र से वपा होम करे । जिस प्रकार अष्टका कार्य में "अष्टकायै स्वाहा" यही मन्त्र वपा होम में व्यवहृत होगा । अन्यान्य सब कार्य स्थाली-पाक के नियम से होंगे ॥ २१-२४ ॥

ऋणे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयाद्यत्कुसीद मिति । २५ । अथातो हलाभियोगः ॥ २६ ॥

'ऋणे प्रज्ञायमाने' स्वल्प मृणम्, ऋण मिति न ज्ञातं भवति, तदन्यत्र, बह्वृणे जाते इति यावत् । 'गोलकानां' पलाशानां (?) 'मध्यमपर्णेन' "यत् कुसीद मप्रदत्तं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि"॥२०॥ (म० ब्रा०२, ३, १९) 'इति' मन्त्रेण'जुहुयात्' २५ 'अथ' अनन्तरम् । 'अतः' आरम्भ'हलाभियोगः'हलप्रयोगउपदिश्यते इतिशेषः२६

भा०—जब यह जाने कि ऋण (कर्ज) बहुत हो गया, तो "यत् कुसीदम्"

इस मन्त्र का पाठ करके ऋण संख्यानुसार (जितना कर्ज हो) मध्यम गोलक पत्र होमकरे॥२५॥ अब इसके आगे हलप्रयोग का विधि कहा जाता है ॥ २६ ॥

पुण्येनक्षत्रे स्थालीपाकꣳश्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादिन्द्राय मरुद्भ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय । २७ । सीतामाशामरडामनघाञ्च यजेत॥ २८ ॥

स्पष्टम् । २७ । सीतादीनि चत्वारि कृषियन्त्राणि च पूजयेत् ॥ २८ ॥

भा०–पुण्य नक्षत्र में अर्थात् खेती के लिये उपयुक्त काल में कृषि कार्य में प्रवृत्त होकर पहिले स्थालीपाक कर वक्ष्यमाण देवता आदि को आहुति देवे; "इन्द्राय स्वाहा" मन्त्र से देवराट् इन्द्र को, * 'मरुद्भ्यः स्वाहा,' मन्त्र से मरुद् गण ** को, 'पर्जन्याय स्वाहा' मन्त्र से पर्जन्य देव को *** 'अशन्यै स्वाहा' मन्त्रसे अशनि देवता को****और 'भगाय स्वाहा' मन्त्रसे, भग देवता को ॥२७॥ सीता, * (हल का फाला) आशा, अरडा, अनघा की पूजा करे २८॥*****

एता एव देवताः सीतायज्ञखलयज्ञप्रवपणप्रलवनपर्य्यणेषु । २९ । आखुराजञ्चोत्करेषु यजेत ॥ ३० ॥

यदा 'सीतायज्ञः' सीतायाः लाङ्गलपद्धतेश्चालनम्, 'खलयज्ञः' खले शस्यादीनां मर्द्दनम्, 'प्रवपणम्' शस्यबीजानाम्, 'प्रलवनम्' पक्वानां शस्यानां छेदनम्, 'पर्ययणम्' तृणवियुक्तधान्यादिशस्यानां गृहानयनम् ; अत्र सर्वत्रैव 'एताः' पूर्वोक्ताः इन्द्रादयः 'एव' 'देवताः' स्मर्त्तव्याः । २९ । 'उत्करेषु' मूषिकास्थानेषु 'आखुराजञ्च' 'यजेत' तत्खाद्य दानेन तोषयेत् ॥ ३० ॥

भा०–जिस समय हल चलावे, जिस समय खलिहान में दौनी करे, जिस समय खेत में बीज बोये, जिस समय पके शस्य (गल्ला) काटे जावें, एवं जिस समय प्रस्तुत (तैयार) अनाज घर में लावे; इन समयों में पूर्वोक्त इन्द्रादि देवता को स्मरण करे ॥२९॥ पीछे शस्य आदि घर में रखने पर चहे के बिल में भी मूस की तुष्टि के लिये कुछ अनाज देवे ॥ ३० ॥

---

* जो वृत्र (मेघ) के साथ युद्ध कर, वहुत वज्र फेक, उस असुर के (बलवान् जलाधार के) शरीर को खण्ड२ करते एवं शची (सब कर्मों के) पति, जिन के प्रभाव से सब क्रिया सिद्ध होती हैं (ऐश्वरीय वल विशेष)

** जो देवगण वृत्रासुर के साथ युद्ध काल में इन्द्र की सहायता करते हैं और पीछे वृत्र देह को खण्ड २ होने पर वह पृथिवी पर वेग के साथ गिराते हैं (वायु समूह) ॥

*** जो वेद में वृत्रासुर नाम से परिचित हैं (मेघ) ॥

**** वज्र—। वस्तुतः मेघाश्रित तेज मात्र को अशनि कहते, जिस के प्रकाशमान् ज्योति को 'विद्युत' कहते हैं ॥

***** भग शब्द ऐश्वर्य वाचक और कृषि ही सब प्रकार के ऐश्वर्य की जड़ है अतएव जिस देवता के अनुग्रह से कृषि सुफल हो, उन्हीं को 'भग' देवता कहते (सूर्य) ॥

* सीता प्रभृति चार ही खेती के यन्त्र होते हैं ।

इन्द्राण्याः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा तप्यमानेति ॥ ३१, ३२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् । ३३ ॥ ४ ॥

इन्द्राणीदेवतातोषणाय 'स्थालीपाकः' पक्तव्यः । पक्तस्य च 'तस्य' स्थालीपाकस्य अंशं गृहीत्वा "एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् । तेन देवा असहन्त शत्रून् हन्ता सुराणा मभवच्छचीभिः" ॥ २१ ॥ (म० ब्रा० २, ३, २१)–'इति' मन्त्रेण जुहुयात्" । ३१, ३२ । 'अन्यत्' सर्वं यदत्रानुपदिष्टं तत, 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम्, न तत्र कश्चिदपि विशेष इति भावः । द्विरुक्तं खण्डसमाप्तिसूचक मिति हलाभियोगः ॥३३॥४॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेतृतीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥४॥

भा०–अनन्तर इन्द्राणी * देवता के परितोष के लिये स्थाली पाक करे और परिपक्व स्थालीपाक में से थोड़ा लेकर " एकाष्टका तपसा "–मन्त्र से आहुति देवे ॥३१ । ३२॥ अन्यान्य सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक की रीति से सम्पन्न करे ॥३३॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थप्रपाठकके चतुर्थखण्डका भाषानुवाद पूराहुआ ॥ ४, ४ ।
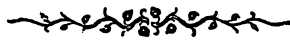
काम्येष्वत ऊर्द्ध्वंम्पूर्वेषु चैके ॥ १, २ ॥

'अत ऊर्द्ध्वं' यत् किञ्चिद्वक्ष्यमाणं तत्सर्व मेत्र 'काम्येषु' वेदितव्यम् । 'एके' प्रधानाः, गोभिलादयः पूर्वाचार्याः वक्ष्यमाण मपि किञ्चित् विरूपाक्षजपादिकम् 'पूर्वेषु' नित्यनैमित्तिकेषु 'च' स्वीकुर्वन्ति ॥ १, २ ॥

भा०:–इस के पीछे जो कुछ कहा जावेगा, सो सब काम्य ** कर्म विषय में जानना, प्रधान आचार्य्य गण के मत में वक्ष्यमाण विरूपाक्ष जप आदि कई एक कार्य्य, पूर्वोक्त नित्य नैमित्तिक कार्य्य में भी व्यवहृत होंगे ॥१,२॥

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्येदम्भूमेर्भजामह इति ॥३॥ वस्वन्तꣳरात्रौ धन मिति दिवा ॥४॥ इमꣳस्तोम मिति तृचेन परिसमूहेत् ॥ ५ ॥

---

* इन्द्र की अर्थात् अन्तर्बल की सहचारिणी, अर्थात् शची क्रिया सब ॥

** कर्म तीन प्रकार का होता—'नित्य, 'नैमित्तिक, और 'काम्य, । जो करना ही होगा, न करने से पाप हो उसे 'नित्य, कर्म कहते । जो किसी निमित्त से करना पड़े, न करने से वह निमित्त निर्दोष न होवे, वह 'नैमित्तिक, है। किसी कामना की सिद्धि के लिये जो किया जावे, उस को 'काम्यकर्म कहते, काम्य कर्म करे न करे कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् काम्य कर्म न करने से कोई पाप नहीं होता ॥

'अग्नेः पश्चाद्' 'भूमौ' 'पाणी' स्वकीयौ 'न्यञ्चौ' आत्माभिमुखौ वक्रौ 'प्रतिष्ठाप्य' "इदम्भूमेर्भजामह इदंभद्रᳫं सुमङ्गलम्। परा सपत्नान् बाधस्वा-न्येषां विन्दते वसु ॥ (अन्येषां विन्दते धनम्)" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १) 'इति' मन्त्रं जपेदिति भूमिजपः ।३। 'रात्रौ' भूमिजपं चेत् 'वस्वन्तं' वसुपदान्तं मन्त्रं जपेत् 'दिवा' अहनि चेत् 'धनम्'–इत्यन्तं जपेदित्येव ॥ ४ ॥ "कृत्वाग्न्य-भिमुखौ हस्तौ स्वस्थानस्थौ सुसंहितौ । प्रदक्षिणं तथासीनः कुर्यात् परिसमू-हनम्"–इति कर्मप्रदीपः । तिसृणा मृचां समाहारः तृचः तेन । एष च तृचः उ० आ० ४, १, ७, १–२–३ । "इमᳫं स्तोम मर्हते जातवेदसे रथमिव सम्महेमा मनीषया। भद्रा हि नः प्रमतिरस्य सᳫंसद्यग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव ॥२॥ भरामेध्म कृणवामा हवीᳫंषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम्। जीवातवे प्रतराᳫंसाधय धियोऽग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव ॥ ३ ॥ शकेम त्वा समिधᳫं साधया धियस्त्वे देवा हविरदयन्त्या हुतम्। त्वमादित्याᳫं आ-वह ताᳫंह्युश्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव" ॥४॥ (म०ब्रा० २,४, २–४) ५

भा०–अग्नि के पश्चिम भाग में, अपना दोनों हाथ, अपने सम्मुख वक्र-भाव से रक्खे "इदं भूमेर्भजामहे" यह मन्त्र जप करे। इसी को 'भूमिजप' कहते ॥३॥ रात्रि काल में इस मन्त्र के अन्त में 'वसु' इस पद का प्रयोग करे और दिन में, प्रयोग काल में उस के अन्त्यपद 'धनम्' पढ़े ॥ ४ ॥ "इमं स्तोम" प्रभृति तीन मन्त्रों से परिसमूहन करे (ये तीनों मन्त्र उ० आ० ४, १, ७, १–२–३, और मं०ब्रा० के २ । ४ । २–४ मन्त्र [illegible] ॥५॥

वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाङ्काम्येषु च प्रपदस्तपश्चतेजश्चेति६,७

नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वत्रैव 'होमानां' 'पुरस्तात्' वैरूपाक्षः' "विरूपा-क्षोऽसि दन्ताञ्जिस्तस्य ते शय्यापर्णे गृहा अन्तरिक्षे विमितᳫं हिरण्यं तद्देवानाᳫं हृदयान्ययस्मये कुम्भे अन्तः सन्निहितानि तानि बलभृच्च बल-साच्च रक्षतोऽप्रमनी अनिमिषतः सत्यं यत्ते द्वादश पुत्रास्ते त्वा सम्वत्सरे सम्वत्सरे कामप्रेण यज्ञेन याजयित्वा पुनर्ब्रह्मचर्यमुपयन्ति त्वं देवेषु ब्राह्मणो ऽस्यहं मनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मण मुपधावत्युप त्वा धावामि जपन्तं मामा प्रतिजापी र्जुह्वन्तं मामा प्रतिहौषीः कुर्वन्तं मामाप्रतिकार्षीस्त्वां प्रपद्ये त्वया प्रसूत इदं कर्म्म करिष्यामि तन्मे राध्यतां तन्मे समृध्यतां तन्म उपपद्यतां स मुद्रो मा विश्वव्यचा ब्रह्मानुजानातु तुथो मा विश्ववेदा ब्रह्मणः पुत्रोऽनुजानातु श्वात्रो मा प्रचेता मैत्रावरुणो ऽनुजानातु तस्मै विरूपाक्षाय दन्ताञ्जये समुद्राय

विश्वव्यचसे तुथाय विश्ववेदसे श्वात्राय प्रचेतसे सहस्राक्षाय ब्रह्मणः पुत्राय नमः" ॥६॥ (म० ब्रा० २, ४, ५)—इति मन्त्रः पठितव्यः। 'काम्येषु' कर्मसु 'प्रपदश्च' "तपश्च तेजश्च श्रद्धा च ह्रीश्च सत्यञ्चाक्रोधश्च त्यागश्च धृतिश्च धर्मश्च सत्वञ्च वाक्च मनश्चात्मा च ब्रह्म च तानि प्रपद्ये तानि मा मवन्तु भू र्भुवः स्वरोम्म-हान्त मात्मानं प्रपद्ये" ॥५॥ (म०ब्रा०२,४,५)—'इति'प्रपदमन्त्रोऽपि पठितव्यः॥६,७॥

भा०—नित्य, नैमित्तिक और काम्य, इन तीन प्रकार के कर्मों में जो कोई होम हो, होम के पहिले "विरूपाक्षोसि" यह मन्त्र पढ़े। सब काम्य कर्मों में "तपश्च" मन्त्र का भी पाठ करे ॥ ६ । ७ ॥

जपित्वा प्राणायाम मायम्यार्थमना वैरूपाक्ष मारभ्योच्छ्वसेत्८

काम्येषु प्रपदवैरूपाक्षयोरुभयोरेव जपो विहितः। तत्र प्रपदजपानन्तरं प्राणायामः कर्त्तव्यः। "पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायामः"—इति सन्ध्यासूत्रोक्त एवात्र ग्राह्यः। तत्र पूरककुम्भकयोः प्रपदमन्त्रार्थमननं कर्त्तव्यम्, रेचकारम्भत एव वैरूपाक्षमन्त्रं जपदिति। ८। अथ भोजननियमः।—

भा०—काम्य कर्मों में 'प्रपद' मन्त्र और 'वैरूपाक्ष' मन्त्र दोनों ही के पाठ करने की व्यवस्था है, उन में प्रपद मन्त्र पढ़ कर प्राणायाम आरम्भ करे एवं इस प्राणायाम काल में 'पूरक' और 'कुम्भक' प्रपद मन्त्र के अर्थ का विचार कर 'रेचक' प्राणायामानुसार वैरूपाक्ष मन्त्र जप करे ॥८॥

काम्येषु त्रिरात्राभोजनं त्रीणि वा भक्तानि। ९, १०।

'काम्येषु' कर्मसु कर्त्तव्येषु 'तिरात्राभोजनं' कर्मारम्भदिवसस्याव्यवहितेषु पूर्वेषु त्रिषु दिवसेषु त्रिषु भोजनं माध्याह्निकं नैशं च न कर्त्तव्यम्। 'वा' असमर्थश्चेत् तेषु दिवसेषु 'त्रीणि' एव 'भक्तानि' भोजनानि कर्त्तव्यानि तथा च तेषु दिवसेषु माध्यन्दिनं नैशं वा एकैकमेव भोक्तव्यम्; न तु यथानियमं वारद्वयम् ॥९,१०॥

भा०—काम्य कर्म करने के पूर्व दिन, तीन मध्यान्ह और दो रात्रि का भोजन छोड़ देवे, यदि एक साथ दोनों भोजन न छोड़ सके तो कम से कम, एक भोजन छोड़ देवे। अर्थात् दिनरात में केवल एक वार भोजन करे ॥९।१०॥

नित्यप्रयुक्तानान्तु प्रथमप्रयोगेषु। ११। उपोष्य तु यजनीयप्रयोगेषु ॥ १२ ॥

कञ्चित् काम मभिलक्ष्य यत् कर्म द्विवार मनेकवारं वा क्रियते, तदेव नित्यप्रयुक्त मित्युच्यते; तादृशानान्तु कर्मणां 'प्रथमप्रयोगेषु' एव पूर्वोक्तो भोजननियमः कर्त्तव्यः, न तु द्वितीयादिषु ॥ ११ ॥ यानि कर्माणि बहुदिनं

यावत् प्रतिदिनं यजनीयतया प्रयुज्यन्ते; तादृशेषु 'यजनीयप्रयोगेषु तु' 'उपोष्य' प्रातराशादिक मल्पाहार मेव कृत्वा तत्तद्यजनं विधेयम् ॥ १२ ॥

भा०—जो कर्म, किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक वार करना पड़े, ऐसे कार्य में एक ही वार, प्रथम वार, पूर्वोक्त पहिला तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन व्यवस्था अर्थात् प्रतिवार कार्य आरम्भ के पूर्व तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन न करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो सब कर्म कई एक दिन वा बहुत समय में समाप्त हो, ऐसे सब कर्मों में प्रतिदिन प्रातराशादि थोड़ा * खा कर प्रवृत्त हो ॥ १२ ॥

उपरिष्टाद् दैक्षꣳसान्निपातिकम् ॥ १३ ॥

'सान्निपातिकं' नैमित्तिकं कर्म, 'उपरिष्टाद्दैक्षं' निमित्त घटनात् पर मेव तस्य दीक्षा इति वेदितव्य मिति भोजननियमः ॥१३॥ अथ ब्रह्मवर्चसकामकर्म—

भा०—निमित्त घटना के पीछे नैमित्तिक कर्म्म समूह की दीक्षा कर्त्तव्य है, वही वैसे कार्यों के लिये निर्दिष्ट काल है, उस के पूर्व अभोजन, (नहीं खाना) या एक भोजन, या 'उपवास, यथासम्भव व्यवस्थित होंगे ॥ १३ ॥

अरण्ये प्रपदं प्रयुञ्जीत दर्भेष्वासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्मवर्चसकामः । १४ । उदक्कूलेषु पुत्रपशुकामः ॥ १५ ॥

यः कश्चन 'ब्रह्मवर्चसकामः' स्यात् स एव 'अरण्ये' गत्वा 'प्राक्कूलेषु' दर्भेषु 'आसीनः' सन् 'प्रपदं' (तपश्च पृ० १८९)—इति मन्त्रं 'प्रयुञ्जीत'। १४। यः कश्चन पुत्रकामः पशुकामो वा स्यात्, स खलु अरण्ये गत्वा 'उदक्कूलेषु दर्भेषु आसीनः त मेव प्रपदमन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥ १५ ॥ अथ ब्रह्मवर्चस—पुत्रपशुकामकर्म ।

भा०—जो कोई 'ब्रह्मवर्चस' की इच्छा करे, वह वन में जा कर पूर्वाग्र रक्खे हुए कुश पर बैठ कर 'प्रपद' मन्त्र द्वारा पठित मन्त्रों से साधना करे ॥ ॥१४॥ और जो कोई पुत्र, या पशु की इच्छा करे, वह वन में जा कर उत्तराग्र कुश पर बैठ कर इस "प्रपद" मन्त्र से साधना करे ॥ १५ ॥

उभयेषूभयकामः । १६ । पशुस्वस्त्ययनकामो व्रीहियवहोमं प्रयुञ्जीत सहस्रबाहुर्गौपत्य इति ॥ १७ ॥

'उभयकामः' प्रथमसूत्रोपात्तं ब्रह्मवर्चसं द्वितीयसूत्रोपात्तं पुत्रं पशुं च यः कामयेत, स खलु अरण्ये गत्वा युगपत् 'उभयेषु' प्राक्कूलेषु, तदुपरि पातितेषु

* प्राचीन समय में 'प्रातराश, आदि थोडे खाने को 'उपवास, कहते थे, इदानीं 'उपवास, शब्द से एक मात्र भोजन नहीं करना समझा जाता, जो उस समय 'अभोजन, शब्द से व्यवहृत होता था ॥

उदक्कूलेषु च दर्भेषु आसीनः, त मेव प्रपदं नाम मन्त्रं प्रयुञ्जीत ।१६। पशूनां गृहपालितानां गवादीनां स्वस्त्ययनं कामयेत चेत् "सहस्रबाहु गौपत्यः स पशूनभिरक्षतु । मयि पुष्टिं पुष्टिपति र्दधातु मयि प्रजां प्रजापतिः" (स्वाहा) ॥ ७५ ॥ (म० ब्रा २, ४, ७)–'इति' मन्त्रेण 'व्रीहियवहोमं' व्रीहिणा यवेन च आहुतिमग्नौ 'प्रयुञ्जीत' ॥ १७ ॥

भा०–प्रथम सूत्रोक्त 'ब्रह्मवर्चस' एवं द्वितीय सूत्रोक्त पुत्र और पशु, इन दो की जो कामना करे, वह बन में जा कर, पूर्वाग्रकुश बिछा कर उस पर उत्तराग्र कुश रक्ख, उस पर बैठ 'प्रपद्' मन्त्र से साधना करे ॥ १६ ॥ जो पालतू गौ भेड़आदि की भलाई चाहे, वह "सहस्र बाहुः" मन्त्र से धान्य और यव का होम करे ॥ १७ ॥

कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेद्यस्यात्मनि प्रसाद मिच्छेत्तस्मा एकभूयाꣳस्यात्मनायुग्मानि कुर्यात् ॥ १८, १९ ॥ वृक्ष इवेति पञ्चर्चः ॥ २० ॥

अथ प्रसादकामकर्म ।–'यस्य' कस्य चिज्जनस्य पुरुषस्य स्त्रिया वा 'प्रसादम्' प्रसन्नताम् 'इच्छेत्', 'तस्मै' "कौतोमतꣳ संवननꣳ सुभागं करणं मम नाकुली नाम ते माताथाहं पुरुषानयः । यन्नौ कामस्य विच्छिन्नं तन्नौ सन्धेह्योषधे" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ४, ८) महावृक्षफलानि गुवाकानि आम्राणि वा 'परिजप्य' 'प्रयच्छेत्' । तानि च फलानि 'एकभूयांसि' एकस्मिन्नेव गुच्छे बहूनि विद्यन्ते चेत्, तर्हि दानात् पूर्वमेव 'आत्मनः' आत्मना स्वयमेव 'अयुग्मानि' विच्छिन्नानि 'कुर्यात्' ॥१८, १९॥ अथ पार्थिवं कर्म ।—(म० ब्रा० २, ४, ९–१३) अधिकृतो वेदितव्यः ॥ २० ॥

भा०–जिस किसी व्यक्ति की प्रसन्नता लाभ करने की इच्छा हो, तो उस व्यक्ति को "कौतोम" मन्त्र से पठित कई एक * महावृक्षफल प्रदान करे, इन फलों को गुच्छा से स्वयं एक २ कर तोड़ लेवे ॥ १८, १९ ॥ "वृक्ष इव" इत्यादि पांच मन्त्र हैं, उन का व्यवहार, यथाक्रम से कहा जाता है ॥ २० ॥

तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म ॥ २१ ॥ अर्द्धमास मभुक्त्वाऽशक्तौ वा पेया मन्यतरं कालम् ॥ २२, २३ ॥

'तस्मिन्' अधिकृते पञ्चर्चे, तेनैव पञ्चर्चेन समुदितेन 'प्रथमम्' एकं 'कर्म'

* इस से महावृक्ष फल शब्द से यहां 'आम' और गुवाक (सुपारी) इत्यादि जानना ॥

'पार्थिवं' क्षेत्राद्यर्थं कुर्वीतेति । २१। तच्च पार्थिवं कर्म 'अर्द्धमास मभुक्त्वा' एव कार्यम् । अभोजनेऽसमर्थश्चेत् 'अन्यतरं कालं' दिवा रात्रौ वा एकवार मेव 'पेयां' मण्ड–दुग्धादिकं पिबेदिति ॥ २२, २३ ॥

भा०–उन्हीं पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म अर्थात् खेत आदि की उर्व्वरता (खेत को ऐसा करे कि जिस से उस में सब प्रकार के शस्य अच्छेप्रकार उत्पन्न हों) आदि सिद्धि के लिये एक क्रियाका अनुष्ठान किया जाता है ॥ २१ ॥ यह पार्थिव कर्म, अर्द्धमास पर्यन्त अभोजन रह कर करे, यदि विना खाये न रहा जावे, तो एक समय केवल पेय (दुग्ध, आदि) पानकरे २२,२३

यत्रात्मानं परिपश्येत् ॥२४॥ एतद्व्रत मर्द्धमासव्रतेषु ॥२५॥

'यत्र' पेयायाम् 'आत्मानं' आत्मच्छायां दर्पणादाविव 'परिपश्येत्' तादृशीमेव तरलां पेयां पिबेदिति ॥२४॥ 'एतत्' पार्थिवं कर्म 'व्रतम्' उच्यते, तच्च 'अर्द्धमासव्रतेषु' गण्यते। तथाच शुक्लप्रतिपद्यस्यारम्भः पौर्णमास्यां च समाप्तिः सिद्धा२५

भा०–जिस 'पेय' वस्तु में अपना मुंह दीख पड़े, इसप्रकार तरलवस्तु पीवे ॥ २४ ॥ यह पार्थिवकर्म एक व्रत विशेष है, यह अर्द्धमास व्रतों में गणनीय है। इस से यह व्रत शुक्ल पक्ष की परिवा से आरम्भ कर पूर्णिमाको पूराकरे२५

पौर्णमास्याᳬरात्रावविदासिनि ह्रदे नाभिमात्र मवगाह्याक्षततण्डुलानृगन्तेष्वास्येन जुहुयात् स्वाहेत्युदके ॥२६॥

'पौर्णमास्यां रात्रौ' 'अवदासिनि' ह्रदे' निदाघेऽपि यस्य विदासः शोषो न, तादृशे जलाशये 'नाभिमात्र मवगाह्य' 'अक्षततण्डुलान्' आस्ये कृत्वा तेनैव 'आस्येन' अधिकृतानां पञ्चानामेकैकेनर्चा ' उदके ' तत्रैव 'जुहुयात्'; 'ऋगन्तेषु' तासां पञ्चाना मृचा मन्तेष च 'स्वाहा–इति' ब्रूयादिति पार्थिवं कर्म ॥ २६ ॥ अथ भोगादिकामकर्माणि ।—

भा०–पूर्णिमा की रात में अविदासी जलाशय में (जिस का जल ग्रीष्म ऋतु में भी न सूखे) नाभि मात्र जलमें पैठ, स्नान कर, मुंहमें अक्षत तण्डुल ले कर उन्हीं पांच मन्त्रों से, उसी जल में एक २ कर पांच आहुति देवे एवं इन पांच मन्त्रों में से,प्रत्येक के अन्त में "स्वाहा" शब्द का भी प्रयोग करता जावे२६

अथापरम् ॥२७॥ प्रथमयाऽऽदित्य मुपतिष्ठेत भोगकामोऽर्थपतिचक्षुर्विषये सिद्धत्यर्थः ॥२८॥

पञ्चाना मधिकृताना मृचां समुदितानां व्यवहारेण प्रथमं कर्म पार्थिवं नाम उक्तम्; 'अथ' अनन्तरम् , तासामेवर्चां मसमुदितानां व्यवहारेण ' अपरम् '

द्वितीयं कर्म आदित्योपस्थानादिकं वक्ष्यते इति ॥ २७ ॥ 'भोगकामः' पुरुषः, 'प्रथमया' "वृक्ष इव पक्वस्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुवस्पते । यस्त्वेवं वेद तस्मै मे भोगान् धुक्ष्वाक्षतान् बृहन्" ॥९॥ (म० ब्रा० २, ४, ९)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपतिष्ठेत' । क्कोपतिष्ठेत ? इत्याह,-'अर्थपतिचक्षुर्विषये' यतोऽर्थपतेः अर्थं कामयते, तस्यैव चक्षुर्गोचरे प्रदेशे । तथाच 'अर्थः' प्रयोजनं 'सिद्ध्यति' ॥२८॥

भा०ः-उक्त पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म कहा गया है, अब उन्हीं पांच में से प्रत्येक के व्यवहार में एक २ अपर कर्म कहा जाता है ॥२७॥ जिस किसी को भोग की इच्छा हो, वह "वृक्ष इव" मन्त्र से सूर्योपस्थान करे। जिस स्थान में उस प्रयोजन के होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थल में यह अनुष्ठान किया जावे, ऐसा ही करने पर वह प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

द्वितीयया ऽऽदित्ये परिविष्यमाणेऽक्षततण्डुलान् जुहुयाद् बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः ॥२९॥

पत्रं वाहनम्, बृहत्पत्रं हस्त्यश्वादि, 'बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः' पुरुषः, 'द्वितीयया' " ऋतं सत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह । आकाश उपनिरज्जतु मह्यामन्न मथोश्रियम्" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ४,१०)-इत्यनयर्चा 'आदित्ये परिविष्यमाणे' ' अक्षत तण्डुलान् ' 'जुहुयात् । "वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभा व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु सः स्मृतः" ॥-इति ।

भा०ः-हाथी आदि बड़े वाहन के कल्याणार्थ "ऋतं सत्ये" इस द्वितीय मन्त्र से अक्षत तण्डुल हवन करे । जिस समय सूर्य मण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह क्रिया जावे ॥ २९ ॥

तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्रपशुस्वस्त्ययन कामः ॥३०॥ चतुर्थ्यादित्य मुपस्थायार्थान् प्रपद्येत स्वस्त्यर्थवानागच्छति ॥३१॥

क्षुद्रपशवो गोमेषादयः, ततस्वस्त्ययनकामः पुरुषः, तृतीयया " अभिभागोऽसि सर्वस्मिꣳ स्तदु सर्वं त्वयिश्रितम् । तेन सर्वेण सर्वो मा विवासन विवासय" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ४, ११)-इत्यनयर्चा 'चन्द्रमसि' परिविष्यमाणे एव काल 'तिल तण्डुलान्' जुहुयादित्येव ॥३०॥ 'चतुर्थ्या' "कोश इव पूर्णो वसुना त्वं प्रीतो ददसे। अदृष्टोदृष्ट माभर सर्वान् कामान् प्रयच्छ मे" ॥१२॥ (मा०ब्रा० २, ४, १२)-इत्यनयर्चा ' आदित्य मुपस्थाय ' ' अर्थान् ' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः 'स्वस्त्यर्थवान्' सन् 'आगच्छति' गृहानिति ॥३१॥

भा०:—गौ, भेड़ आदि छोटे २ पशुओं के कल्याण चाहने वाले "अभिभगोऽसि" इस तृतीय मन्त्र से कई एक तिल तण्डुल होम करे, जिस समय चन्द्रमण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह कर्म्म किया जावे ॥ ३० ॥ "कोश इव" इस मन्त्र से सूर्य्योपस्थान कर प्रयोजन को लक्ष्य कर, यात्रा करने से प्रयोजन सिद्ध कर निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३१ ॥

पञ्चम्यादित्य मुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्ति गृहानागच्छति स्वस्तिगृहानागच्छति । ३२ ॥ ५ ॥

'पञ्चम्या' "आकाशस्यैष आकाशे यदेतद् भाति मण्डलम् । एवं त्वा वेद यो वेद वेदेशानेशान् प्रयच्छ मे" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १३)—इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपस्थाय' 'गृहान्' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः प्रवासात् प्रतिचलितः 'स्वस्ति' यथा स्यात्तथा 'आगच्छति' प्रत्यायाति । द्विर्वचनं खण्डसमाप्तिद्योतनार्थम् । ३२ ॥ ५ ॥

इतिसामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठकेपञ्चमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥४।५

भा०:—"आकाशस्यैष" इस पञ्चम मन्त्र से सूर्य्योपस्थान कर अपने घर को लक्ष्य कर प्रति यात्रा में करने से निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३२ । ५ ॥ गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ अध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥५॥

—○:—*—:○—

भूरित्यनकाममारं नित्यं प्रयुञ्जीत न पापरोगान्नाभिचाराद्भयम् ॥ १ ॥

भूर्भुवः स्वरोम्, सूर्य इव दृशे भूयास मग्निरिव तेजसा वायुरिव प्राणेन सोम इव गन्धेन बृहस्पतिरिव बुद्धयाऽश्विनाविव रूपेणेन्द्राग्नी इव बलेन ब्रह्मभाग एवाहं भूयासं पाप्माभागा मे द्विषन्तः" ॥१४॥(म०ब्रा०२,४,१४) 'इति' अनकाममारं; इच्छामरणसाधनं मन्त्रं 'नित्यं' सतत मेव, प्रतिदिनं वा'प्रयुञ्जीत' ।तेन'न''पापरोगात्'कुष्ठादितः,'न' च 'अभिचारात्, शत्रुकृतात्'भयम्' स्यात् १

भा०:—जो लोग विना कष्ट उचित समय (अपनी पूरी आयु में) मृत्यु की इच्छा करें । अर्थात् दुःख के साथ अकाल मृत्यु न हो, वे "भूः" इस मन्त्र को सतत जप करें; इस मन्त्र के प्रभाव से शत्रुकृत मारण आदि से भय नहीं रहता एवं कुष्ठादि पाप रोग से भी भय नहीं होता ॥ १ ॥

अलक्ष्मीनिर्णोदो यजनीयप्रयोगो मूर्ध्नोऽधिम इत्येकैकया॥२॥

मूर्ध्नोऽधि मे वैश्रवणाच्छिरसोऽनुप्रवेशिनः । ललाटाद् घस्वरान् घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ १ ॥ ग्रीवाभ्यो मे स्कन्धाभ्यां मे नस्तो मे ऽनुप्रवेशिनः । मुखान्मे वद्वदान् घोरान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ २ ॥ बाहुभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तुतानधि । उरस्तो वद्वदान् घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ३॥ वङ्क्षणाभ्यां मे लोहितादान् योनिहान् पञ्जिह्वानधि । ऊरुभ्यो निम्रिलषो घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ जङ्घाभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तु तानधि । पादयो र्विकारान् विवृहामि वः (स्वाहा ॥ ५ ॥ परिबाधं यजामहेऽणु जङ्घथं शबलोदरम् । योनोऽयं परिबाधते दानाय च भगाय च (स्वाहा) ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १-८) 'इति' अष्टर्चस्य सूक्तस्य 'एकैकया' ऋचा एकैका आहुतिर्होतव्या । अय मेव पूर्वोक्तो यजनीयप्रयोगः'—इत्युच्यते । एतस्यहि कर्मणः प्रभावात् 'अलक्ष्मीनिर्णोदः' दारिद्र्यनाशः भवेदिति ॥ २ ॥

भा०—"मूर्ध्नोधि मे" इत्यादि मन्त्रों से एक २ आहुति प्रदान करे । यहयजनीय प्रयोग में गणनीय है । इस क्रिया के फल से दरिद्रता दूर होती है ॥२॥

या तिरश्चीति सप्तमी वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः प्रजापत इत्युत्तमया ॥३–६॥

इह यजनीयप्रयोगे या 'सप्तमी' आहुतिः, सा मन्त्रपाठक्रमात् "अपेहि त्वं परिबाध मा विबाध विबाधयाः । सुग पन्थानं मे कुरु येन मा धन मेष्यति" (स्वाहा) ॥७॥ (म० ब्रा० २, ५, ७)—इत्यनया प्राप्ता' परं न तथाभीष्टा; अपि तस्याः स्थाने "या तिरश्ची (?)"—इत्येषा प्रयोक्तव्या । किञ्च; ततो 'वामदेव्यर्चः (उ० आ० १, १, १२, १)'—'महाव्याहृतयः', च जप्तव्याः, ततः "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्त न्नो अस्तु वयᳬस्याम पतयो रयीणाᳬ" (स्वाहा) ॥८॥ (म० ब्रा० २, ५, ८) इत्यनया अष्टम्या ऋचा अष्टमी आहुतिर्होतव्येति ॥३–६॥ अथ यशस्कामकर्म ।

भा०—इस यजनीय प्रयोग में जो आठ आहुति होगी, उनमें सप्तम मन्त्र से सप्तम आहुति न दे कर "या तिरश्ची" इस मन्त्र से सप्तम आहुति होगी एवं उस के पश्चात् 'वामदेव्य' (उ० आ० १, १, १२, १) इन तीन मन्त्र से और उस के पश्चात् महाव्याहृति आदि का पाठ करे इस के पश्चात् "प्रजापते" इस आठवें मन्त्र से आठ आहुति देनी चाहिये ॥ ३–६ ॥

यशोऽहं भवामीति यशस्काम आदित्य मुपतिष्ठेत पू-

र्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णेषु प्रातरह्णस्येति सन्नामयन् ॥७॥

'यशस्कामः' पुरुषः, "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम्। यशः सत्यस्य भवामि भवामि यशसां यशः ॥ ९ ॥ पुनर्मा यन्तु देवता या मदपचक्रमुः। महस्वन्तो महान्तो भवाम्यस्मिन् पात्रे हरिते सोमपृष्ठे ॥१०॥ रूपं रूपं मे दिशः प्रातरन्हस्य तेजसः। अन्नमुग्रस्य प्राशिष मस्तु मयि। मयि त्वयीदमस्तु त्वयि मयीदम् ॥११॥ यदिदं पश्यामि चक्षुषा त्वया दत्तं प्रभासया तेन मा भुङ्क्ष्व तेन भुक्षिषीय तेन मा विश ॥ १२ ॥ अहर्नो अत्यपीपरद्रात्रिर्नो अतिपारयत्। रात्रिर्नो अत्यपीपरदहर्नो अतिपारयत्" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ५, ९-१३)–'इति' पञ्चर्चं सूक्तं पठन्, तत्र च तृतीये मन्त्रे पठितं 'प्रातरह्णस्येति' पदं 'सन्नामयन्' यथाकालं मध्यन्दिनस्येति अपराह्णस्येति च परिवर्त्तयन्, पूर्वाह्णपराह्णेषु' त्रिष्वेव कालेषु 'आदित्यमुपतिष्ठेत' ॥ ७॥ अथ स्वस्त्ययनकामकर्म—

भा०–जिन्हें यश की कामना हो, वे "यशोऽहं" इन पांच मन्त्रों से प्रातः मध्याह्न, और सायं तीन समय सूर्योपस्थान करें 'प्रातरह्नस्य' यह पाठ यथा काल परिवर्त्तन करें। अर्थात् मध्याह्न कालमें उस के स्थान में "माध्यन्दिनस्य" और सायं समय 'अपराह्नस्य' ऐसा कहें ॥ ७ ॥

सन्धिवेलयोरुपस्थानꣳस्वस्त्ययन मादित्यनाव मिति ॥८ ॥

'सन्धिवेलयोः' उभयोरेव " आदित्यनाव मारोक्षं पूर्णामपरिपारिनीम्। अच्छिद्रां पारयिष्णीꣳ शतारित्राꣳस्वस्तये ॥ (ओंनम आदित्याय नम आदित्याय नम आदित्याय) ॥१४। (म०ब्रा० २, ५,१४)–'इति' मन्त्रं पठन् 'उपस्थानं' कर्त्तव्यम् तथाच 'स्वस्त्ययनं' सिध्येत् ॥८॥

भा०:—प्रातः और सायं दोनों सन्धि वेला में "आदित्यनावं"–मन्त्र से उपस्थान करे, इस से स्वस्त्ययन (कल्याण) होगा ॥ ८ ॥

उद्यन्तं त्वादित्यानूदियांस मिति पूर्वाह्णे प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठास मित्यपराह्णे ॥ ९, १० ॥ आचितशतकामोऽर्द्धमासव्रतः ॥ ११ ॥

तत्र, पूर्वाह्णे' उद्यन्तन्त्वादित्यानूदियासम् ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १५) 'इति' यजुश्च प्रयोक्तव्यम्। 'अपराह्णे' च "प्रतितिष्ठिन्तं त्वादित्यानु प्रतितिष्ठासमु ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २५,१६)"–'इति' च यजुः प्रयोक्तव्यमेव ॥९, १०॥ अथ आचितशतकामकर्म। 'आचितशतकामः' पुरुषः, 'अर्द्धमासव्रतः' स्यात् ॥ ११ ॥

भा०:—इस उपस्थान काल में विशेषतः प्रातः सन्धि काल में "उद्यन्तं" मन्त्र भी एवं सायं सन्धि काल में "प्रतिष्ठन्तं" मन्त्र भी व्यवहृत होंगे ।९, १०। जो कोई १०० आचित (२५ मन, वा एक गाड़ी बोझ) की कामना करे, वह अर्द्धमास-व्रत का अनुष्ठान करे ॥ ११ ॥

तामिस्रादौ व्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा तस्य कणानपरासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्नि मुपसमाधायादित्य मभिमुखो जुहुयाद्भलाय स्वाहा भल्लाय स्वाहेति ॥ १२ ॥ एतयैवावृतापरौ तामिस्रौ ॥ १३ ॥

'तामिस्रादौ' कृष्णप्रतिपदि सन्धिवेलायां 'व्रीहिकांसौदनं' पक्त्वा, तेन च 'ब्राह्मणान् भोजयित्वा' 'अपरासु' द्वितीयादिषु 'सन्धिवेलासु' 'तस्य' व्रीहिकांसस्य 'कणान्' "भलाय स्वाहा ॥१७॥ भल्लाय स्वाहा ॥१८॥ (म०ब्रा०२,४, १७,१८) इति मन्त्रद्वयेन जुहुयात् । कुत्र प्रदेशे ? 'प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे 'अग्नि-मुपसमाधाय, आदित्य मभिमुखः' सन् ॥ १२ ॥ 'एतया एव आवृता' पूर्वोक्तया एव रीत्या 'अपरौ' द्वौ 'तामिस्रौ' कृष्णपक्षौ व्यवहर्त्तव्यौ । तदेवं त्रिभिः कृष्ण-पक्षैः एषोऽर्द्धमासव्रतः सम्पाद्य इति ॥ १३ ॥

भा०:—कृष्ण पक्ष की परिवा तिथि को सन्धि वेला समय, कांस परिमित तण्डुल पाक करके, उसे कई एक ब्राह्मणों को भोजन करावे । इस के अनन्तर अमावास्या पर्यन्त प्रति सन्धिवेला में गांव के बाहर पश्चिम ओर चौराहे पर अग्नि जला कर उस में 'भलाय' और 'भल्लाय' इन दोनों मन्त्रों से, सूर्य के सम्मुख हो कर इस तण्डुल के कण आदि से होम करे ॥१२॥ इसी पूर्वोक्त रीति से और भी दो कृष्ण पक्ष में अनुष्ठान् करे । इस से तीन कृष्णपक्ष में यह अर्द्धमास व्रत सम्पन्न होगा ॥ १२, १३ ॥

तामिस्रान्तरेषुब्रह्मचारीस्यादासमापनादासमापनात् ॥१४॥

'तामिस्रान्तरेषु' कृष्णपक्षमध्येऽत्रहोरात्रेषु व्रती पुरुषः 'आसमापनात्' व्रत-समाप्तिं यावत् 'ब्रह्मचारीस्यात्' ॥ १४ ॥ ६ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठकेषष्ठखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥४।६॥

भा०:—जिस तीन कृष्णपक्ष में यह "अर्द्धमास व्रत" अनुष्ठान किया जावे, उस में व्रत की समाप्ति पर्यन्त व्रती को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये ॥ १४।६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ।४।६॥

अवसानं जोषयेत ॥ १ ॥ समं लोमश मविभ्रंसि प्राच्य उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्त्तेरन्नक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका यत्रौषधयः स्युः ॥ २ ॥

'अवसानं' विरामलक्षणं अन्यवास्तुभिरवेष्टितं वक्ष्यमाणलक्षणं भूखण्डं 'जोषयेत' सेवेत वासायेति ॥ १ ॥ तच्च अवसानं 'समं' समतलं स्यात् । तच्च 'लोमशं' घासविशिष्टं स्यात् । तच्च 'अविभ्रंसि' विभ्रंशोऽधः पतनं न यत्र सम्भाव्यते तादृशं स्यात् । 'यत्र' 'प्राच्यः उदीच्यः वा' 'आपः' नद्यादिकाः 'प्रवर्त्तेरन्' विद्येरन् । 'यत्र' च समीपे एव 'अक्षीरिण्यः' 'अकण्टकाः' 'ओषधयः' 'स्युः' ॥ २ ॥

भा०:—अन्यान्य मकान से यथा सम्भव दूर पर, अपने रहने का मकान बनाने के लिये उपयोगी प्रशस्त (अच्छी) भूमि लेवे ॥ १ ॥ उक्त वास भूमि समतल होवे, घासों से छिपी रहे, तालाब आदि से हठात् गिर जाने का भय न हो, ऐसे स्थान के निकट पूर्व, या उत्तर दिशा में बृहत् जलाशय हो, एवं जिस स्थान के समीप में क्षीरी, कण्टकी, और कटु औषधि वृक्ष न हों, ऐसा स्थान वास के लिये पसन्द करे ॥ १, २ ॥

गौरपाꣳसु ब्राह्मणस्य लोहितपाꣳशु क्षत्रियस्य कृष्णपाꣳसु वैश्यस्य । ३।४।५। स्थिराघात मेकवर्ण मशुष्क मनूषर ममरुपरिहित मक्लिनम् ॥ ६ ॥

पांसवो रेणवः । एवं पांसुपरीक्षां प्रकृत्य तत्र तत्र ब्राह्मणादयो वास्तुनिर्माणं कारयेयुरिति भावः । ३—५ । 'स्थिराघातं' स्वल्पाघातेनैव यन्नावटीभवेत् तत् । 'एकवर्णं' क्वचिद्गौर मेवं बहुवर्णत्वं न दृश्यते यत्र, तादृशम् । 'अशुष्कं' यत्रोत्पद्यमाना ओषधयो न शुष्काः स्युः, तथाविधम् । 'अनूषरं' यत्रोप्तं बीजं प्ररोहेदेव, तादृशम् । 'अमरुपरिहितम्' मरुभूमिभिः अवेष्टितम् । 'अक्लिन्नम्' क्लिन्नं सजलम्, तद्विपरीतम् । एवम् अवसानं जोषयेते—त्येव ॥ ६ ॥

भा०:—जिस स्थानकी धूलि का रंग गौर, ब्राह्मण लोग अपने लिये ऐसीही वास भूमि स्वीकार करें; क्षत्रिय लोगों के लिये लाल रंगकी धूली वाली वास भूमि उपयुक्त एवं वैश्यगण काली मट्टी वाली वास भूमि बनावें । ॥३—५॥ जिस स्थान में थोड़े चोट वा आघात से भूमि धस न पड़े, जिस स्थान की धूलि अनेक रंग की न दीख पड़े, जिस स्थान में किसी फूल के पेड़ रोपने से वह सूख जावे, जिस स्थान में शस्य आदि के उपजने की शक्ति भी हो, जिस के प्रायः चारो ओर मरु भूमि न हों, एवं जिस स्थान में जल न हों,—ऐसी भूमि वासार्थ लेवे ॥६॥

दर्भसम्मितं ब्रह्मवर्चसकामस्य बृहत्तृणैर्बलकामस्य मृदुतृणैः पशुकामस्य । ७-९ ॥

'ब्रह्मवर्चसकामस्य' ब्राह्मणस्य 'दर्भसम्मितं' कुशाबहुलं स्थानं स्यात तथाच दैवं पित्र्यं वा कर्म कर्त्तुं कुशाहरणाय क्लेशो न भवेत् । 'बलकामस्य' क्षत्रियस्य 'बृहत्तृणैः' आकीर्णं स्थान मुचितम्, तथाचाश्वादीनां भोजनं सुलभं स्यात् । 'पशुकामस्य' वैश्यस्य मृदुतृणैः परिव्याप्तं स्थानं वासयोग्यम्, तथाच पशुचारणं सुकरं भवेदिति ॥ ७-९ ॥

भा०—जिस स्थान में समधिक कुश जम्मता हो, ऐसा स्थान ब्राह्मण के लिये वासोपयोगी है, जिस स्थान में घोड़ा आदि के खाने योग्य बड़ी घास आदि बहुत पाई जावे, ऐसी भूमि क्षत्रियों के रहने योग्य है । और जिस स्थान में कोमल घास हों, चारण (चराने के लिये) भूमि के लिये चिन्ता न करनी पड़े, ऐसी भूमि वैश्यके लिये उपयुक्त है ॥ ७-९ ॥

शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा यत्र वा श्वभ्राः स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखाः स्युः । १० । अनुद्वारञ्च ॥ ११ ॥

शादा इष्टका उच्यते, तत्सम्मितम्' चतुष्कोण मित्यर्थः । मण्डलं वर्त्तुल मुच्यते, मध्योन्नतं क्रमादभितो निम्नं यत्र, तद्द्वीप मुच्यते । तथाच द्वीपमिव मध्योच्चं वर्त्तुल मपि स्थानं न दोषावहम् । अपि 'वा' 'यत्र' स्थाने 'स्वयं खाताः' अकृत्रिमाः 'सर्वतोऽभिमुखाः' 'श्वभ्राः' गर्त्ताः 'स्युः' तत् अचतुरस्त्र म- द्वीपवर्त्तुल मपि वासार्ह मिति । १० । 'अनुद्वारञ्च' गृहे मनुष्यादिप्रवेशाय वा- युप्रवेशाय वा यावन्ति द्वाराणि स्युः, तेषां सर्वेषा मेव समसूत्रपातानुकृतानि द्वा- राणि यत्र, तादृशं गृहं कुर्वीतेत्येव । नात्र नेत्यनुवर्त्तते अप्रसक्तस्य निषेधाप्रवृत्तेः ११

भा०—रहने के मकान का स्थान चतुष्कोण हो; गोल होनेसे भी हानि नहीं; किन्तु उसका मध्यभाग क्रम से ऊंचा हो । यदि ऐसा स्थान भी दुर्लभ हो, तो त्रिकोण, बहुकोण, असमकोण, प्रभृति स्थान भी मकान के लिये स्वीकार करे, परन्तु यदि ऐसे स्थानके चारो ओर अकृत्रिम कोई गड़हा हो ॥१०॥ घरमें चाहे मनुष्य आदि के प्रवेश के लिये जितने दरवाजे हों, उन दरवाजे आदि के समसूत्रपात से, उस के समान अन्य द्वार भी रहना चाहिये ॥ ११ ॥

तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीतोदग्द्वारं पुत्रपशुकामो दक्षिणाद्वारꣳसर्वकामो न प्रत्यग्द्वारं

कुर्वीत । १२ । गृहद्वारं यथा न संलोकि स्यात् ॥ १३ ॥

'तत्र' तादृशे स्थाने 'यशस्कामः' 'बलकामः' पुरुषः 'प्रागद्वारम्' 'अवसानं' वासगृहं 'कुर्वीत'। पुत्रकामः पशुकामश्च पुरुषः 'उदग्द्वारम्' अवसानं कुर्वीत 'सर्वकामः' पुरुषः 'दक्षिणाद्वारम्' अवसानं कुर्वीत। 'प्रत्यगद्वारं पश्चिमद्वार मवसानं न कोऽपि कुर्वीतेति । १२ । तथा कुर्वीतेति ॥ १३ ॥

भा०—ऐसे स्थान में रहने का घर बनावे । उन में से जो विशेषतः यश और बल की इच्छा करे, वे मकान का दरवाजा पूर्वमुख रक्खें । जो विशेषतः पुत्र और पशु की इच्छा करें, वे उत्तरमुख (रुख) दरवाजा बनवावें; जिन्हें कोई विशेष कामना न हो, किन्तु सब ही प्रकार की कामना हो, वे दक्षिणमुख मकान करें, परन्तु पश्चिममुख मकान का दरवाजा कभी न करे ॥ १२ ॥ मकान के भीतर के घर के द्वार आदि इसप्रकार रहैं, जिस में घर के भीतर के मनुष्य आदि बाहरी दरवाजे से न दीख पड़ें ॥ १३ ॥

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोधमपराद्द देशादुत्तराच्चाप्युदुम्बरम् ॥ अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद्द ब्रूयात प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसम्पीडा मक्ष्यामय मुदुम्बरात् ॥ आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षोयमदेवतः । न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः ॥ १४ ॥

अश्वत्थः—चलदलः, स च आदित्यदेवतः, तं पूर्वतः स्वावासस्य, वर्जयेत ; पूर्वतः स्थितात् अश्वत्थात् अग्निभयं विद्यात् । प्लक्षः=पर्कटी, स च यमदेवतः, तं, दक्षिणतः स्वावासस्य वर्जयेत् ; दक्षिणतः स्थितात् प्रमायुकान् ह्रसितायुष्कान् अल्पायुषः स्युस्तत्र वासिन इति ब्रूयात् । न्यग्रोधः=वटः, स च वृक्षः 'वारुणः' वरुणदेवतः, तम् अपराद्देशात् पश्चिमात् प्रदेशात् स्वावासस्य, वर्जयेत; पश्चिमस्थितात् न्यग्रोधात् शस्त्रसम्पीडा भवेत् । उदुम्बरः—यज्ञवृक्षः, स च प्राजापत्यः प्रजापतिदेवतः, तम् उत्तरात् स्वावासस्य वर्जयेत, उत्तरस्थितात् उदुम्बरात् अक्ष्यामय मक्षिरोगो भवेदेवेति ॥ १४ ॥

भा०—पीपल के पेड़ की देवता सूर्य, मकान के पूर्वदिशा में पीपल वृक्ष न रक्खे, पूर्वभाग में पीपल के पेड़ रहने से अग्नि का भय रहता है । पाकड़ (पेड़) की देवता यम, मकान के दक्षिणभाग में पाकड़ का पेड़ रहने से आयु की हानि होती है। वट वृक्ष की देवता वरुण है, घरके पश्चिमभाग में बड़का पेड़

रहने से शस्त्राघात का सन्देह रहता है। गूलरवृक्ष की देवता 'प्रजापति' हैं अतएव मकान से उत्तरभाग में गूलर रहने से, नेत्ररोग होता है ॥ १४ ॥

तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीतैताश्चैव देवता अभियजेत ॥ १५ ॥

'तान्' अश्वत्थादीन् पूर्वादिष्ववस्थितान् 'अस्वस्थानस्थान्' स्वस्थानेभ्य उत्थाप्यान्यत्राभिलषितस्थानेषु संस्थितान् 'कुर्वीत'; अपि 'च' तत्तदुत्थानकाले 'एताः देवताः' तत्तद्वृक्षदेवताः 'एव' 'अभियजेत' होमादिभिरर्चयेत् ॥ १५ ॥

भा०—अनुपयुक्त स्थान में समुत्पन्न पीपल आदि के पेड़ों को उखाड़ कर उपयुक्त स्थानमें रोप कर उस २ वृक्षकी उन २ देवताको होमादिसे पूजा करे ॥१५॥

मध्येऽग्नि मुपसमाधाय कृष्णया गवा यजेताजेन वा श्वेतेन सपायसाभ्यां पायसेन वा ॥ १६–१९ ॥

'मध्ये' वास्तुभवनस्य, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय' पूर्वोक्तविधिना प्रज्वाल्य 'कृष्णया गवा' कृष्णायाः गोः मांसादिना 'यजेत'—इति प्रथमः कल्पः। 'श्वेतेन अजेनवा' यजेतेति द्वितीयः। 'सपायसाभ्याम्' गोऽजाभ्याम्, पायसेन च गोऽजयो रन्यतरेण चेति तृतीयः। 'पायसेन' पायसमात्रेणैव 'वा' इत्यधमः कल्पः॥१६-१९॥

भा०—वास्तु भूमि पर आग जलाकर काली गौ के मांस आदि से याग करे, सफेद छाग के मांस,द्वारा भी यह 'याग' हो सकता है, काली गौ का मांस, या सफेद छाग के मांस के साथ यदि 'पायस' हो तो और भी उत्तम हो, न हो तो केवल पायस ही से याग करे ॥ १६–१९ ॥

वसा माज्यं मांꣳसं पायस मिति संयूयाष्टगृहीतं गृहीत्वा जुहुयाद्वास्तोष्पत इति प्रथमा वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः प्रजापतयइत्युत्तमा। २०-२१,२२,२३-२४ ॥

'इति' इमानि वसादीनि चत्वारि 'संयूय' सम्यक् मिश्रीकृत्य मिश्रितं तत् 'अष्टगृहीतं' चतुर्गृहीत मिव गृहीत्वा 'जुहुयात्'। तत्र "वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवानः। यत्ते महे प्रतितन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे" ॥१॥ (म० ब्रा० २, ६, १)—'इति' मन्त्रेण 'प्रथमा' आहुतिः। ततो 'वामदेव्यर्चः' तिस्रः प्रयोक्तव्याः। ततश्च 'महाव्याहृतयः' प्रयोक्तव्याः। ततः 'प्रजापतये'—'इति' एतन्मात्रेणैव मन्त्रेण'उत्तमा' आहुतिर्होतव्येति। २०–२४ ॥

भा०—वसा, घृत, मांस, और पायस, इन चार (सामग्री) को एकत्र मिला कर (जिस प्रकार चार वार लेना कहा गया है, उसी प्रकार) प्रतिवार ८ ग्रहण करता हुआ होम करे। उन में से "वास्तोष्पते" मन्त्र से पहिली आहुति

देवे; अनन्तर 'वामदेव्य' संज्ञक तीन मन्त्रों से, उसके पीछे महाव्याहृति आदि का प्रयोग करे; पीछे "प्रजापतये"-इस मन्त्र से शेष आहुति देवे ॥ २०-२४ ॥

हुत्वा दश बलीन् हरेत् प्रदक्षिणं प्रतिदिशमवान्तरदेशेष्वानुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ॥ २५ ॥

'हुत्वा' उक्तवास्तुहोमानन्तर मेव 'प्रतिदिशं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा कृत्वा, 'अवान्तरदेशेषु' कोणेषु व्यतिहरो यथा न भवेत् तथा च कृत्वा, 'आनुपूर्व्येण' एव 'दश' सङ्ख्याकान् 'बलीन्' 'हरेत्' ॥ २५ ॥ बलीनां स्थानानि मन्त्रांश्चोपदिशति-

भा०:-वास्तु होम करके उस के पीछे प्रदक्षिणानुसार प्रति दिशा में और प्रति कोण में क्रम से १० बलि प्रदान करे ॥ २५ ॥

इन्द्रायेति पुरस्ताद् वायव इत्यवान्तरदेशे यमायेति दक्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तरदेशे वरुणायेति पश्चान्महाराजायेत्यवान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्रायेत्यवान्तरदेशे वासुकय इत्यधस्तादूर्द्ध्वं नमो ब्रह्मण इति दिवि ॥२६-३३॥

सुस्पष्टान्येतानि ॥ २६-३३ ॥

भा०:-रहने के मकान से पूर्व दिशा में, तत्पश्चात् अग्निकोण आदि आठ दिशाओं में, तत्पश्चात् नीचे ऊपर, इन दश दिशाओं में 'इन्द्राय' प्रभृति दश मन्त्रों से बलि प्रदान करे ॥ २६-३३ ॥

प्राच्यूर्द्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः संवत्सरेसंवत्सरे नवयज्ञयोर्वा ॥ ३४,३५, ॥ ७ ॥

प्राच्यादिदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः 'अहरहः' प्रतिदिन मेव बलिहरणं कर्त्तव्यम्; एवञ्चैषः 'नित्यप्रयोगः'-इति कस्यचिन्मतम्। स्वमते तु संवत्सरे सम्वत्सरे यदा यदा नवयज्ञौ व्रीहियज्ञो यवयज्ञश्च भवतः तदा तदैवासा मपि तिसृणां बलिहरण मिति शम् ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥४।७॥

भा०:-इन्द्र देवता के लिये ऊपर को पूर्व दिशा में ब्रह्म देवता के लिये, एवं नीचे को वासुकि देवता के लिये, प्रतिदिन बलिकर्म करे, या प्रति वर्ष जिस समय नया अनाज हो, और जिस समय यव आदि शस्य नूतन हों उस २ नवान्न समयमें इनतीन बलिके करने सेभी होसकता है ॥३४-३५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्यायके सप्तमखण्डका भाषानुवादपूरा हुआ ॥४।७॥

अवणाग्रहायणीकर्मणोरक्षताञ्छिष्ट्वा प्राङ्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधाय हये राक इत्येकैकयाञ्जलिना जुहुयात् ॥ १॥

पुरस्तादुक्ते 'अवणाग्रहायणी' कर्मणी। तयोः अक्षतबलयश्च विहिताः। तत्र सर्वैरेवाक्षतैर्बलिहरण मकृत्वा कतिचित् 'अक्षतान्' 'शिष्ट्वा' बलिशेषभूतान् रक्षित्वा तैरेवाक्षतैः 'अञ्जलिना' "हये राके सिनीवालि सिनीवालि पृथुष्टुके। सुभद्रे पथ्ये रेवति यथा नो यश आवह (स्वाहा) ॥२॥ये यन्ति प्राञ्चः पन्थानो य उ वोत्तरत आययुः। ये चेमे सर्वे पन्थान स्तेभिर्नो यश आवह (स्वाहा) ॥३॥ यथा यन्ति प्रपदो यथा मासा अहर्जरम्। एवं मा श्रीधातारः समवयन्तु सर्वतः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ यथा समुद्रꣳ स्रवन्तीः समवयन्ति दिशो दिशः। एवं मा सखायो ब्रह्मचारिणः समवन्तु दिशो दिशः (स्वाहा) ५ (म० ब्रा० २, ६, २-५)" -'इति' सूक्तान्तर्गतानां चतसृणा मृचाम्' एकैकया' 'जुहुयात्'। स च होमः,' ग्रामात्-प्राङ् वा उदङ् वा निष्क्रम्य' 'चतुष्पथे अग्निम् उपसमाधाय' तत्रैव कर्त्तव्य इति ॥१॥

भा०:—इसके पहिले 'अवणाकर्म' और 'आग्रहायणी कर्म' कहे गये हैं। उक्त दोनों कर्मों में 'अक्षतबलि' भी कहा गया है। इस अक्षतबलि के समय समस्त अक्षत आदि बलि कार्य में व्यवहार न करके, उस में से थोड़ा अक्षत अवशिष्ट रक्खे। इसी को एक २ अञ्जलि कर 'हये राके' इत्यादि चार मन्त्रों से आहुति देवे। यह होम गांव से बाहर निकल कर पूर्व, या उत्तरदिशा में किसी चौराहे पर आग जला कर, करे ॥ १ ॥

प्राङुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूर्द्ध्व मुदीक्षमाणो देवजनेभ्यस्तिर्यङितरजनेभ्योऽवाङवेक्षमाणोऽनपेक्षमाणः प्रत्येत्याक्षतान् प्राश्नीयादुपेतैरमात्यैः सह ॥ २—४ ॥

'उत्क्रम्य' उत्क्रमणं व्युत्क्रमणं विपरीतगमनं प्रतिगमनारम्भण मिति यावत्, तत् कृत्वा तत्र पथ्येव यत्र कुत्रचित् 'प्राङ्' प्राङ्मुखः, 'ऊर्द्ध्वम्' उपरि 'उदीक्षमाणः' 'देवजनेभ्यः' देवगणानुद्दिश्य "वसुवन एधि वसुवन एधि वसुवन एधि" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ६)-'इति' मन्त्रं पठेत्। ततः 'तिर्यङ्' गृहगमनाय पश्चिमाभिमुखो दक्षिणाभिमुखो वा भवितुं तिरश्चीनः सन्, 'अवाङ्' अधः 'अवेक्षमाणः' 'इतरजनेभ्यः' देवातिरिक्तप्राणिगणानुद्दिश्य त मेव मन्त्रं पठेत्। ततः 'अनवेक्षमाणः' पश्चादवलोकन मकृत्वैव प्रत्येत्य' स्वावासं 'उपेतैः' तदानीं तत्रो'

परिस्थितैः 'अमात्यैः' बन्धुवर्गैः 'सह' 'अक्षतान्' होमावशिष्टान् 'प्राश्नीयात्' भुञ्जीत २—४

भा०:—उसके पश्चात् मकान में फिरने के लिये, चल कर रास्ते में किसी एक स्थान में ऊपर मुंह होकर, देवताओं के लिये 'वसुवन एधि' इस मन्त्र का पाठ करे। पुनः पश्चिम मुख, या दक्षिणाभिमुख। अर्थात् घर के सम्मुख होने ही से टेढ़ा होना पड़ेगा, उसी तिरछा होते समय नीचे देखकर, अन्यान्य प्राणियों के लिये, पुनः इस मन्त्र का पाठ करे। अनन्तर पीछे न देख कर अपने स्थान पर आकर, उस समय उस स्थान में जो सब आत्मीय लोग उपस्थित हों, उन के साथ, होम से बची सामग्री भोजन करे ॥ २—४ ॥

स्वस्त्ययनम् ।५। वशङ्गमौ शङ्खश्चेति पृथगाहुती व्रीहियवहोमौ प्रयुञ्जीत यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मै नित्यप्रयोगः ।६,७।

उक्तेन श्रवणाग्रहायणीशेषाक्षतबलिकर्मणा 'स्वस्त्ययनं' फलं भवेत्' तथाच स्वस्त्ययनकाम एवास्याधिकारी । ५ । अथ प्रसादकामकर्म ।— 'यस्य' जनस्य 'आत्मनि' स्वे प्रसादम् 'इच्छेत्' 'तस्मै' तदुद्देशतः "वशङ्गमौ देवयानी युवथ्ंस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति, एवं ममासौ वशमेतु (स्वाहा) ॥७॥ (म० ब्रा० २, ६, ६)—शङ्खश्च मन आयुश्च देवयानौ युवथ्ंस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति एवं ममाऽसौ वशमेतु (स्वाहा)" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ८,)—'इति' आभ्यां मन्त्राभ्यां 'व्रीहियवहोमौ' व्रीहियव द्रव्यकहोमौ 'पृथगाहुती' विभिन्नद्रव्यहवनौ 'प्रयुञ्जीत' कुर्वीत । पृथगाहुतीत्युक्तया वशङ्गमाविति मन्त्रेण व्रीहिहोमः शङ्खश्चेति मन्त्रेण च यवहोम इति । 'नित्यप्रयोगः तत्प्रसादलाभपर्यन्तमहरह एवैषः प्रयोगः कर्त्तव्य इति ॥ ६,७ ॥

भा०:—उक्त श्रवण और आग्रहायणी दोनों कर्मों के अविशिष्ट अक्षत-बलि कर्म का फल—स्वस्त्ययन है, इसलिये जो लोग विशेष 'स्वस्त्ययन' चाहें, उन्हीं को यह करना चाहिये ॥५॥ जिस किसी व्यक्तिकी प्रसन्नता चाहे वह 'वशङ्गमौ' मन्त्र से व्रीहिहोम और 'शङ्खश्च' मन्त्र से यवहोम करे। जबतक उद्देश्य सिद्ध न हो, तबतक प्रतिदिन यही प्रयोग, अनुष्ठान करे ॥ ५—७ ॥

एकाक्षर्यांया मर्द्धमासव्रते द्वे कर्मणी ।८। पौर्णमास्याथ्ंरात्रौ खदिरशङ्कुशतं जुहुयादायुष्काम आयसान् बधकामः ॥९,१०॥

'एकाक्षर्यायाम्' "आकूतीं देवीं मनसा प्रपद्ये यज्ञस्य मातरथ्ं सुहवा मे अस्तु । यस्यास्त एक मक्षरं परथ्ं सहस्रा अयुतं च शाखास्तस्यै वाचे निहवे जुहोम्या मा वरो गच्छतु श्रीर्यशश्च (स्वाहा) ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ९)"

इत्यस्या ऋचि 'द्वे कर्मणी' अनुपदवक्ष्यमाणे विद्येते, ते च द्वे एव 'अर्द्ध-मासव्रते' वेदितव्ये । ८ । तत्र प्रथमं कर्म शङ्कुशतहवनं नाम, तच्च कामना-द्वयभेदात् द्विविधम्, तद् द्विविधमेवोपदिशति । स्वस्य अपरस्य वा 'आयु-ष्कामः' पुरुषः 'खदिरशङ्कुशतं' खादिराणां शङ्कूनां कीलकानां शतं जुहुयात्, स्वस्य अपरस्य वा वधकामश्चेत् 'आयसान्' लोहविकृतान् शङ्कून् शतं जुहुया-दिति । कदेत्युच्यते,—'पौर्णमास्यां रात्रौ' इति ।९। १०। अथ स्थण्डिलहोमः ।

भा०:—'आकूतिं देवीं' इस मन्त्र को एकाक्षरी कहते हैं। इस एकाक्षरी मन्त्र विषयक जो दो कर्म कहे जाने वाले हैं, उन्हीं दो कर्मों को 'अर्द्धमास-व्रत' जानो ॥८॥ यदि अपनी या दूसरे की आयु बढ़ने की कामना हो, तो खैर की १०० कील होम करे। और अपनी या दूसरे की आयुके हानि की इच्छा हो, तो लोहे के १०० कीलकों का होम करे; ये दोनों कार्य पूर्णिमा की रात में करे और इन में एकाक्षरी मन्त्र का व्यवहार करे। यही शङ्कुशत होम नामक पहिला कर्म है ॥ ८, १० ॥

अथापरम् ॥ ११ ॥ प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य च-तुष्पथे पर्वते वारण्यैः स्थण्डिलं प्रताप्यापोह्याङ्गारान् मन्त्रं मनसानुद्रुत्य सर्पिरास्येन जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'द्वे कर्मणी'—इति, तत्र नवमदशमसूत्राभ्यां द्विविधं शङ्कुशतहवन मुक्तम्; 'अथ' क्रमप्राप्तम् 'अपरम्' द्वितीयं कर्म स्थण्डिलहवन मिद मुपदि-श्यते । अपिचात्रापि द्वैविध्यमस्ति । ११ । 'ग्रामात्' स्ववासस्थानात् 'प्राङ्' पूर्वाभिमुखः, 'उदङ् वा' अथवा उत्तराभिमुखः 'निष्क्रम्य, निर्गतो भूत्वा, 'चतु-ष्पथे पर्वते वा' उपस्थितः सन्, 'आरण्यैः गोमयैः' 'स्थण्डिलं' लोहपात्रं 'प्र-ताप्य' प्रतप्तं कृत्वा, 'अङ्गारान्' गोमयकृतान् स्थण्डिलस्पृष्टान् 'अपोह्य' दूरी-कृत्य, 'मन्त्रं' प्रकृत मेकाक्षरीनामकं 'मनसा' 'अनुद्रुत्य' द्रुतं पठित्वा तत्रैव प्रतप्ते स्थण्डिले 'आस्येन' स्वमुखेन 'सर्पिः' घृतं जुहुयात् ॥ १२ ॥

भा०:—पहिले ही (८ मं० सूत्र में) कहा गया है कि 'एकाक्षरी' मन्त्र द्वारा दो कर्म सिद्ध होते हैं, उनमें से इसके पूर्व दो प्रकार' शङ्कुशत होम कर्म कहा गया है। अब 'स्थण्डिल होम' नामक द्वितीय कर्म कहा जाता है। यह दो प्रकार का है ॥११॥ गांवकी वस्ती से पूर्व, या उत्तर जाकर किसी एक चौराहे, या पहाड़ पर जङ्गली कण्डे से एक स्थण्डिल (वेदी) अच्छी प्रकार

तपा कर, उस अङ्गार आदि को हटाकर, इस एकाक्षरी मन्त्र को मन ही मन शीघ्र पाठ कर, अपने मुंह में घी लेकर उस से होम करे ॥ १२ ॥

ज्वलन्त्यां द्वादशग्रामाः धूमे त्र्यवरार्द्धा अमोघं कर्मेत्याचक्षते ॥ १३-१५ ॥

तादृशे होमे हुते 'ज्वलन्त्यां' शिखायां यजमानस्य 'द्वादशग्रामाः' लभ्याः' भवेयुः, प्रज्वलनाभावेन 'धूमे' सति 'त्र्यवरार्द्धाः' अवरार्द्धशब्दोऽन्यूनवचनः अतो न्यूनतोऽपि त्रयो ग्रामाः भवेयुः, ज्वालाधूमयोः अल्पत्वबहुत्वाभ्यां लब्धव्यग्रामसङ्ख्यानामल्पत्वबहुत्वे। एवञ्चैतत सर्वथाप्यनिष्फल मिति 'अमोघं कर्म' -'इति' नाम 'आचक्षते' वृद्धाः । तदेतत् 'स्थण्डिलहोम'-नाम एकाक्षर्यां द्वितीयं कर्म ।१३-१५ स्थण्डिलहोमस्यैव प्रकारान्तरेण फलान्तरजनकत्व मुच्यते ।

भा०:-इस आहुति के देते ही, यदि शीघ्र ज्वाला उठे तो, अनुष्ठाता को १२ ग्राम लाभ होंगे और यदि कुछ भी ज्वाला न हो, वरन धूम दीख पड़े, तौभी तीन गांव मिलेंगे । (सर्वथा निष्फल न होगा) इसी कारण बूढ़े लोग इसको 'अमोघ कर्म' कहते हैं । यह भी 'अर्द्धमासव्रत कहलाता है' ॥१३ । १४ । १५॥

वृत्त्यविच्छित्तिकामो हस्तिगोमयान् सायं प्रातर्जुहुयात् १६

यजमानः यदि 'वृत्त्यविच्छित्तिकामः' वृत्तिर्जीवनोपायः तस्य विच्छेदो न स्यात् इत्येवङ्कामः स्यात्, तर्हि तत्रैव आरण्यगोमयैः प्रतप्ते स्थण्डिले सर्पिर्होमविनिमयतः 'हस्तिगोमयान्' सद्योविसृष्टगोमयान् तेनैव आस्येनैव 'सायं' प्रातः' 'जुहुयात्' इति समाप्त मेकाक्षरीकृत्यम् । १६ । अथ पण्यहोमः ।

भा०:-यजमान अगर चाहे कि 'हमारी जीविका का नाश न हो', तो जङ्गली गोबरसे तप्त किये हुये वेदीपर, घी होम न करके, सायं और प्रातः-काल तात्कालिक गोबर को मुंह में रख, उससे होम करे ॥ १६ ॥

त्रिरात्रोपोषितःपण्यहोमं जुहुयादिदमहमिमं विश्वकर्माण मिति वाससस्तन्तून् गोवालानेव मितरेभ्यः पण्येभ्यः ॥१७-२०॥

काम्येषु कर्मसु त्रिरात्राभोजनं विहितम् (प्र०४ खं०५ सू०९) पण्यहोमोऽपि काम्यं कर्म, अत्रापि तत् प्राप्त मिति विशेषं विधत्ते,-'त्रिरात्रोपोषितः' उपवासस्तु अल्पभोजनं नत्वभोजन मित्युक्तं पुरस्तात (प्र०४खं०५सू०१३-२६, प्र१ खं० ६-सू० १-८) 'पण्यहोमं' पण्यं विक्रय्यद्रव्यं, तस्मै होमः पण्यहोमस्तम् । "इदमहमिमं विश्वकर्माणं श्रीवत्स मभिजुहोमि (स्वाहा") ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० २,-५, १०) 'इति मन्त्रेण 'जुहुयात्' । किं जुहुयादिति होमद्रव्यं विधत्ते,-'वाससः'

वासः पण्यं चेत् तस्य 'तन्तून्' दशासूत्राणि जुहुयात् । गौः पण्यं चेत्, तस्य 'गोः' 'वालान्ः पुच्छलोमानि जुहुयात् । 'इतरेभ्यः' अजाविकादिभ्यः पण्येभ्योऽपि 'एवम्' एव एकदेशं लोमादिक मुद्धृत्य जुहुयादित्येव ।१७–२०। अथ यशस्कामसहायकामयोः यजनीयप्रयोगौ ॥

पूर्णहोमो यजनीयप्रयोग इन्द्रामवदादिति च यशस्कामः पूर्वांᳪसहायकाम उत्तराम् ॥ २१, २२, ॥ ८ ॥

'पूर्णहोमः' "पूर्णहोमं यशसे जुहोमि, योऽस्मै जुहोति वर मस्मै ददाति, वरं वृणे यशसा भामि लोके (स्वाहा)" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ६, ११) '–इति होमः "इन्द्रामवदात् तमो वः परस्तात् । अहं वो ज्योतिर्मा मभ्येत सर्वे (स्वाहा)" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १२)"–'इति' मन्त्रेण 'च' होमः 'यजनीयप्रयोगः' (प्र० ४ खं० ५ सू० १२) बोध्यः । तत्र च 'यशस्कामः' चेत् 'पूर्वाम्' ऋचम् प्रयुञ्जीत 'सहायकामः' चेत् 'उत्तराम्' ऋचम् प्रयुञ्जीतेति । २१, २२ ॥ ८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥४।८॥

भा०:–यदि ऐसी इच्छा हो कि हम जो व्यवहार करें, उस की उन्नति हो उस २ द्रव्य में का, एक २ अंश लेकर जैसे—कपड़े का व्यवसाय करने को प्रवृत्त हो, तो कपड़े के किनारे से सूत निकाल ले, गौ का व्यवसाय हो तो गो की दुम में से कुछ वाल ले इत्यादि "इदमहमिमं" मन्त्र से होम करे ॥१७,२०॥

भा०:–"पूर्ण होमं यशसे जुहोमि" इस मन्त्र से होम करे और "इन्द्रामवदात्" इस मन्त्र से होम करे, ये दोनों होम 'यजनीय प्रयोग है, उन में से यश की इच्छा होने पर, प्रथम मन्त्र का प्रयोग करे और 'सहायता' की कामना हो तो शेष मन्त्रका व्यवहार करे ॥ २१ । २२ ॥ ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अष्टम खण्ड का भावानुवाद पूरा हुआ॥४,८॥
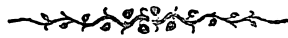
पुरुषाधिपत्यकामोऽष्टरात्र मभुक्त्वौदुम्बरान्त्स्रुवचमसेध्मानुपकल्पयित्वा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्नि मुपसमाधायाज्य मादित्य मभिमुखो जुहुयादन्नं वा एकच्छन्दस्यᳪश्रीर्वा एषेति च ॥ १, २ ॥

पुरुषाणां सैनिकानां साधारणानां वानेकेषाम् आधिपत्यं यदि कामयेत, तर्हि तेन अष्टरात्र मभोजनं कर्त्तव्यम्, तत्रैव चाष्टरात्रे, 'औदुम्बरान्' स्रुवादीन्

प्रकल्प्य तदष्टरात्रान्ते तान् स्रुवादीन् गृहीत्वा 'प्राङ् उदङ् वा ग्रामात् निष्क्रम्य' यं कञ्चि दपि चतुष्पथं प्राप्य तत्रैव 'अग्निम् उपसमाधाय' 'आदित्यं' यू-स्यम् 'अभिमुखः' "इन्नं अन्नं वा एकच्छन्दस्य मन्नथं स्त्र्येकं भूतेभ्यश्छदयति (स्वाहा)" ॥१३॥ (म० ब्रा० २,६, १३) इति मन्त्रेण 'आज्यं जुहुयात्'। ततः "श्रीर्वा एषा यत्सत्त्वानो, विरोचनो मयि सत्त्व मवदधातु (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १४) 'इति' मन्त्रेण 'च' पुनरपि आज्यमेव जुहुयादिति ॥ १,२ ॥

भा०:-यदि किसी की ऐसी इच्छा हो कि हमें 'पुरुषाधिपत्य' हो (सेनापति, प्रभृति बड़ा ओहदा, या बहुत लोग हमारा मान्य करें) तो, वह व्यक्ति आठ रात भोजन न करे, इसी बीच में गूलर की लकड़ी का स्रुवा चमस और ईध्म संग्रह कर, सब को अपने साथ लेकर गांव के पूर्व उत्तर, बाहर जाकर किसी चौराहे पर अग्निस्थापन कर "अन्नं वा" मन्त्रसे घीकी आहुति देवे एवं उसी के पश्चात् लगातार "श्रीर्वाएष" इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे॥१,२॥

अन्नस्य घृत मेवेति ग्रामे तृतीयां गोष्ठे पशुकामो विदूयमाने चीवरम् ॥ ३-५ ॥

ततः 'ग्रामे' प्रत्यागत्य "अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः सम्पत्कामो जुहोमि (स्वाहा)" ॥१५॥ (म० ब्रा० २, ६, १५) 'इति' मन्त्रेण 'तृतीयाम्' आहुतिं जुहुयात् आज्यस्यैव । स च पुरुषाधिपत्य कामः पुरुषः यदि 'पशुकामः' अपि तर्हि ग्रामे होतव्यां ता माहुतिं 'गोष्ठे' एव जुहुयात। तत्रापि तद् गोष्ठं 'विदूयमानम्' आर्द्रं चेत् तत्र 'विदूयमाने' गोष्ठे 'चीवरं' लौहचूर्णं जुहुयात् नाज्य मिति ॥ ३-५ ॥

भा०-अनन्तर ग्राममें वापस आकर "अन्नस्य घृत मेव" इस मन्त्रसे तृतीय आहुति देवे । उस पुरुषाधिपत्य चाहने वाले व्यक्ति को, यदि यह भी इच्छा हो कि मुझे बहुत पशु हों, तो उस तृतीय आहुति को गोशाला में देवे । और यदि वह गोशाला गीली हो, तो उस स्थान में घी की तीसरी आहुति न करके, लोह चूर्ण होम करे (घी के बदले में) ॥ ३,४,५ ॥

प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् बध्नीतोपेत्य वसनवतः स्वाहाकारान्ताभिः सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम् ॥६,७॥

'अध्वनि' मार्गे 'प्रतिभये' भयहेतौ उपस्थिते 'वसनवतः' सहचारिणो पान्यजनान् 'उपेत्य' तत्समीपं गत्वा 'स्वाहाकारान्ताभिः' ताभिरेव "अन्नं वा" (मं०ब्रा०२०६ १३-१५)इत्यादिभिस्तिसृभिः ऋग्भिः 'वस्त्रदशानां ग्रन्थीन्' 'बध्नीत'। एतेन कर्मणा

'सहायानां' सहचारिणामपि पथिकानां 'स्वस्त्ययनं' भवेत्, किम्पुनः भयप्राप्तस्यैकस्य तस्येति ॥ ६, ७ ॥ अथ आचितसहस्रकामकर्म—

भा०—यदि रास्ते में दैवयोग से एकाएक किसी प्रकार का भय आपड़े, तो झटिति सहचारी मुसाफिर के पास हो कर पूर्वोक्त "अन्नं वा" इन तीन मन्त्रों से स्वाहाकारान्त जप करते हुए कपड़े के किनारे के सूत आदि बांधे। इस से उक्त भय भीत व्यक्ति का भय तो दूर हो ही गा, किन्तु उस के साथी पथिक गण को भी मङ्गल होगा ॥ ६, ७ ॥

आचितसहस्रकामोऽक्षतसक्त्वाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥८॥

ताभिस्तिसृभिः ऋग्भिः स्वाहाकारान्ताभिरेव, एकैकाहुतिर्होतव्येति च ।८

भा०—जो कोई सहस्र आचित (२५ मन अर्थात एक गाड़ी का बोझ) की कामना करे वह तीनों मन्त्रों से अक्षत—सत्तू की १००० आहुति देवे ॥ ८ ॥

पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥९॥

पशून् गवादीन् कामयते यः पुरुषः, सः 'वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात्' स्वाहाकारान्ताभिस्ताभिस्तिसृभिरेवर्ग्भिरिति ।९। अथक्षुद्रपशुकामकर्म

भा०—यदि किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे गौ आदि बड़े २ पशु हों, तो वह दो बछड़े के सूखे गोबर से उक्त तीन मन्त्र द्वारा १००० आहुति देवे ॥९॥

अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ॥ १० ॥

अविमिथुनयोः शुष्कैः पुरीषैरिति, ताभिस्तिसृभिः स्वाहाकारान्ताभिरिति च । १० । अथ वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म—

भा०—जिस किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे भेड़ आदि छोटे २ पशु हों तो वह दो भेड़ के सुखे गोबर से उक्त तीन मन्त्रों से १००० आहुति देवे । १० ।

वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बूकान् सायंप्रातर्जुहुयात् क्षुधे स्वाहा क्षुत्पिपासाभ्याᳬस्वाहेति ॥ ११ ॥

'कम्बूकान्' तुषान् ; फलीकरणकणानिति टीकान्तरम् । अन्यद् व्याख्यात मिवैव । ११ । अथ विषदोषनाशकामकर्म—

भा०—यदि किसी को यह इच्छा हो कि मेरी जीविका निरन्तर बनी रहे, वह प्रतिदिन सायं प्रातःकाल "क्षुधेस्वाहा" मन्त्र से तुष की आहुति देवे ।११।

मा भैषीर्न मरिष्यसीति विषवता दष्ट मद्भिरभ्युक्षन्जपेत् ॥१२॥

'विषवता' सर्पेण, वृश्चिकादिना वा 'दष्टं' स्थानम् 'अद्भिः अभ्युक्षन्' "मा भैषीर्न मरिष्यसि जरदष्टिर्भविष्यसि । रसं विषस्य नाविद मुग्रं फेन मिवास्यम्" १८ (म० ब्रा० २,६,१८) इति मन्त्रं जपेत् ।१२ अथ स्नातकस्वस्त्ययनकर्म—

भा०—विषधर सांप आदि के डसने पर, उस काटेहुए स्थान को धोकर "माभैषीर्न" इस मन्त्रका जप करे । इससे सब प्रकारके विषदोष दूर होंगे ॥१२॥

तुरगोपायेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्ड मुपनिदधीत स्वस्त्ययनार्थम् ॥ १३ ॥

'स्नातकः' कृतसमावर्त्तनो द्वितीयाश्रमाय उद्युक्तः 'संवेशनवेलायां' शयनसमये 'स्वस्त्ययनार्थम्' "तुरगोपाय मा नाथ गोपाय मा । अशस्तिभ्यो अरातिभ्यः स्वस्त्ययन मसि ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १९)"—'इति' मन्त्रेण 'वैणवं दण्डं' वंशयष्टिम् 'उप' समीपे स्वस्यैव 'निदधीत' स्थापयीत ।१३। अथ क्रिमिनाशकामकर्म

भा०—स्नातक गण (पूर्वोक्त ३ प्रकार के) अपने कल्याणार्थ, शयनकाल में "तुरगोपाय" इस मन्त्रसे बांसकी एक छड़ी वा लाठी अपने पास रक्खे ॥१३॥

हतस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देश मद्भिरभ्युक्षन् जपेत् ॥ १४ ॥

'क्रिमिमन्तं देशम्' व्रणादिक मथउदरादिकञ्च 'अद्भिः अभ्युक्षन्'*"हतस्ते अत्रिणा क्रिमि र्हतस्ते जमदग्निना । गोतमेन तिनीकृतो ऽत्रैव त्वा क्रिमे ब्रह्मवद्यमवद्य ॥ १ ॥ भरद्वाजस्य मन्त्रेण, सन्तिनोमि क्रिमे त्वा । क्रिमिᳪंह वक्त्रतोदिनं, क्रिमिमान्त्रानुचारिणम् । क्रिमिं द्विशीर्षं मर्जुनं, द्विशीर्षᳪंह चतुर्हनुम् ॥ २ ॥ हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता । अथैषां भिन्नकः कुम्भो य एषां विषधानकः ॥३॥ *** क्रिमि मिन्द्रस्य बाहुभ्या मवाञ्चं पातयामसि । हताः क्रिमयः साशातिकाः सनीलमक्षिकाः ॥ ४ ॥ ७ ॥ (म०ब्रा० २, ७, १—४)"—'इति' चतुर्ऋचं सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १४ ॥

भा०—जिस किसी (घाव, ज़ख्म आदि) स्थानमें कीड़े पड़गये हों उस स्थानको जल से धोकर "हतस्ते" इत्यादि चार मन्त्रों का जप करे; इसी से क्या पेट का, क्या किसी घाव के कीड़े क्यों न हों, सब ही कीड़े नष्ट हो जावेंगे ॥ १४ ॥

---

* अत्रि ऋषि ही ने सब से पहिले कृमिनाशन औषधि आविष्कार किया था, पीछे यमदग्नि, एवं उस के बाद गौतम ऋषि ने । ** भारद्वाज ऋषि के मन्त्रणा प्रभाव से आविष्कृत औषधि की सहायता से तीन प्रकार के क्रमियों को नाश करता हूं ॥ *** इन्द्रयव (औषधि) से त्रिवृत नाम औषधि से ।

पशूनाञ्चेत्क्रिमिकीर्षेदपराह्णे सीतालोष्ट माहृत्य वैहायसीं निदध्यात्तस्य पूर्वाह्णे पांशुभिः परिकिरन् जपेत् ॥१५॥९॥

तदेव क्रिमिनाशनं 'पशूनां' गृहपालितानां गवादीनां 'चिकीर्षेत् चेत्', तर्हि 'अपराह्णे' काले 'सीतालोष्टं' लाङ्गलोत्थं लोष्टम् 'आहृत्य' 'वैहायसीं' दिशां 'निदध्यात्' अनावृते ऊर्ध्वे स्थापयेदिति यावत् । ततो रात्रिप्रभाते 'पूर्वाह्णे' एव काले 'तस्य' लोष्टस्य 'पांशुभिः' रजोभिः पशोः क्रिमिमन्तं प्रदेशम् 'परिकिरन्' त मेव सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव पशूनां क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १५ ॥९॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ।४।९

भा०:-यदि पशु आदिके कीड़ों को नाश करने की इच्छा हो, तो किसी दिन दो पहर के पीछे, हल जोतने से जो ढेला निकला हो, वह ढेला लेकर खुले मैदान में ऊपर को भूला रक्खे, उस के दूसरे दिन उस ढेले को फोड़ कर उसकी धूलि, जहां कीड़े पड़े हों, उस पर छींट २ कर उक्त ४ मन्त्र जप करे। इसी से गो आदि पशु के सब प्रकार के कीड़े नष्ट हो जावेंगे ॥ १५ ॥ ९ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके नवम खण्डका अनुवाद समाप्तहुआ ॥ ४, ९ ॥

उत्तरतो गां बद्ध्वोपतिष्ठेरन्नर्हणा पुत्रवाससेति ॥१॥ इदमह मिमां पद्यां विराज मन्नाद्यायाधितिष्ठामीति प्रतितिष्ठमानो जपेद्यत्रैन मर्हयिष्यन्तः स्युर्यदा वार्हयेयुः ॥ २ ॥

आचार्यादीनां मन्यतमस्य अर्हणीयस्य 'उत्तरतः' 'गां बद्ध्वा' "अर्हणां पुत्रवाससा धेनु रभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तरांᳫं समाम् ॥१॥ (म० ब्रा० २, ८, १)"-'इति'मन्त्रं पठन्, तमर्हणीयम् 'उपतिष्ठेरन् ॥१॥ 'यत्र' स्थाने 'एनम्' अर्हणीयम् 'अर्हयिष्यन्तः' शिष्यादयः 'स्युः' 'यदा वा' यस्मिंश्च काले ते 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः, तत्रैव स्थाने, तदैव काले, सः अर्हणीयः आचार्यादीना मन्यतमः 'प्रतितिष्ठमानः' दण्डायमानः "इदमह मिमां पद्यां विराज मन्नाद्यायाधितिष्ठामि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० २, ८, २)"-'इति' मन्त्रं 'जपेत्' ।२।

विष्टरादीनां पञ्चानां त्रिस्त्रिर्वेदनीयता माह, ।

भा०:-आचार्य्य प्रभृति अर्हणीय व्यक्ति के उत्तर भाग में गौ बान्ध कर रक्खे और "अर्हणा पुत्र वाससा" मन्त्र से उन अर्हणीय व्यक्ति के आने पर अनुमोदन करे ॥१॥ जिस स्थान में इन "अर्हणीय" व्यक्ति की पूजा करने के लिये

शिष्य आदि की इच्छा हो, एवं जिस समय अर्च्चना करनी सम्भव हो, उसी स्थान में उसी समय, अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर "इद मह मिमां" मन्त्र पढ़े ॥२॥

विष्टरपाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्कानेकैकशस्त्रिस्त्रिर्वेदयेरन् ॥३॥

विष्टरादीन् पञ्च 'एकैकशः' प्रत्येकं 'त्रिः त्रिः' उच्चार्य 'वेदयेरन्' निवेदयेरन्, अर्हयितार इति शेषः ॥ ३ ॥ विष्टरग्रहणविधिः ।

भा०:–विष्टर (बिछावन) पाद्य (पैर धोने का जल) अर्घ्य (हाथ धोने का जल) आचमनीय (कुल्ला करने का जल) और मधुपर्क (खाने-की वस्तु) ये पांच, इन में से एक २ करके तीन २ वार निवेदन करे ॥ ३ ॥

या ओषधीरित्युदञ्चं विष्टर मास्तीर्याध्युपविशेत् ॥४॥

द्वौ चेत् पृथगृग्भ्याम् ॥ ५ ॥

'अर्हणीयो जनः विष्टरं प्राप्य "या ओषधीः सोमराज्ञी बह्वीः शतविचक्षणाः । ता मह्य मस्मिन्नासनेऽच्छिद्राः शर्म्म यच्छत ॥ ३ ॥" "या ओषधीः सोमराज्ञी विष्ठिताः पृथिवीमनु । ता मह्य मस्मिन् पादयो रच्छिद्राः शर्म्म यच्छत ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ३, ४)"–'इति' द्वृचं सूक्तं पठन्, तं विष्टरम् 'उदञ्चम्' 'उत्तराग्रम्' कृत्वा आसने 'आस्तीर्य' पातयित्वा, 'अधि' तदुपरि 'उपविशेत्' (आसने इति तु मन्त्रलिङ्गाद् ज्ञायते) ॥ ४ ॥ 'द्वौ' विष्टरौ प्राप्तौ चेत्, द्वावेव तौ 'पृथगृग्भ्यां' पूर्वसूत्रोक्ते या ओषधीरिति सूक्ते श्रुताभ्यां विभिन्नाभ्यां व्यवहार्यौ ॥ ५ ॥

भा०:–अर्हणीय व्यक्ति विष्टर पाकर "या ओषधीः" इन दो मन्त्रों का पाठकर उत्तराग्र आसन पर बैठे ॥ ४ ॥ यदि पूजा करने वाला दो विष्टर देवे तो, पूर्वोक्त दो मन्त्रों में से एक२को पढ़कर इन दो विष्टरों को देवे ॥५॥

पादयोरन्यम् ॥ ६ ॥ यतो देवीरित्यपः प्रेक्षेत ॥ ७ ॥

सव्यं पाद मवनेनिज इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

तत्र एकं विष्टरम् आसनोपरि आस्तीर्याध्युपविशेदित्युक्तम्, 'अन्यम्' द्वितीयं तु 'पादयोः' अधस्तात् आस्तीर्याध्युपविशेदित्येव । ६ । पाद्यग्रहणविधिः ॥ अर्हयित्रा पाद्याय दत्ताः 'अपः' "यतो देवीः प्रतिपश्याम्यापस्ततो मा राद्धि रागच्छतु ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ५)"–'इति' मन्त्रं पठन् 'प्रेक्षेत' अर्हणीयो जन इति (पाद्यादिलक्षणांत्वस्या एव टीकायाः परिशिष्टे) । ७ ।

"सव्यं पाद मवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियं दधे" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ६) 'इति' पठन् अर्हणीयः सः 'सव्यं' वामं 'पादं' प्रक्षालयेत् । ८ ।

भा०—एक विष्टर आसन पर डाले, दूसरा दोनों पैर के नीचे रक्खे॥ ६ ॥ पूजा करने वाले से, जल पैर धोने के लिये दिये जाने पर, उस जल को "यतो देवी" इस मन्त्र से मान्य व्यक्ति निरीक्षण करे ॥ ७ ॥ अनन्तर वह मान्य व्यक्ति थोड़ा जल देकर "सव्यं पाद मवनेनिजे" इस मन्त्र का पाठ कर अपना वांया पैर धोवे ॥ ८ ॥

दक्षिणं पाद मवनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत्॥९। पूर्व मन्य मपर मन्य मित्युभौ शेषेण ॥ १० ॥

ततः "दक्षिणं पाद मवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रिय मावेशयामि" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ७)—'इति' मन्त्रं पठन् स अर्हणीयः 'दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् । ९ । 'शेषेण' अवशिष्टेन पाद्योदकेन 'उभौ' पादौ सव्यदक्षिणौ एकत्रीकृत्य प्रक्षालयेत्, तत्र च "पूर्व मन्य मपर मन्य मुभौ पादाववनेनिजे। राष्ट्रस्य वृध्यो अभयस्यावरुद्ध्यै "॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८)—इति मन्त्रः प्रयोक्तव्यः। १०। अर्घ्यग्रहणविधिः ।

भा०:—उस के पश्चात् "दक्षिणपाद मवनेनिजे" इस मन्त्र का पाठ कर अपना दहिना पैर धोवे ॥९॥ बाकी जल से दोनों पैर एकत्र धोवे इसी समय "पूर्व्व मन्य" इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १० ॥

अन्नस्य राष्ट्रिरसीत्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ यशोऽसीत्याचमनीय माचामेत् ॥ १२ ॥ यशसो यशोऽसीति मधुपर्कं प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

"अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम्" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८)—'इति' मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः, अर्हयित्रा दत्तम् 'अर्घ्यम्' प्रतिगृह्णीयात् । ११ । आचमनीयग्रहणविधिः । "यशोऽसि यशो मयि धेहि" ॥१०॥ (म० ब्रा० २, ८, १०)—'इति' मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः अर्हयित्रा दत्तम् 'आचमनीयम्' आचमनार्थ मुदकं गृहीत्वा 'आचामेत्' आचमनविधिना आचमनं कुर्यादिति । मधुपर्कग्रहणविधिः । ततोऽर्हयित्रा दत्तं 'मधुपर्कं' "यशसो यशोऽसि" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ११)—'इति' मन्त्रं पठन् अर्हयिता प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

भा:—"अन्नस्य राष्ट्रिरसि" इस मन्त्र का पाठ कर वह मान्य व्यक्ति अर्ह-

यिता का दिया अर्घ्य ग्रहण करे ॥११॥ अनन्तर अर्हयिता (पूजक) द्वारा आचमनीय जल देने पर, उस जल से "यशोऽसि" इस मन्त्र से, पूर्वोक्त आचमन विधि अनुसार, मान्य व्यक्ति आचमन करे ॥ १२ ॥ उस के पश्चात् अर्हयिता से 'मधुपर्क' दिये जाने पर मान्यव्यक्ति "यशसो" यह मन्त्र पढ़ कर उसे ग्रहण करे ॥ १३ ॥

यशसो भक्षोऽसि महसोभक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहीति त्रिः पिबेत्तूष्णीं चतुर्थम् । १४, १५ ॥

गृहीतञ्च तं मधुपर्कं "यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहि ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १२,)"—'इति' मन्त्रेण 'त्रिः' त्रिवारं 'पिबेत्' 'तूष्णीम्' अमन्त्रक मेव 'चतुर्थं' पान मिति ॥ १४, १५ ॥

भा०—लिये हुये उस मधुपर्क को "यशसो" इस मन्त्र का तीनवार पाठ करे एवं उस के अनन्तर चतुर्थ वार विना मन्त्र पढ़े पान करे ॥ १४, १५ ॥

भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १६ ॥

मधुपर्काधिक्यश्चेत् 'भूयः' पुनरपि पञ्चमवार मपि अमन्त्रक मेव 'अभिपाय' 'शेषं' पानावशिष्टं 'ब्राह्मणाय' श्रद्धावते यस्मै कस्मै चित् 'दद्यात्' । १६। बद्धगोमुक्तिप्रकारः

भा०—यदि मधुपर्क अधिक प्राप्त हो जावे, (जो चार वार पीने पर भी न निघटे) तो पञ्चम वार भी पीवे, इस वार भी मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ १६ ॥

आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिर्ब्रूयात् ॥ १७ ॥

ततश्च 'आचान्तोदकाय' स्वस्थचित्ताय अर्हणीयाय 'नापितः' गवादेर्विशसिता 'गौः'—इति पदं 'त्रिः' त्रिवारं 'ब्रूयात्' । वारत्रयगोपदोच्चारणमात्रेङ्गितेन बद्ध्वा गौरिदानी मालब्धव्या न वा ?' इति अर्हणीय मुद्दिश्य विशसिता नापितः पृच्छेदिति । १७ । ततस्तं नापितं किं प्रतिब्रूयादित्याह ।

भा०—पीछे जब वह मान्य व्यक्ति मुंह आदि धो कर स्वस्थ चित्त होवें, तब शस्त्र हाथ में ले नापित आकर उन मान्य व्यक्ति को तीनवार जतलावे, "गौ ! " अर्थात् इसी समय क्या गौ काटनी पड़ेगी ? (यही इङ्गित से जिज्ञासा करे) ? ॥ १७ ॥

मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मेऽभिधेहीति तं जह्यमुष्य चोभयोरुत्सृज गामत्तु तृणानि पिबतूदकमिति ब्रूयात्॥१८॥

"मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मे ऽभिधेहि ॥१३॥ (म० ब्रा० २, ८, १३)" –'इति' मन्त्रं "तं जह्यमुष्य, चोभयो * रुत्सृज, गा मत्तु तृणानि, पिबतूदकम् ॥ १४॥ (म० ब्रा० १, ८, १५)"–'इति' मन्त्रं च तं नापितं ब्रूयात्,–इमौ मन्त्रौ पठन्नर्हणीयो गोमोचनायादेशं कुर्यादिति ॥ १८ ॥

भा०–अनन्तर नापित के उत्तर में मान्य व्यक्ति "मुञ्चगां" मन्त्र एवं "तं जह्यमुष्य" मन्त्र, इन दो मन्त्रो को पढ़ कर गौ छोड़ने की आज्ञा देवे ॥१८॥

माता रुद्राणा मित्यनुमन्त्रयेत ॥१९॥ अन्यत्र यज्ञात्॥२०॥

तादृशादेशेन मुक्तायां गवि, ता मेव गा मवलोकयन्नर्हणीय एव "माता रुद्राणांदुहिता वसूनाᳬंस्वसादित्याना ममृतस्यनाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गा मनागा मदितिं वधिष्ट "॥ १५ ॥ ८ ॥ २ (२,८, १५)–'इति' अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रणं कुर्वीतेति । १९ । गवालम्भनानालम्भनयोर्व्यवस्थामाह–'यज्ञात्' यज्ञः श्रौतसूत्राद्यनुसारतोऽनुष्ठेयो ज्योतिष्टोमादिः, तस्मात् 'अन्यत्र' गृह्यसूत्रोक्तविवाहादौ पूर्वोक्तो गोमोचन–विधिः विद्यादिति ॥ २० ॥

भा०–मान्य व्यक्ति की उसप्रकार की आज्ञा सुन, यथार्थ बांधी गौको खूंटेसे नापित छोड़ दे, मान्य व्यक्ति, "माता रुद्राणां" इस मन्त्र से उस गौ को अनुमन्त्रण करे ॥१९॥ श्रौतसूत्रानुसार जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अनुष्ठित होते, उस से भिन्न स्थान में, अर्थात् गृह्य सूत्रोक्त विवाह आदि संस्कार में उक्त गौ मोचन व्यवस्था समझनी चाहिये ॥ २० ॥

कुरुतेत्यधियज्ञम् । २१ । षडर्घ्यार्हा भवन्ति । २२ । आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति।२३।

'अधियज्ञम्' यज्ञम् अधिकृत्य आदेशवचनं तु 'कुरुत' बद्धायाः तस्याः गाः आलभनम् 'इति' एव । २१ । अर्हणीयपरिगणनम्–अर्घ्यार्हाः अर्घ्यप्राप्तियोग्याः 'षट्' एव भवन्ति। २२ । के ते ? इत्याह,–'आचार्यः' कल्पादिसहितसमग्रवेदाध्यापकः, 'ऋत्विक्' होत्रादीना मन्यतमः, 'स्नातकः' कृतसमावर्त्तनाङ्गस्नानः, 'राजा' अभिषिक्तो राज्ये, 'विवाह्यः' विवाहं कर्त्तु मागतः, 'प्रियोऽतिथिः' विद्यादिगुणवानभ्यागतः :–इति षट् । २३ । अर्हणकालनिर्णयं करोत्याचार्यः ।

भा०–यज्ञ में–खूंटे में इसप्रकार बंधेहुए गौको मोचनार्थ पूछने पर "करो"

अर्थात् उस "गौ को बध करो" यही आदेश करना चाहिये ॥२१॥ छः व्यक्ति-मान्य वा अर्हणीय होते हैं ॥२२॥ आचार्य, ऋत्विग्, स्नातक, राजा, वर और गुणवान् अतिथि, ये छः व्यक्तिमान्य अर्हणीय हैं ॥ २३ ॥

परिसंवत्सरानर्हयेयुः । २४ । पुनर्यज्ञविवाहयोश्च पुनर्यज्ञविवाहयोश्च ॥ २५ ॥

'परिसंवत्सरान्' वीप्सायां परि; संवत्सरान् प्रतीति यावत् । तथाच प्रतितृतीयादिवर्षान्ते तानाचार्यादीनर्हणीयान् 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः शिष्यादय इति । २४ । संवत्सरत्रयमध्येऽप्याह । यज्ञे विवाहे च समागतान् तान् संवत्सरत्रयमध्ये 'पुनः' 'च' अपि अर्हयेयुरित्येव । द्विर्वचन मध्यायसमाप्तिसूचकमिति शम् । २५ ॥ १० ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके दशमस्य
खण्डस्य व्याख्यानं सामश्रमिकृतं समाप्तम् ॥ ४ । १० ॥

॥ चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

भा०—अन्यून प्रति—तीसरे वर्ष के अन्त में आचार्य आदि की पूजा करे ॥ ॥ २४ ॥ यज्ञ और विवाह के अवसर पर मान्य लोग (उक्त छः) तीन वर्षके बीच में भी (जब ज़रूरत हो) यदि आवें तो उन का यथावत् सत्कार करे॥२५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के दशम खण्ड का भाषानुवाद समाप्त हुआ । चतुर्थ प्रपाठक भी समाप्त हुआ और गोभिलगृह्यसूत्र भी समाप्त हुआ।

श्रीमान् माननीय बाबू शिवराम सिंह जी के कनिष्ट पुत्र क्षत्रियकुमार उदयनारायण सिंह (मधुरापुर डा० विद्दूपुर ज़ि० मुज़फ्फ़रपुर) कृत गोभिलगृह्यसूत्र का भाषानुवाद पूरा हुआ ।

टीकापरिशिष्टम् ॥

इह गृह्यसूत्रे यानि कानिचित् दुर्बोधपदादीनि विद्यन्ते, तेषा
मर्थादिबोधनायेदम् ।

गृह्याकर्माणि ॥ १ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च जनिष्याश्चापरे सुताः । गृह्या इति समाख्याता यजमानस्य दायकाः ॥ ३५ ॥ तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्मक्रियासु च । आचार्यविहितः कल्पस्तस्माद् गृह्या इति स्थितिः" ॥३६॥ इति गृह्यासङ्ग्रहः ।१।

एवञ्च गोभिलाचार्यप्रणीता इयं स्मृतिः 'गृह्या'—इत्युच्यते, तस्यां यानि कर्माणि वक्ष्यमाणानि, तान्येव गृह्याकर्माणि । इत्येकोऽर्थः । अपरार्थस्तु मूलेन साकमेव मुद्रितः । केचित्तु 'गृह्या'—इति कर्माणीत्यस्य विशेषणं, पृथक् पदं, सुपांसुलुगित्यात्वेच रूप मिति मन्यन्ते, तथाच 'गृह्येऽग्नौ अनुष्ठेयानि कर्माणि' इति तृतीयोऽर्थः सम्पद्यते ।

अन्वाहार्यवन्ति ॥५॥ प्र० १ खं० १ ।

"यत् श्राद्धं कर्मणा मादौ या चान्ते दक्षिणा भवेत् । अमावास्यां द्वितीयं यत् अन्वाहार्यं तदुच्यते ॥" क० प्र० ३। अन्वाहार्यं विद्यते येषां कर्मणां तानीमानि अन्वाहार्यवन्ती—त्यर्थः । तत्रापि विशेषोऽस्ति, तथाह्युक्तं कर्मप्रदीपे—"नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्ध मिष्यते । न सोष्यन्ती—जातकर्म—प्रोषितागत-कर्मसु ॥"—इत्यादि ।

अभिरूपभोजनम् ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"यत्र विद्या च वित्तं च सत्यं धर्मः शमो दमः । अभिरूपः स विज्ञेयः स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः ॥" गृ० सं० २ । १२

अन्त्यां समिधम् ॥ ७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"आचार्येणाभ्यनुज्ञात आचार्योग्नौ विधिर्यथा । प्रणीतेऽग्नौ समिद्दद्यादन्त्या सा ब्रह्मचारिणाम् ॥" गृ० २ । १८ "नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित् स्थूलतया क्वचित् । न वियुक्तत्वचा चैव न सकीटा न पाटिता । प्रादेशान्नाधिका नोना न तथा स्याद्विशाखिका । न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता क० प्र० १ ।

अभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम् । न्यञ्चताभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरश्चावोक्षणं मतम् ॥" गृ० १ । १०३ भा०

लक्षणावृत् ॥ १० ॥ प्र० १ खं० १ ।

अबाहरणाद्यभ्युक्षणान्तं लक्षण मुच्यते, तस्य आवृत् रीति रिति । गृह्यासंग्रहे तु—"लक्षणं तत् प्रवक्ष्यामि प्रमाणं दैवतञ्च यत् ॥४७॥ XXXX तस्मात फलेन पुष्पेण पर्णेनाथ कुशेन वा । प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु कर्मसु ॥ ४८ ॥ सव्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद् दक्षिणेन तु । तावन्नोत्थापयेत् पाणिं यावदग्निं निधापयेत् ॥ ४९ ॥ प्रागग्रता पार्थिवी ज्ञेया आग्नेयी चाप्युदग्गता । प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कृता स्मृता ॥ ५० ॥ उत्करं गृह्य रेखाभ्योऽरत्निमात्रे निधापयेत् । द्वारमेकन्तु द्रव्याणां प्रागुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥५१॥ पार्थिवी चैव सौमी च लेखे द्वे द्वादशाङ्गुले । एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्ये उभे स्मृते ॥ ५२ ॥ षडङ्गुलान्तराः कार्या आग्नेयी संहितास्तु ताः । पार्थिवायास्तु रेखायास्तिस्रस्ता उत्तरोत्तराः ॥ ५३ ॥ शुक्लवर्णा पार्थिवी स्यादाग्नेयी लोहिता भवेत् । प्राजापत्या भवेत् कृष्णा नीलामैन्द्रीं विनिर्दिशेत् ॥ ५४ ॥ पीतवर्णेन सौमी स्याद्रेखाणां वर्णलक्षणम् । एष लेखविधिः प्रोक्तो गृह्यकर्मसु सर्वसु ॥ ५५ ॥ सूक्ष्मास्ता ऋजवः कार्या लेखास्ताः सुसमाहिताः ॥" ५६ ॥ १ ।

अग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"कपालैर्भिन्नपात्रैर्वा न त्वासैर्गोमयेन वा । अग्निप्रणयनं कार्यं यजमान भयावहम् ॥ ६४ ॥ अल्पः प्रणीतो विच्छिन्नोऽसमिद्धश्चापरिश्रुतः । त्वरया पुनरानीतो यजमानभयावहः ॥ ६५ ॥ तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु । अग्निप्रणयनं कुर्यात् यजमान-सुखावहम् ॥ ६६ ॥ शुभं पात्रन्तु कांस्यं स्यात् तेनाग्निं प्रणयेद् बुधः । तस्याभावे शरावेण नवेनाभिमुखञ्च तम् ॥"६७॥ गृ०सं० १ ।

अग्निसमाधानम् ॥ १४ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक् । (१) अन्त्या समिद्, (२) विवाहश्च, (३) विभागः, (४) परमेष्ठिनः ॥" गृ० सं० १ । ७६ गोभिलीयानान्तु त्रयएव कालाः । विभागकालस्तु गौतमीयानाम् ।

मथित्वा ॥ १७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

अरणिद्वयमिति शेषः । अरणिद्वयलक्षणं त्वेवम्,—"अश्वत्थो यः शमीगर्भः

प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा वोदीची वोर्ध्वगापि वा । अरणिस्तन्मयी प्रोक्ता, तन्मय्येवोत्तरारणिः" ॥ इत्यादि क० प्र० १ "देवयोनिः स विज्ञेयस्तत्र मथ्यो हुताशनः ।" गृ० सं० १ । ८०

उदिते, अनुदिते ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"रेखामात्रं तु दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितम् । उदयं तं विजानीयात् होमं कुर्याद् विचक्षणः ॥" गृ० सं० १ । ७५ "रात्रेः षोडशमे भागे ग्रहनक्षत्रभूषिते । अनुदयं विजानीयाद्धोमं तत्र प्रकल्पयेत् ॥" गृ० सं० १ । ७३ समयाध्युषितकालेऽपि होमो मन्वादिभिरुपदिष्टः, परं न तत्कौथुमानाम्, गोभिलानुक्तेः । तत्काललक्षणं त्वेवम्,—"ततः प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रविबिम्बं न दृश्येत समयाध्युषितं स्मृतम् ॥" गृ० सं १ । ७४

यज्ञोपवीतम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० २ ।

'त्रिवृदूर्ध्वं वृतं कार्यं तन्तुत्रय मधोवृतम् । त्रिवृतञ्चोपवीतं स्यात् तस्यैका ग्रन्थिरिष्यते ॥' क० प्र० १ "यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम् * * * * । द्विगुणं त्रिगुणं वापि एकग्रन्थिकृतं विदुः ॥" गृ० सं० १।४८—५१ ॥

जुहुयात्, कृतस्य, अकृतस्य ॥ ६ ॥ प्र० १ खं ३ ।

"होमपात्र मनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः । पाणिरेवेतरस्मिंस्तु स्रुचा चात्र न हूयते ॥" क० प्र० १ "यवव्रीह्यकृतं ज्ञेयं तण्डुलादि कृताकृतम् । ओदनं तु कृतं विद्यात् न तस्य करणं पुनः ॥" गृ० सं० १।९३ ॥

चरुस्थाल्या, स्रुवेण ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० २ ।

"तिर्यगूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढ़ा नातिबृहन्मुखी । मृन्मय्यौडुम्बरी वापि चरुस्थाली प्रशस्यते ॥" क० प्र० २ "खादिरो वाथ पार्णो वा द्विवितस्तिः स्रुवः स्मृतः । स्रुक् बाहुमात्रा विज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः ॥ स्रुवाग्रे घ्राणवत् खातं द्व्यङ्गुष्ठपरिमण्डलम् । जुह्वाः शराववत् खातं, स्रुचश्चार्द्धं षडङ्गुलम् ॥" क० प्र० १

अपराजितायां ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० २ ।

प्रक्रमणे तथोद्वाहे होमेष्विष्टकृते तथा । यस्यां दिशि विधिं प्राहुस्तामाहुरपराजिताम् ॥" गृ० सं० २।७८ ॥

उपांशु ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

"शनैरुच्चारयेन्मन्त्र मीषदोष्ठौ प्रचालयन् । किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ॥" म०

अतिथिभिः ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

एकरात्रं हि निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥" मनुः ३।१०२ ॥

फलीकरणानाम्, आचामस्य ॥ ३१ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

"कण्डुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकङ्कुशाः ॥" गृ० भा० "ओदनाग्रद्रवं प्राहुराचामं हि मनीषिणः ॥" गृ० भा० ॥

सन्ध्यां उपवसन् ॥ ३ ॥ प्र० १ खं ५ ।

"अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः । सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥" उपवासदिनकर्त्तव्यताकर्त्तव्यते स्वयमेवोक्ते "उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम् ॥" इति च स्मृत्यन्तरम् ।

पूर्णः ॥ १०, ११ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

"राकामध्यगतश्चन्द्रः पूर्ण इत्यभिधीयते" ।

स्थण्डिलं,इध्मान् ,मेक्षणम्, औपवसथिकम् ॥१३-१६ प्र०१खं५ ।

"वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थण्डिलचत्वरे ।" इत्यमरः । "प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम् ।" क० प्र० २ ॥

"इध्मः सन्नहनादानं चरुश्रपण मेव च । तूष्णी मेतानि कुर्वीत समस्तञ्चेध्म माददेत् ॥" गृ० सं० १ । १०२ "इध्मजातीय मिध्मार्द्धप्रमाणं मेक्षणं भवेत् । वृत्तञ्चाङ्गुष्ठपृथ्वग्र मवदानक्रियाक्षमम् ॥ एषैव दर्वी यस्तत्र विशेषस्त महं ब्रुवे । दर्वी द्व्यङ्गुलपृथ्वग्रा तुरीयोनन्तु मेक्षणम्"—इति क० प्र० २

औपवसथिकं नाश्नाति—इत्यादि ॥ १-९ ॥ प्र० १ । खं० ६ ।

उपवासदिननियमितखाद्यमौपवसथिकमित्यर्थः । तच्चोक्तं,—"लवणं मधु मांसञ्च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत नोरुरात्री कथञ्चन ॥" क० प्र० ३ अतएवाह स्मृतिः,—"गृह्यस्थो ब्रह्मचारी च यस्त्वनश्नंस्तपश्चरेत् । प्राणाग्निहोत्र लोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः ॥"—इति, "अनड्वान् ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च ते त्रयः । अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ॥"—इति च ।

दर्भवटूम् ॥ २१ ॥ प्र० १ खं० ६ ।

"ऊर्द्ध्वकेशोभवेद् ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः । दक्षिणावर्त्तको ब्रह्मा वामावर्त्तस्तु विष्टरः ॥ कतिभिश्च कुशैर्ब्रह्मा ? कतिभि विष्टरः स्मृतः ? पञ्चा-

शुद्धिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन च विष्टरः ॥" गृ० १ । ८८, ८९ "द्विरावृत्याथ मध्ये वै अर्द्धं वृत्त्यान्त देशतः । ग्रन्थिः प्रदक्षिणावर्त्तः स ब्रह्मग्रन्थिसंज्ञकः ॥"—इति पु० "यज्ञवास्तुनि मुष्ट्याञ्च स्तम्बे दर्भवटी तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ॥"—इति च क० प्र०

उलूखलमुसले, शूर्पम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० ७

"मुसलोलूखले वार्क्षे स्वायते सुदृढे तथा । इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं वैणव मेव च ॥"—इति क० प्र० २

हविर्निर्वपति ॥ २ । ३ ॥ प्र० १ खं० ७

"चूडाकर्मणि सीमन्ते यश्च पाकः सदा गृहे । विवाहे चैव लाजानां नोक्तो निर्वपणे विधिः ॥" गृ० स० २ । ३९

अभिघार्योद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० ७

"पवित्रान्तर्हितं कृत्वा चरुं प्राज्ञोऽभिघारयेत् । उद्वास्य चैवं विधिना एवं तन्त्रं न लुप्यते । चतुर्मुष्टिश्चरुः कार्यश्चतुर्णामुत्तरोऽपि वा ॥" गृ० स० २ । ६९

परिधीन् ॥१६॥ प्र० १ खं० ७

"बाहुमात्राः परिधय ऋजवः सत्वचोऽव्रणाः । त्रयो भवन्त्यशीर्णाग्रा एकेषास्तु चतुर्दिशम् । प्रागग्रावभितः पश्चादुदगग्र मथापरम् । न्यसेत् परिधि मन्यश्च उदगग्रः स पूर्वतः ॥" क० प्र० २

प्रणीता ॥ १७ । १८ ॥ प्र० १ खं० ७

"विहितप्रतिषिद्धाञ्च प्रणीतां नोपकल्पयेत् ॥" गृ० स० १ । ९६

आज्यं, सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ॥ १९।२० प्र०१ खं०७

"अग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा । चतुर्भिरेव यत् पूतं तदाज्य मितरद्घृतम् ॥१०६। घृतं वा यदि वा तैलं, पयो वा यदि यावकम् । आज्यस्थाने नियुक्ताना माज्यशब्दो विधीयते ॥ १०७ ॥ आज्यानां सर्पिरादीनां संस्कारे विधिचोदिते । अनधिश्रयणं दध्नः शेषाणां श्रयणं स्मृतम् ॥ १०८ ॥ यथा सीमन्तिका नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता । एव माज्यस्य संस्कारः संस्कारे विधिनोदिते ॥" १०९ ॥ इति गृ० स० १ ।

पवित्रे ॥ २१-२३ ॥ प्र० १ खं० ७

"अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदल मेव च । प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥" क० प्र० १

सम्पूय, उत्पुनाति ॥ २४ ॥ प्र० १ खं० ७

"पवित्र मन्तरे कृत्वा स्थाल्या माज्यं समावपेत् । एतत् सम्पूयनं नाम पश्चादुत्पवनं स्मृतम् ॥" गृ० सं० १ । १०६

आज्यम् ॥ २६ ॥ प्र० १ खं० ७

आज्यसहित माज्यपात्र माज्यस्थाली मिति यावत् । "आज्यस्थाली च कर्त्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा । महीमयी वा कर्त्तव्या सर्वास्वाज्यहुतीषु च ॥ आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तु यथाकमं तु कारयेत् । सुदृढ़ा मव्रणां भद्रा माज्यस्थालीं प्रचक्षते ॥" क० प्र० २

उपघातम् ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ८

"पाणिना मेक्षणेनाथ स्रुवेणैव तु यद्धविः । हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स उच्यते ।" इति गृ० स० १ । १११

महाव्याहृतिभिः ॥ २ प्र० १ खं० ८

"भूराद्यास्तिस्र एवैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः" । इति क० प्र० व्रीहयः शालयो मुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः । यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः ॥"--इति क० प्र० भा० ।

सुरोत्तमेन ॥ १ ॥ प्र० २ खं० १

'सुरा'--इति निघण्टौ उदकनामसु (१ अ० १२ खं०) पाठभेदेन पञ्चविंशतितमं पद मस्ति, तदेवात्र ग्राह्य मित्याधुनिकानाम् । परं तत्र तथा निगमादर्शनात् उदकार्थस्य सुराशब्दस्याभाव एवानेकेषा मतएवात्र;--

"स्ववर्णाभिरनिन्द्याभिरद्भिरक्षतमिश्रितैः । स्नानं चतुर्भिः कलशैः स्त्रीभिः स्त्रीं यत्र प्लावनम् ॥१५॥ गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः । पाणिकर्मणि गौडी स्यात् सत्या माध्वयधमा सुराः ॥" १६ ॥ इति गृ० स० २ ।

प्राजनेन, ध्रुवणा मपां, लाजाम् ॥ १३--१६ ॥ प्र० २ खं० १

"अवसिक्तन्तु विधिना पाणिग्राहन्तु प्राजनी । रक्षणार्थ मनुगच्छेत् सप्ताहं त्र्यह मेव वा ॥" गृ० स० २ । ३५ "महानदीषु या आपः कौप्यान्याश्च ह्रदेषु च । गन्धवर्णरसैर्युक्ता ध्रुवास्ता इति निश्चयः ॥ " गृ० स० २ । २५ "अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते । भृष्टास्तु व्रीहयो लाजा घटाः खाण्डिक उच्यते ॥" क० प्र० ३

प्रपदेन ॥ ६ ॥ प्र० २ खं० २

"पादाग्रं प्रपदम्"—इत्यमरः २ । ६ । ७१ ।

प्रदक्षिणमग्निं परिणयति ॥ ४—१० ॥ प्र० २ खं० २

"लाजानाज्यं स्रुवं कुम्भं प्राजनाश्मान मेव च । प्रदक्षिणानि कुर्वीत दम्पती तु विना ग्रही ॥" गृ० स० २ । २९ 'ग्रही'—इति उदकग्राहम्प्राजनग्राहञ्च विनेत्यर्थः ।

अनुमन्त्रयते ॥ ११ ॥ प्र० २ खं० ३

"स्पृशन्ननामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि । अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सर्वदैवानुमन्त्रयेत ॥" इति क० प्र० ।

अर्घ्यम् ॥ १४ ॥ प्र० २ खं० ३

"षडर्घ्यार्हा भवन्ति"—इत्यादि वक्ष्यत्याचार्यः स्वय मेव (४ । १० । २२)

हविष्यम् ॥ १७ ॥ १ प्र० २ खं० ३

"अयुक्त मम्ललवणैरपर्युषित मेव च । हविष्य मेतदन्नाद्य मसुरैरप्यसंयुतम् ॥" गृ० स० २ । ७६

नदीः ॥ २ ॥ प्र० २ खं ४

"मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥ धनुः सहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते । न ता नदी शब्दवहा गर्त्तास्ते परिकीर्त्तिताः ॥" क० प्र० १

स्रुवसम्पातम्, ह्रासयित्वा ॥ २—६ ॥ प्र० २ खं० ५

"हुत्वाज्यं परिशेषेण यद् द्रव्य मुपकल्पितम् । स्रुवेणैव तु तत् स्पृष्टं सम्पातं चैव तं विदुः ॥" गृ० स० १ । ११४ "उद्वर्त्तनं नखच्छेदो रोमच्छेदन मेव च । स्रंसनं मेखलायाश्च ह्रासनानि विदुर्बुधाः ॥" गृ० स० २ । ३८

न्यग्रोधशुङ्गां, व्रतवती, ब्रह्मन्धूः ॥६—१२॥ प्र० २ खं ६

" लताग्रपल्लवो बुध्नः शुङ्गेति परिकीर्त्यते ।
पतिव्रता व्रतवती ब्रह्मबन्धूस्तथाश्रुतः ॥" क० प्र० ३

शलाटुग्रन्थम् ॥४॥ प्र० २ खं० ७

"शलाटु नील मित्युक्तं ग्रन्थः स्तवक उच्यते ।"—इति क० प्र० ३
"आमे फले शलाटुः स्यात्"—इत्यमरः २ । ४ । १५

दर्भपिञ्जूलीभिः, ॥५॥ प्र० २ खं० ७

"एतत्प्रमाणा मेवैके कौशी मेवार्द्रमञ्जरीम् । शुष्कां वा शीर्णं कुसुमां पिञ्जूलीं परिचक्षते ।"—क० प्र० १ 'एतत्प्रमाणां' प्रादेशप्रमाणा मिति यावत् ।

वीरतरेण, शलल्या ॥६, ८॥ प्र० २ खं० ७

"त्रिभिःश्वेतैश्च शलली, प्रोक्तो वीरतरः शरः ।" गृ० स० १ । ९५

"श्वाविच्छलाका शलली तथा वीरतरः स्मृतः ।" क० प्र० ३

कृसरः ॥९॥ प्र० २ खं० ७

"तिलतण्डुलसम्पक्कः कृसरः सोऽभिधीयते ।" क० प्र० ३

कपुष्णिकां, कपुच्छलम् ॥१८, १९॥ प्र० २ खं० ९

"कपुष्णिकाभितः केशा मूर्द्धिन पश्चात् कपुच्छलम् ।" इति क० प्र० ३

यथागोत्रकुलकल्पम् ॥ २५ ॥ प्र० २ खं० ९

"दक्षिणाकपर्द्दाः शिष्टा आत्रेयास्त्रिकपर्द्दिनः ।

आङ्गिरसः पञ्चचड़ा मुण्डा भृगोः शिखिनोऽन्ये ॥" गृ० सं० २ । ४०

उपनयेत् ॥१॥ प्र० २ खं० १०

"गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः ।

बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयनं विदुः ॥"—इति स्मृ०

ऐणेयरौरवाजानि ॥९॥ मुञ्जकाशताम्बल्यः ॥१०॥ प्र०२ खं०१०

"अनृचो माणवको ज्ञेयः, एणः कृष्णमृगः स्मृतः ।

रुरुर्गौरमृगः प्रोक्तः, ताम्बलः शण उच्यते ॥" क० प्र० ३

स्नानम् ॥२०॥ प्र० ३ खं० १

जलक्रीडादिपूर्वकं मज्जनमेव स्नानमिहेष्यते । "न गात्रोत्सादनं कुर्यादनापदि कथञ्चन । जलक्रिया मलङ्कारं व्रती दण्ड इवाप्लवेत् ॥" क० प्र० ३

वरः ॥ ४५ ॥ प्र० ३ खं० २

"गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते । न ततोऽन्यद् वरं यस्माद् तस्माद् गौर्वर उच्यते ॥" इति क० प्र० ३

अक्षतधानाः ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ३

"अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ताः भृष्टा धाना भवन्ति ते ।" क० प्र० ३

पक्षिणीम् ॥ ११ ॥ प्र० ३ खं० ३

"द्वावह्नावेकरात्रिश्च पक्षिणीत्यभिधीयते ।" इति शु०

निर्घाते ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ३

"यदान्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुताहतः । पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसम्भवः ॥" इति ज्यो०

शिष्टाचारः ॥ २९ ॥ प्र० ३ खं० ३

"धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥" स्मृ०

अद्भुते ॥ ३० ॥ प्र० ३ खं० ३

"प्रकृतिविरुद्ध मद्भुत मापदः प्राक् प्रबोधाय देवाः सृजन्ति" इत्याथर्वणम्

अनग्निका ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

"नग्निकां तु वदेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् । ऋतुमती त्वनग्निका, तां प्रयच्छेत्वनग्निकाम् । १७ अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी । अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना च नग्निका । १८ व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् । पयोधरैस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्त्तितः । १९ तस्माद्व्यञ्जनोपेता अरजा अपयोधरा । अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥" २० इति गृ० सं० २ ।

मनुरपि—"देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः ।"—९, ९५

विलयनम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ६

"दध्यर्द्धमथितं सर्वं तद्धि विलयनं स्मृतम् ।" इति गृ० भा० सप्तमखण्डे—

प्रक्रमे ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ७

"संसक्तपदविन्यासस्त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः । स्मार्त्ते कर्मणि सर्वत्र श्रौते त्वध्वर्युचोदितः ॥" इति गृ० भा०

कपालम् ॥ ७ ॥ प्र० ३ खं० ७

"कपालं मृण्मयं पात्रं चक्राघटित मुच्यते । आसुरं चक्रघटितं दैवे पैत्रे च वर्जयेत् ॥" इति गृ० सं० २ । ७८ भा०

न्यञ्चौ पाणी ॥ १७ ॥ प्र० ३ खं० ७

"दक्षिणं वामतो वाह्य मात्माभिमुख मेव च । करं करस्य कुर्वीत करणे न्यञ्चकर्मणः ॥" क० प्र० २

स्थालीपाकवृतान्यत् ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ७

"स्थालीपाकावृतान्यत्तु यत्र संज्ञा निपात्यते । तत्राज्यभागौ हुत्वैव स्रुच मास्तीर्यावद्यति ॥" गृ० सं० १ । ११५

पृषातके पायसश्चरुः ॥ १ ॥ प्र० ३ खं० ८

"पयो यदाज्यसंयुक्तं तत् पृषातक मुच्यते। दध्येके। तदुपासाद्य कर्त्तव्यः पायसश्चरुः ॥ क० प्र० ३

गोनामभिः ॥ ३ ॥ प्र० ३ खं० ८।

"काम्या प्रिया च हव्या च इडा रन्ता सरस्वती। मही विश्रुता चाघ्न्या च गोनामानि विदुर्बुधाः ॥" इति गृ० स० २। ६०

नवयज्ञे ॥ ८ ॥ प्र० ३ खं० ८।

"शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते। धान्यपाकवशादन्ये श्यामाको वनिनः स्मृतः॥ आश्वयुज्यां तथा कृष्ट्यां वास्तुकर्मणि याज्ञिकाः। यज्ञार्थतत्त्ववेत्तारो होम मेवं प्रचक्षते॥" क० प्र० ३

फलवतीम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ९।

"सफला वदरीशाखा फलवत्यभिधीयते।" क० प्र० ३

जातशिलासु ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं ९।

"घना विकसिताशङ्काः स्मृता जातशिलास्तु ताः।" क० प्र० ३

स्वस्तरम् ॥ १२ ॥ प्र० ३ खं० ९।

"स्वस्तरे सर्व मासाद्य यथा यदुपयुज्यते। दैवपूर्वं ततः श्राद्धं सत्वरः शुचिरारभेत्॥" क० प्र० २ "पारिभाषिक एव स्यात् कालो गोवाजियज्ञयोः। अन्य स्यानुपदेशात्तु स्वस्तरारोहणस्य च गृ० स०

अपूपाम्, त्रैयम्बकप्रमाणान्॥८, १०॥ प्र० ३ खं० १०।

"त्रैयम्बकं करतल मपूपा मण्डकाः स्मृताः।" क० प्र० ३

उल्मुकेन ॥ १८ ॥ प्र० ३ खं० १०।

"अङ्गारोऽलात मुल्मुकम्"—इत्यमरः २, ९, ३०।

स्रोतांसि ॥ २५ ॥ प्र० ३ खं १०।

"सप्त तावन्मूर्द्धन्यानि तथा स्तनचतुष्टयम्। नाभिः श्रोणिरपानञ्च गोः स्रोतांसि चतुर्द्दश॥" क० प्र० ३
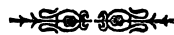
सर्वाङ्गेभ्यः ॥ १ ॥ प्र० ४ खं० १।

"हृज्जिह्वाक्रोडसक्थीनि यकृद्वृक्कौ गुदं स्तनाः। श्रोणिः स्कन्धसटा पार्श्वे पश्वङ्गानि प्रचक्षते॥

एकादशाना मङ्गाना मवदानानि सङ्ख्यया । पार्श्वस्य वृक्कसक्थ्नोश्च छित्वा-
दाहुश्चतुर्दश ॥" क० प्र० ३

वृषीम् ॥ १५ ॥ प्र० ४ खं० २ ।

"वृषीं कुर्यादुदङ्मुखीम्" ०गृ सं १ । ३८ काष्ठासनमित्यर्थः । "शङ्कुश्चैवो-
पवेशश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते" गृ० स० १ । ८४ । वृष्यपरपर्याय उपवेशः इति
नारायणोपाध्यायः ।

स्थगरम् ॥ १७–२० ॥ प्र० ४ खं० २ ।

"स्थगरं सुरभि ज्ञेयं चन्दनादि विलेपनम् ।" क० प्र० २ ।

पूर्वस्यां कर्ष्वाम् ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"पुरतो यात्मनः कर्षूः सा पूर्वा परिकीर्त्त्यते । मध्यमा दक्षिणेनास्यास्त-
द्दक्षिणात उत्तमा ॥ क० प्र० २ ।

एवमेवेतरयोः ॥ ९ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"पितुरुत्तरकर्ष्वन्ते मध्यमे मध्यमस्य तु । दक्षिणे तत्पितुश्चैव पिण्डान्
पर्वणि निवपेत् ॥" क० प्र० २ ।

पिण्डम् ॥ १० ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

पिण्डप्रमाणं त्वाह "पिण्डान् दत्वा विल्वप्रमाणकान् ।" क० प्र० १

वृद्धिपूर्त्तेषु ॥ ३४ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"वृद्धिः पुरुषसंस्कारः"—इत्येव भट्टभाष्यम् । "वापीकूपतडागादि देवताय-
तनानि च , अन्नप्रदान मारामाः पूर्त्त मित्यभिधीयते ॥" जातूकर्णः ।

गोलकानां ॥ २५ प्र० ४ खं० ४ ।

"पालाशा गोलकाश्चैव" क० प्र० ३ ।

परिसमूहेत् ॥ ५ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"कृत्वाग्न्यभिमुखौ पाणी स्वस्थानस्थौ सुसंयतौ । प्रदक्षिणं तथासीनः कु-
र्यात् परिसमूहनम् ॥" क० प्र० २ ।

वैरूपाक्षः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"विरूपाक्षोऽसि—इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ४, ५

प्रपदः ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"तपश्च तेजश्च"—इति मन्त्र । म० ब्रा० २, ४, ६

अविदासिनि ॥ २६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"मध्ये स्थण्डिल मन्ते च वारिणा परिसंवृतम्। अविदासिनं ह्रदं विद्यात्तादृशं कर्मणो विदुः॥" इति गृ० स० २-१२

उपतिष्ठेत ॥ २८ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"तदसंसक्तपार्ष्णिर्वा एकपादर्द्धपादपि। कुर्यात् कृताञ्जलिर्वापि ऊर्द्ध्वबाहुरथापि वा॥" भ० भा०।

परिविष्यमाणे ॥ २९ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः। मालाभाः व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु स स्मृतः॥–इति भरत–धृत–साहसाङ्क।

आचितशतकामः ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

"सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽक्षे कुरुविस्तस्तु तत्पले। तुला स्त्रियां पलशतं भारः स्याद् विंशतिस्तुलाः। आचितो दश भाराः स्युः शाकटो भार आचितः॥" इति अमरकोशे २, ९, ८७ ॥

व्रीहिकांसौदनं, कणान् ॥ १२ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

"द्रोणः स्यात् कांसमानकः" व्रीहीणां कांसं व्रीहिकांसम्, तस्य ओदनं भक्तं व्रीहिकांसौदनम्, तम्। "कञ्चुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकक्कुशाः।"गृ० भा० ॥

अनुषरम्, अमरुपरिहितम्, अकिलिनम् ॥८॥ प्र०४खं०७ ।

"उर्वरा सर्वसस्याढ्या स्यादूषः क्षारमृत्तिका। ऊषवानूषरो द्वावप्यन्यलिङ्गौ स्थलं स्थली॥" अ० को० २,१,५, "किलिनं सजलं प्रोक्तं दूरखातदको मरुः।"क० प्र० ३

दर्भसम्मितम् ॥९॥ प्र० ४ खं० ७ ।

दर्भैः सम्मित माच्छन्नम्। अतएव गृह्यान्तरे,–"यस्मिन् कुशवीरणप्रभूतम्"

शादासम्मितं, मण्डलद्वीपसम्मितम्, सर्वतः ॥१०॥प्र०४ खं०७।

"शादा चैवेष्टका स्मृता" (क० प्र० ३)। तथा सम्मितं तुल्यं चतुरस्त्र मिति यावत्। मण्डलं वर्त्तुलम्। "द्वीप मुन्नत माख्यातम्" (क० प्र० ३)। तत्सम्मितं तत्तुल्य मिति। "दिशाश्च विदिशाश्चैव यत्र नोक्ता विचारणा। सर्वतस्तत्र शब्दोऽयं विधियोगे निपात्यते॥" गृ० स० १।९६ ॥

इन्द्राय, पितृभ्यः ॥ २६–३३ ॥ प्र०४ ख० ७ ।

"अमुष्मै नम इत्येवं बलिदानं विधीयते। बलिदानप्रदानार्थं नमस्कारः कृतो यतः॥"–इति, "स्वधाकारेण निनयेत् पित्र्यं बलि मतः सदा।" –इति च विशेषोपदेशात् "इन्द्राय नमः"–इत्यादि "पितृभ्यः स्वधा"–इति च बोध्यम्।

एकाक्षर्याम् ॥ ८ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"आकूतिं देवीं मनसा प्रपद्ये (म० ब्रा० २,६,९)"—इत्येतस्मिन् मन्त्रे "एक मक्षरम्" —इति दर्शनादय मेव मन्त्र एकाक्षरीति व्यपदिश्यतेऽत्र।

खदिरशङ्कुशतम् ॥९॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"सत्वचः शङ्कवः कार्यास्तीक्ष्णाग्रा वीतकण्टकाः । समिल्लक्षणसंयुक्तः सूचीतुल्यास्तथायताः॥" क० प्र० २ "शंकुश्चैवोपवेषश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते"। गृ० सं १। ८४

पूर्णहोमः ॥ २१ ॥ प्र० ४ खं० ८ ।

पूर्णहोमं यशसे जुहोमि (म०ब्रा०२,६,११)"—इति पूर्णशब्दान्वितमन्त्रेण होमः ।

चीवरम् प्र० ४ खं० ९ ।

"लौहचूर्णन्तु चीवरम्" क० प्र० ३

कम्बूकान् ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ९ ।

"फलीकरणकङ्कुशान्"—इति भट्टभाष्यम् । कणान्—इत्येव तन्निष्कर्षार्थइति मत्सुहृदः । तुषानित्येवास्मद्गुरुवचनम् । तदत्रार्थनिर्णये भूमिदेवाः प्रमाणम् ।

संवेशनवेलायाम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ खं० ९ ।

"स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि ।" अ० को० १, ७, ३६

विष्टरम् ॥ ४ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

"ब्रह्मविष्टरयोश्चापि सन्देहे समुपस्थिते। ऊर्द्ध्वकेशो भवेद्ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः॥८८॥ कतिभिस्तु भवेद्ब्रह्मा? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः? पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः ॥" इति गृ० स० १ । ८९॥ "यज्ञवास्तुनि मुष्ट्याञ्च स्तम्बे दर्भवटौ तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ।" क० प्र० १

अपः=पाद्यम् ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

"पादार्थमुदकं पाद्यं केवलं जल मेव तत् । तत्तैजसेन पात्रेण शङ्खेनापि निवेदयेत् ॥" गृह्यान्तरम् ।

अर्घ्यम् ॥ ११ ॥ प्र० खं० १० ।

"दध्यक्षतसुमनस आपश्चेति चतुष्टयम् । अर्घ्य एष प्रदातव्यो गृह्येये अर्घ्यार्हाः स्मृताः ॥" गृ० २ । ६२ अष्टाङ्गमर्घ्यलक्षणञ्चैवम्,—"दध्यक्षतसुमनसो घृतं सिद्धार्थका यवाः । पानीयञ्चैव दर्भाश्च अष्टाङ्गो ह्यर्घ्य उच्यते ॥" गृ०स० २।६३ "कांस्येनैवार्हणीयस्य निनयेदर्घ्यं मञ्जलौ ।" क० प्र० ३

मधुपर्कम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ खं० १० ॥

"सर्पिषा मधुना दध्ना अर्चयेदर्हयन् सदा। ऋषिप्रोक्तेन विधिना मधुपर्केण याज्ञिकः ॥६४॥ कंसे त्रितय मासिच्य कंसेन परिसंवृतम्। परिश्रितेषु देयः स्या-

न्मधुपर्क इति ध्रुवम् ॥" ॥५॥ इति गृ०स०२। "साक्षतं सुमनोयुक्त मुदकं दधिसंयुतम्। अर्घ्यं दधिमधुभ्याञ्च मधुपर्को विधीयते। कांस्यापिधानं कांस्यस्थं मधुपर्कं समर्पयेत्। क० प्र० ३ "दधनि पयसि वाथवा कृतान्ने मधुदद्यान्मधुपर्कमेतदाहुः। दधिमधुसलिलेषु सक्तवः पृथगेते विहितास्त्रयस्तु मन्थाः" इतिगृ०स०२।६८

शेषम् ॥ १६ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

पीतावशिष्टम्। नास्योच्छिष्टता; तथाहि—"मधुपर्के तथा सोमे अप्सु प्राणाहुतीषु च। अनुच्छिष्टो भवेद् विप्रो यथा वेदविदो विदुः॥६६॥ प्राणाहुतिषु सोमेषु मधुपर्के तथैव च। आस्यहोमेषु सर्वेषु नोच्छिष्टो भवति द्विजः॥६७॥—इति गृ०स०२।

आचार्यः, ऋत्विक् ॥ २३ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

"उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यञ्च त माचार्यं प्रचक्षते ॥" म० स० २। १४० "अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान्। यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥" म० स० २। १४३

—०:०—०—०—०:०—

अग्निनामानि (गृ० सं० १ प्र०)

"लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्त्तितः। अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ॥२॥ पुंसवने चान्द्रमसः शुङ्गाकर्म्मणि शोभनः। सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रागल्भो जातकर्म्मणि ॥ ३ ॥ नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा। सभ्यनामाऽथ चूडे तु व्रतादेशे समुद्भवः ॥ ४ ॥ गोदाने सूर्य्यनामा तु केशान्ते ह्यग्निरुच्यते। वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योजकः स्मृतः ॥ ५ ॥ चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे। आवसथ्ये भवो ज्ञेयो वैश्वदेवे तु पावकः ॥ ६ ॥ ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्यादीश्वरो दक्षिणे तथा। विष्णुराहवनीये तु अग्निहोत्रे त्रयोग्नयः ॥ ७ ॥ लक्षहोमे तु वह्निः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः। प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥ ८ ॥ देवानां हव्यवाहस्तु पितॄणां कव्यवाहनः। पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥ ९ ॥ पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधोऽग्निश्चाभिचारके। वश्यार्थे कामदो नाम वनदाहे तु दूतकः ॥ १० ॥ कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे। समुद्रे वाडवो ज्ञेयः क्षये संवर्त्तको भवेत् ॥ ११ ॥ एतेऽग्नयः समाख्याताः श्रावयेद् ब्राह्मणः सदा। सप्तत्रिंशतिविख्याता ज्ञातव्याश्च द्विजेन तु ॥ १२ "

इति टीकापरिशिष्टम् समाप्तम् ॥

इतिश्रीसामगाचार्यसत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्यविरचितया 'व्याख्यान'—नाम—टीकया तत्परिशिष्टेन च समन्वितं क्षत्रिय कुमारोदयनारायणसिंह कृत भाषानुवादेन च मण्डितं।

गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

गोभिलगृह्यसूत्रस्य शुद्धिपत्रम् ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१८	कुशाद्यपकर-रणानि	कुशाद्युपक-रणानि
३	२६	परिसमुह्यो	परिसमूह्यो
८	५	ऊर्द्धं	ऊर्द्ध्वं
१३	१	सू० १०—२२	सू० १०—२३
१४	१८	उपने	उठने
११	१	सू० २३—३२	सू०२४—३२
१५	१३	तत्वम्	तत्त्वम्
२०	२५	निययवाक्त्व	नियतवाक्यत्व
२२	१८	अनुनिधानम्	अनुविधानम्
२७	२०	अग्रान्द्य	अग्राह्य
२८	२९	रुद्रायरमः	रुद्रायनमः
३३	२५	सवतः	सर्वतः
३८	१५	ष्ठजुर्वा	यजुर्वा
४१	१	पवित्रान्त-हिता	पवित्रान्त-हितान्
४१	१	तण्डलान्	तण्डुलान्
४४	७	केने	केन
४७	१४	स्विष्ठकृते	स्विष्टकृते
४८	६	अभिव्वारण	अभिघारण
५४	२६	नेमित्तकेषु	नैमित्तकेषु
५८	५	अगाद्य	अगाध
५८	१२	अगाधि	अगाध
५९	१०	तृह्णीयात्	गृह्णीयात्
६५	९	नहीं	न हो
७१	१	ब्रह्मचय	ब्रह्मचर्य
७७	१५	तपि	पति
७७	३०	ऋकि	ऋक्
७८	२	गृह्	गृह्य
७९	५	विव्हरे	विचरे
८०	२१	कर्यात्	कुर्यात्
८८	२६	कारणे	करण
९५	२०	काठन	काटने
९८	१५	(दोपार	(दोपहर
९८	१८	एणेय	ऐणेय
१०५	११	द्वद्	ह्रद्
११३	१८	अथाहि	अथापि
११५	८	'वर्षन्त'	'वर्षन्तं'
१२०	८	आचाय	आचार्य
१२७	२८	सहित	सवितृ
१२८	१२	ऽवाचीनाः	ऽर्वाचीनाः
१२८	३०	स्फटयति	स्फुटयति
१२९	६	विद्यत्	विद्युत्
१३०	१८	पाठन	पाठ न
१३५	२६	सर्य	सूर्य
१४२	२३	सावघानो	सावधानो
१४५	१९	गोपु	गोषु
१४६	१७	तन्तीं	तन्त्रीं
१५७	२६	माम	मास
१५९	२८	अग्ने	अग्नेः
१६२	२१	अपुपाष्टक	अपूपाष्टक
१६४	२७	गौ की	गौ को
१६६	१	तदव	तदैव
१७२	२४	चरु	चरू
१७४	१६	यजमानस्य	यजमानस्य
१८५	१०	तत्रव	तत्रैव
१८६	२३	चहे	चूहे
१८९	१३	जपदिति	जपेदिति
१९२	२२	मन्तेष	मन्त्रेषु
१९८	१६	मनुषर	मनूषर
२०३	२५	एाध	एधि
२०६	१	एकक्षरी	एकाक्षरी
२०९	२०	मुफ	मुर्फं

आर्य्यभटीय सटीक सानुवाद । मूल्य १)

महामति पं० आर्य्यभट कुसुमपुर निवासी ने वेद के अनुकूल आर्याछन्दों में यह अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ शाके ४२१ में, बनाया था । इसी पुस्तक में पृथिवी का भ्रमण साफ २ लिखा है। इस की भूमिका में समुद्रमथन, रासलीला, आदि पुराणोक्त उपाख्यानों का विचार किया गया है । यह ग्रन्थ आज तक हिन्दुस्तान में नहीं छपा था हम ने इस को जर्मन देश से मंगवाकर मूल तथा पं० परमेश्वर कृत् टीका और भाषानुवाद सहित छपवाया है ॥ मूल्य १) है ।

सूर्यसिद्धान्त भाषाटीका और बृहद्भूमिका सहित मू० १॥)

यह ग्रन्थ-सिद्धान्त ज्योतिष के उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्राचीन सर्व-मान्य है । भारतवर्ष में ज्योतिष के अनुसार पञ्चांग आदि बनने तथा गणित आदि सिद्धान्त ज्योतिष के विषय सम्बन्धी विवाद होने पर-इसी ग्रन्थ का प्रामाण्य माना जाता है । आज तक इस अमूल्य ज्योतिष के ऊपर ऐसा अपूर्व विचार नहीं किया गया था । इस की भूमिका के १५० पृष्ठों में प्रायः संस्कृत ज्योतिष, अंगरेजी आदि ज्योतिष, वेद, ब्राह्मणादि पुस्तकों से भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र का गौरव सिद्ध किया गया है । केवल इस एक ही पुस्तक के पढ़ने से विना गुरु प्रायः ज्योतिष के विषयों का ज्ञाता हो सकता है ॥

गौतमीय न्यायशास्त्र सभाष्य सानुवाद—मूल्य ३॥)

वेद, उपवेद और वेद के छः अङ्गों के रक्षार्थ-हमारे ऋषियों ने-छः उपाङ्ग स्वरूप-छः दर्शन शास्त्र रचे हैं । इन दर्शनों में (अपने २ तरीके पर) वेदोक्त सत्य सनातन धर्म को युक्ति तथा प्रमाणों से बड़े २ नास्तिकों के आक्षेपों का उत्तर देकर-हमारे वेदोक्त धर्म की रक्षा कियी गयी है । इन छः दर्शनों में से सब से अधिक हमारे गौतम ऋषि ने चार्वाक, बौध, आर्हत, जैन आदि मतों का अकाट्य उत्तर दिया है । इस दर्शन में एक बड़ी विल-क्षणता यह है कि इस का ठीक २ समझ लेने पर, शास्त्रार्थ वा बहस की रीति खूब मालूम हो जाती है और चाहे कैसा भी प्रबल नास्तिक क्यों न हो इस शास्त्र के जानने वाले के सामने नहीं ठहर सकता । इस न्याय विद्या को "तर्क," मन्तिक़ या Logic कहते हैं । गौतम मुनि कृत् ५३० सूत्रों पर वात्स्याय-यन मुनिकृत् संस्कृत भाष्य तथा अत्युत्तम सरल भाषानुवाद, स्थान २ पर उपयुक्त टिप्पणी दियी गयी है। और यह प्रति १३ शुद्ध प्रतियों से मिला कर अत्यन्त शुद्ध छापी गयी है । इस में एक और विशेषता है कि इस की भूमिका में आस्तिक और नास्तिक दर्शनों पर युक्ति और प्रमाणों द्वारा विचार लिखा गया है और-छः दर्शनों का परस्पर विरोधाभास- के भ्रम को दूर किया गया है ।

पता-उदयनारायणसिंह-शास्त्रप्रकाश कार्य्यालय

मधुरापुर, विद्दूपुर, मुज़फ्फरपुर ।